ओ३म्

ऋग्वेद-ज्योति

लेखक

आचार्य डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार, विद्यामार्तण्ड

समर्पण शोध संस्थान

साहिबाबाद (गाजियाबाद)

ओ३म्

ऋग्वेद-ज्योति

ऋग्वेद के दो सौ मन्त्रों की सजीव व्याख्या
विस्तृत भूमिका सहित

लेखक
आचार्य डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार, विद्यामार्तण्ड
पूर्व उपकुलपति एवं संस्कृतविभागाध्यक्ष
गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, महर्षि दयानन्द वैदिक शोधपीठ
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

प्रकाशक
समर्पण शोध संस्थान
साहिबाबाद (गाजियाबाद)

प्रकाशकीय

मेरे लिए विक्रम सम्वत् २०६५ का महाशिवरात्री पर्व या ऐसा भी कह सकते हैं कि ई० सन् २००० जिसे लोग भूल से २१००वीं सदी का आरम्भ वर्ष कहते हैं गौरव का विषय है। सत्यार्थ प्रकाश न्यास उदयपुर की प्रबन्धकतृ सभा ने यह निश्चय किया कि इस बार न्यास के वार्षिकोत्सव पर स्वामी दीक्षानन्द का सम्मान किया जाए। मैं आरम्भ से ही **वेद, आर्यसमाज** और **दयानन्द** के प्रति समर्पित हूँ और गुरुवर्य से जो परम्परा में प्राप्त हुआ है उसे उन्हीं के शब्दों में दोहराना चाहता हूँ—

बार-बार नर जीवन पाऊँ, बार-बार बलिदान चढ़ाऊँ।
ऋण तो भी मुझसे ऋषि तेरा, जावे नहीं चुकाया॥

इसी मन्त्र को लक्ष्य में रख मैं निर्विवाद रूप से जैसा मुझसे बन पड़ता है अपनी वक्तृत्व शक्ति, लेखन शक्ति और प्रकाशन-शक्ति के आधार पर वेद एवं आर्यसमाज की सेवा में अहर्निश लगा रहता हूँ। इसके लिए किसी के साक्षी की आवश्यकता नहीं है, मेरी आत्मा और परमात्मा दो ही साक्षी हैं। गीतोक्त भगवान् श्रीकृष्ण का यह वाक्य—**न हि कल्याणकृत कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।** प्रिय सखा अर्जुन! कल्याण की कामना से किया हुआ कोई भी कार्य दुर्गति को प्राप्त नहीं होता, सुगति ही सुगति प्राप्त होती है।

मेरा संकल्प

पिछले वर्ष न्यास के महोत्सव पर मुझे सम्मानित करने की घोषणा की गई तभी मैंने निश्चय कर लिया कि इस बार भरपूर लेखन और प्रकाशन का काम करूँगा, अतः मैंने इस वर्ष १५ ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। आपके हाथ में जो ग्रन्थ वर्त्तमान है वह विद्वद्वर्य वैदिक वाङ्मय के पारदर्शी विद्वान् श्री रामनाथ जी वेदालङ्कार द्वारा लिखित ऋग्वेद-ज्योति है। पण्डितवर्य ने अपने प्राक्कथन में मेरे प्रति हार्दिक आभार व्यक्त किया है। मैं तो इसे संस्थान का गौरव मानता हूँ कि उन जैसे विद्वान् के ग्रन्थों को प्रकाशन कर संस्थान गौरवान्वित होता है।

ऋग्वेद-ज्योति

ऋग्वेद-ज्योति के रचयिता लेखक ने जहाँ दो सौ मन्त्रों की भावभीनी व्याख्या की है वहाँ विस्तृत भूमिका लिखकर विज्ञ पाठकों के लिए ज्योति-स्तम्भ खड़ा कर दिया है। इसकी विशेषता पाठक को गहन अध्ययन करने पर ही पता चल सकेगी और उसकी यह प्रार्थना **तमसो मा ज्योतिर्गमय** सार्थक सिद्ध होगी। आर्य सदा से ही ज्योति का उपासक रहा है, अपने सामने सदा ज्योति को रखता है उसके लिए वेद में कहा है—**आर्याज्योतिरग्राः**[१] आर्य

१. —ऋ० ७.३३.७

वह है कि जो ज्योति को सामने रखता है। जैसे ही प्राची दिशा में उदित सूर्य को सम्मुख रख चल पड़ता है तो अन्धकार स्वत: ही पीठ पीछे हो जाता है। मानो उसकी **अग्ने नय सुपथा राये**[1] प्रार्थना सफल होती है। तब वह सोल्लास अग्नि से प्रार्थना करता है—**अग्ने प्रथमं मे रथं कृधि** हे अग्ने! मेरे रथ को आगे ले चलो। आप सदा से आगे हो। आपका पुत्र कहलाने का अधिकारी मैं पुत्र पीछे कैसे रहूँ। आपकी कृपा से मैं मानव देह-रूप ज्योति के रथ पर सवार हूँ और इस मन्त्र-सूक्ति को आचरण में ला सार्थक कर दिखाना चाहता हूँ—**ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवोवर्ष्माणं वसते स्वस्तये**[2]। मैं न केवलमात्र ज्योति को ही रखूँगा, न केवल ज्योति के रथ पर ही सवार होऊँगा, अपितु आपके दिए हुए **ज्योतिष्मतः पथो रक्ष**[3] आदेशानुसार ज्योतिष्मान् पथों की रक्षा कर नई राहें बना दूँगा। प्रिय पाठक-वृन्द! ऋग्वेद-ज्योति को सामने रखें, ज्योति की तरंग रूप लहरियों पर सवार हो उड़ान भरें और अपने पीछे ज्योति की लीक छोड़ते चले जाएँ, जिससे कि पीछे आनेवाले अन्धकार में भटक न जाएँ। बस, ऋग्वेद-ज्योति को सामने रखें।

आर्याः ज्योतिरग्रा—ज्योतिरथा—ज्योतिष्मतः प्रथो रक्ष।

ग्रन्थ के प्रकाशन के बारे में मैं क्या कहूँ, वह स्वयं मुँह बोलती तस्वीर है इसके लिए भगवती लेज़र प्रिंट्स के अधिपति विजय बन्धुओं को सस्नेह आशीर्वाद, वे भ्राताद्वय द्रव्य धन से बढ़ें और धर्म धन से भी बढ़ें।

अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्य्येषु।

विदुषां वशंवदः

—दीक्षानन्द सरस्वती

---

१. ऋ० १.१८९.१

२. ऋ० १०.६३.४

३. ऋ० १०.५३.६

प्राक्कथन

वेद भारतीय हृदय और मस्तिष्क के प्रेरणास्रोत रहे हैं। यों तो भारतीयों की चिन्तना में समय-समय पर अनेक धाराएँ आकर मिलती रही हैं, परन्तु वह मूल धारा वेद से ही प्रस्फुटित हुई है, जिसमें अध्यात्म भी है, लोक-जीवन भी है; श्रेय भी है, प्रेय भी है; धर्म भी है, अर्थ भी है; मोक्ष भी है, सकामता भी है; तपःसाधना भी है, संयत विलास भी है; शान्ति भी है, क्रान्ति भी है; प्रेम भी है, शत्रु-मर्दन भी है; उल्लास भी है, उद्वेग भी है; असीम के प्रति प्रयाण भी है, सीमा-बन्धन भी है; श्रद्धा भी है, मेधा भी है; रस भी है, रूक्षता भी है; वीरता भी है, विनय भी है; भक्तियोग भी है, कर्मयोग भी है; दृढ़ता भी है, नम्रता भी है; त्याग भी है, भोग भी है; भिक्षुत्व भी है; राजस्व भी है; निष्कामता भी है, एषणा भी है, सौहार्द भी है; विद्रोह भी है। कहने का तात्पर्य यह कि वैदिक विचारधारा की धरोहर भारतीय चिन्तन के कण-कण में व्याप्त है, भारतीय भूमिका की रज-रज में ओतप्रोत है।

ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, स्मृतिग्रन्थ, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, यहाँ तक कि भारतीय काव्य-चेतना भी वेदों से ही प्रभावित है। वेदों की ही वर्णव्यवस्था, आश्रमव्यवस्था, राजव्यवस्था को मनु ने लिपिबद्ध किया है। वेद के ही काव्यालङ्कारों की चमत्कारिता को संस्कृत काव्यकारों ने पल्लवित किया है। वेद के ही अध्यात्म गीतों को आज के मनीषी कवि ने नूतन छवि में उभारा है। वेद भारतीय चेतना का प्राण है, वेद भारतीय कलेवर की आत्मा है, वेद भारतीय आत्मा की जागृति है, वेद भारतीय आस्था की ज्योति है, वेद भारतीय जीवन का रस है।

वेद हम क्यों पढ़ें? वेद हमें परम चेतन की झाँकी देते हैं। वेद हमें 'मैं क्या हूँ?' का परिचय कराते हैं। वेद हमें आत्मा की अमरता का सन्देश देते हैं। वेद हमें शरीर की भङ्गुरता अनुभव कराते हैं। वेद हमें उन्नति के सोपान पर आरोहण करने की प्रेरणा देते हैं। वेद हमें सर्वभूतमैत्री और सहृदयता का अमृत पिलाते हैं। वेद हमें हाहाकार और चीत्कार को शान्ति में बदलने का मन्त्र पढ़ाते हैं। वेद हमारे अन्दर अन्याय और अत्याचार को न सहने का बीजारोपण करते हैं। वेद हमारे मनों में विजय की उमङ्ग उत्पन्न करते हैं। वेद हमें साम, दान, भेद से न मानने वाले शत्रु को दण्डित करने का उद्बोधन देते हैं। वेद हमें शत्रु को मित्र बनाना सिखाते हैं। वेद हमारे कटु जीवन में रस घोलते हैं। वेद हमें जगत् में रहना सिखाते हैं।

नारद ने सनत्कुमार के पास पहुँचकर निवेदन किया कि भगवन्! मुझे अपनी शरण में लेकर विद्या पढ़ाइए। सनत्कुमार ने पूछा—पहले क्या पढ़े हो? नारद ने उत्तर दिया—भगवन्! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, व्याकरणशास्त्र, पितृविद्या, गणितविद्या, दैवविद्या, निधिविद्या, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविज्ञान, देवजनविद्या और गन्धर्वविद्या का पुस्तकीय ज्ञान मैंने पाया है। सो मैं मन्त्रवित् हूँ, आत्मवित् नहीं। मैंने सुना है कि जो आत्मवित् होता है, वह शोक के पार हो जाता है। मैं भी शोक-सागर में गोते खा रहा हूँ, मुझे आत्मवित् बनाकर शोक से पार

कीजिए।

छान्दोग्य उपनिषद्, प्रपाठक ७ की यह कथा लम्बी है। पर इससे इतना तो पता लगता ही है कि चारों वेद और विविध विद्याएँ पढ़ लेने के बाद भी असन्तुष्टि और ज्ञान की भूख बनी रह सकती है।

असल में वेद को यदि ऊपरी सतह से नहीं, प्रत्युत गहरे में पैठकर पढ़ा गया है, तो उसका एक निश्चित परिणाम होना चाहिए अध्यात्म की ओर प्रवृत्ति या अन्तर्मुखता। वह अध्यात्म-प्रवृत्ति या अन्तर्मुखता तब आती है जब पाठक वेद के गहन अर्थ को आत्मसात् कर लेता है, वेद के प्रवाह में बहने लगता है, वेद की ऋचा गुनगुनाते हुए वेदार्थ में तन्मय हो जाता है, वेद के सुर में अपने जीवन का सुर मिलाकर आचारवान् हो जाता है। शास्त्रकारों ने कहा है कि जो वेदार्थ का ज्ञाता है, वह सकल भद्र को पा लेता है—**योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते** (निरु० १.१७)। पर वेद तो इससे आगे बढ़कर कहता है कि जिसने वेद की ऋचाएँ पढ़कर भी उनके प्रतिपाद्य अक्षर ब्रह्म को नहीं जाना, नहीं पाया, नहीं अनुभव किया, उसे ऋचा पढ़ने से क्या लाभ—**यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति** (ऋ० १.१६४.३९)। स्थूल वेदार्थ के पीछे हम आन्तर वेदार्थ को देख सकें, इसी उद्देश्य से यह वेदव्याख्याग्रन्थ लिखा गया है। अन्तर-ब्रह्म की अनुभूति तब होती है, जब पहले बाह्य भद्र लोक की अनुभूति हो जाए। इसीलिए इस सङ्कलन में लौकिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार के मन्त्र हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण की कथा है कि भरद्वाज ने तीन आयुएँ वेदाध्ययन में व्यतीत कर दीं। जब वह वृद्ध और जर्जर हो गया, तब इन्द्र ने प्रकट होकर उससे पूछा कि यदि मैं तुम्हें चौथी आयु भी दे दूँ, तो तुम उसमें क्या करोगे? भरद्वाज ने उत्तर दिया—वेद ही पढ़ूँगा। तब इन्द्र ने उसका समर्थन करते हुए उसके सम्मुख विशाल पर्वत खड़े करके कहा—देखो, ये वेद हैं। तुमने तीन आयुओं में जितना पढ़ा है, वह इनमें से मुट्ठीभर के समान है। वेद तो अनन्त हैं—**अनन्ता वै वेदाः** (तै० ३.१०.११.३)। वेद सचमुच अनन्त हैं, उनके एक-एक शब्द में इतना कुछ भरा हुआ है कि एक ही शब्द पर घण्टों चिन्तन किया जा सकता है। फिर अध्यात्म, अधिदैवत, अधियज्ञ, अधिभूत आदि वेदार्थपद्धतियाँ भी एक-एक ऋचा को विविध पक्षों में घटाकर एक से अनेक बना देती हैं। अतः वैदिक ऋचाओं पर जितना भी लिखा जाए, वह सागर में बिन्दु के समान अल्प ही है।

इस विस्तीर्ण वेदराशि में से प्रस्तुत सङ्कलन में केवल ऋग्वेद के २०० मन्त्रों की व्याख्या है। मन्त्रों के चयन में विविधता का ध्यान रखा गया है और व्याख्या में मन्त्रगत आशय को पूर्णतः प्रस्फुटित करने का प्रयास किया गया है। व्याख्या प्रवाहमयी है, उसे बार-बार आनन्द लेते हुए पढ़ा जा सकता है। यदि ऋचा में मन रम गया है, तो भावविभोर होकर जितनी बार भी पढ़ेंगे अधिकाधिक रस मिलेगा। प्रथम प्रत्येक ऋचा का एक आकर्षक शीर्षक दिया है, जिससे प्रतिपाद्य विषय की झाँकी मिल जाती है। फिर सस्वर ऋचा लिखकर उसके ऋषि, देवता और छन्द का निर्देश है। फिर कोष्ठक में संस्कृत शब्द देते हुए मन्त्रार्थ है; तदनन्तर व्याख्या। यथास्थान ऊपर अङ्क देकर नीचे आवश्यक टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं।

भूमिका में वेदों के संक्षिप्त सामान्य विवेचन के पश्चात् ऋग्वेद के प्रतिपाद्य पर प्रकाश डाला गया है, जिसमें ऋग्वेद के प्रमुख सूक्तों एवं विषयों का वर्णन आ गया है। तदनन्तर

इस सङ्कलन में जिन देवताओं के मन्त्र व्याख्यात हैं, उन देवताओं के स्वरूप-वैविध्य, कार्यों आदि पर प्रकाश डाला गया है। देवताओं को अकारादि क्रम से लिया गया है। अन्त में ऋग्वेद में प्रयुक्त उदात्त, अनुदात्त आदि स्वरों पर विवेचन है, जिससे पाठकों को वैदिक स्वरशास्त्र का भी सामान्य परिचय हो सके। भूमिका में ऋषि, देवता, छन्द पर विचार करने का प्रलोभन हमने संवरण किया है। इनका विवेचन हम 'वेदमञ्जरी' तथा 'सामवेदभाष्य' की भूमिका में दे चुके हैं।

वेद की चार सरस तरङ्गिणियाँ प्रवाहित होती हुई मानव को निमन्त्रित कर रही हैं कि वह आकर उनके ज्ञान-सलिल में गोते लगाये, स्नान करे, जलक्रीड़ा करे। आइये, आज हम ऋग्वेद की तरंगिणी में तैरें, स्नान करें, विद्यावारि से स्वयं को सींचें और उससे प्रफुल्लता एवं पवित्रता प्राप्त करें। ऋग्वेद-भास्कर की निर्मल किरणें हमें आप्लावित कर रही हैं। आइये, इनसे ज्योति प्राप्त करें।

प्रस्तुत वेदव्याख्याग्रन्थ के प्रकाशनार्थ जब मैंने स्वामी दीक्षानन्द जी सरस्वती से निवेदन किया तब उन्होंने इसे 'समर्पण शोध संस्थान' की ओर से प्रकाशित करना सहर्ष स्वीकार कर लिया। इससे पूर्व वे इसी संस्थान से मेरे द्वारा लिखित वेदमञ्जरी, वैदिक नारी, आर्ष ज्योति और दो जिल्दों में सामवेद का विस्तृत संस्कृत-आर्यभाषाभाष्य प्रकाशित कर चुके हैं, जिनका वेदप्रेमियों ने अच्छा स्वागत किया है। श्री स्वामी जी के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। आशा है इनके द्वारा प्रकाशित प्रस्तुत ग्रन्थ को भी वेदानुरागी जनों का आशीर्वाद प्राप्त होगा।

अपने पी-एच०डी० के शोधप्रबन्ध में मुझसे निर्देशन प्राप्त करने के निमित्त से वेदमन्दिर-आश्रम में निवास करती हुई पुत्री सुखदा तथा मैत्रेयी ने वेदव्याख्या की मुद्रणार्थ शुद्ध प्रति लिखकर सहयोग दिया है। तदर्थ उन्हें मेरा हार्दिक आशीर्वाद है।

वेदमन्दिर
ज्वालापुर (हरिद्वार)
१३ अप्रैल, १९९६

रामनाथ वेदालङ्कार

भूमिका

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चार वेद कहलाते हैं। कालक्रम से इनकी बहुत-सी शाखाएँ भी प्रचलित हो गयीं। पातञ्जल महाभाष्य के पस्पशाह्निक में ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १००० तथा अथर्ववेद की ९ शाखाओं की चर्चा की गयी है।[१] ये सब मिलकर संख्या में ११३१ होती हैं। इनमें से अनेक शाखाएँ लुप्त हो गयीं। सम्प्रति ऋग्वेद एक ही प्रकार का उपलब्ध है। उसके पदपाठ आदि पर शाकल्य आचार्य ने श्रम किया था, इस कारण यह शाकल ऋग्वेद कहलाता है। यजुर्वेद शुक्ल और कृष्ण भेद से दो प्रकार का मिलता है। वाजसनेयी शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व तथा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक और कठ कापिष्ठल संहिताएँ इस समय प्राप्त हैं। सामवेद तीन प्रकार का उपलब्ध है—कौथुम, राणायनीय तथा जैमिनीय। अथर्ववेद की शौनकीय एवं पैप्पलाद शाखाएँ मिलती हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार ऋग्वेद की शाकल संहिता, यजुर्वेद की वाजसनेयी माध्यन्दिन शुक्ल संहिता, सामवेद की कौथुम एवं राणायनीय[२] संहिता तथा अथर्ववेद की शौनक संहिता ही प्रामाणिक वेद हैं। इन चार मूल वेदों को महाभाष्योक्त ११३१ शाखाओं में से निकाल देने पर शाखाओं की संख्या ११२७ रहती है। कुछ विद्वान् शाखाओं, ब्राह्मणग्रन्थों एवं उपनिषदों को भी वेद के अन्तर्गत मानते हैं, परन्तु स्वामी दयानन्द ने शाखाओं, ब्राह्मणग्रन्थों एवं उपनिषदों को वेदों का व्याख्यान माना है तथा वेद संज्ञा केवल चार संहिताओं की ही स्वीकार की है।

ऋग्वेद की मन्त्रसंख्या कात्यायनीय सर्वानुक्रमणी के अनुसार १०५५२, वाजसनेयी माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद की १९७५, सामवेद (कौथुम एवं राणायनीय) की १८७५ और अथर्ववेद (शौनकीय) की ५९८७ है। इस प्रकार चारों वेदों में कुल मन्त्र २०३८९ होते हैं।

ऋग्वेद-वर्णित विषय

ऋग्वेद में विभिन्न नामों से एक ईश्वर की उपासना, वर्णव्यवस्था, आश्रम-मर्यादा, यज्ञ, धनसमृद्धि, दान, परोपकार, राजनीति, उद्बोधन, वीरता, राक्षससंहार, न्याय एवं दण्ड-नीति, विद्याध्ययन, वृष्टि, सिंचाई, कृषि, व्यापार, श्रद्धा, अलक्ष्मीनिवारण, रोगमुक्ति, दीर्घायुष्य, सङ्गठन आदि का वर्णन मिलता है। एक सूक्त (१०.८५) में सोम और सूर्या के विवाह के रूपक द्वारा विवाह एवं गृहस्थ के आदर्शों का चित्रण किया गया है। देवजान-सूक्त (१०.७२), पुरुष-सूक्त (१०.९०), प्रजापति-सूक्त (१०.१२१) नासदीय-सूक्त (१०.१२९),

---

१. ''एकविंशतिधा वाह्वृच्यम्, एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, नवधाऽऽथर्वणो वेदः।'' पं० सत्यव्रत सामश्रमी आदि विद्वानों का विचार है कि अनेक गानप्रकार होने के कारण सामवेद को सहस्रवर्त्मा कहा गया है, न कि सहस्र शाखाएँ होने के कारण।

२. सामवेद की राणायनीय एवं कौथुम संहिताओं में मुख्य भेद विभाजन का है। कौथुम के पूर्वार्चिक में प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, दशति एवं मन्त्रों का क्रम है, तो राणायनीय के पूर्वार्चिक में अध्याय, खण्ड एवं मन्त्रों का। इसी प्रकार कौथुम के उत्तरार्चिक में प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, सूक्त एवं मन्त्रों का क्रम है, तो राणायनीय के उत्तरार्चिक में अध्याय, खण्ड, सूक्त एवं मन्त्रों का विभाजन है।

सवितृ-सूक्त (१०.१४९) आदि में सृष्ट्युत्पत्ति-सम्बन्धी गूढ़ दार्शनिक चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। परमात्मा, जीवात्मा, मन, प्राण, शरीर आदि के रहस्यों का भी उद्घाटन मिलता है।

कतिपय संवादसूक्त इस वेद की विशेष संपत्ति हैं, यथा—अगस्त्य-लोपामुद्रा-संवाद (१.१७९), विश्वामित्र-नदी-संवाद (३.३३), पुरूरवा-उर्वशी-संवाद (१०.९५), सरमा-पणि-संवाद (१०.१०८)। ये संवाद-सूक्त[१] संवादात्मक शैली द्वारा विविध शिक्षाएँ प्रदान करते हैं। कतिपय दान-स्तुतियाँ[२] भी ऋग्वेद की प्रतिपाद्यविषय-शृङ्खला की महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं। कात्यायन ने अपनी सर्वानुक्रमणी में स्वनय, भावयव्य, चायमान अभ्यावर्ती, सुदास पैजवन, विभिन्दु, पाकस्थामा कौरयाण, कुरंग, चित्र आदि २२ राजाओं की दानस्तुतियों का उल्लेख किया है। ये काल्पनिक राजा हैं, जो योगार्थ के द्वारा राजाओं के किन्हीं गुणों को सूचित करते हुए उनके दान के कर्त्तव्य को बताते हैं। इनके अतिरिक्त भी ऋग्वेद में कुछ सामान्य दानस्तुति-सम्बन्धी सूक्त हैं, जैसे दशम मण्डल का दक्षिणा-सूक्त (१०.१०७), तथा धनान्नदानप्रशंसा-सूक्त (१०.११७)।

ऋग्वेद में कुछ चामत्कारिक पहेलियाँ[३] भी पायी जाती हैं, जो अपूर्व काव्यशोभा के साथ विविध रहस्यों का प्रतिपादन करती हैं। उदाहरणार्थ, निम्न ऋचा में दो पक्षियों के वर्णन द्वारा ईश्वर-जीव का रहस्य-विचार मिलता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥ —ऋ० १.१६४.२०

पहेलियों के लिए ऋग्वेद के १.९५, १.१०५, १.१६४, १०.२७-२८, १०.५५, १०.११४ सूक्त विशेष द्रष्टव्य हैं।

ऋग्वेद के अग्नि-सूक्तों में आग्नेय ऊर्जा, सूर्य, सविता आदि के सूक्तों में सौर ऊर्जा एवं वैश्वानर, पर्जन्य, आपः आदि के सूक्तों में विद्युत्-ऊर्जा का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। विद्युत् एवं सौर ऊर्जा का प्रयोग पर्यावरण-प्रदूषण की रोकथाम के लिए कारगार वैदिक उपाय है।

ऋग्वेद का **ओषधि-सूक्त** (१०.९७) ओषधियों के वर्गीकरण एवं वैद्य तथा रोगी के आदर्श मनोबल को सूचित करता है, जिसमें भिषक् का लक्षण किया गया है—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः॥ —ऋ० १०.९७.६

अर्थात् जैसे राजा लोग समिति में व्यवस्थित होकर बैठते हैं, वैसे ही जिसके पास ओषधियाँ गुण-धर्मों के अनुसार व्यवस्थित रहती हैं, वह रोगकृमिरूप राक्षसों का हन्ता तथा रोगों को समूल नष्ट करनेवाला ज्ञानी ब्राह्मण भिषक् (वैद्य) कहलाता है।

१,२,३. संवाद-सूक्तों, दान-स्तुतियों तथा पहेलियों के परिचयार्थ द्रष्टव्य लेखक का शोध-प्रबन्ध 'वेदों की वर्णन-शैलियाँ', अध्याय क्रमशः २,१,४, सन् १९७६, श्रद्धानन्द शोधसंस्थान, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय।

मण्डूक-सूक्त (७.१०३) में वृष्टि-गान करनेवाले मेढ़कों के वर्णन के साथ-साथ वेद-गान करनेवाले वटुकों का काव्यमय वर्णन अतिशय चमत्कारी है, जिसकी प्रथम ऋचा इस प्रकार है—

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः॥

कवि तुलसीदास की चौपाई 'दादुर धुनि चहुँ ओर सुनाई, वेद पढ़त जनु वटु-समुदाई' में उक्त ऋचा की ही छाया प्रतिबिम्बित हो रही है। पर्जन्य-सूक्त (५.८३) सुरम्य वृष्टि-गान के रूप में आदृत है।

जहाँ ऋग्वेद अग्नि, उषा, सूर्य, अरण्य, समुद्र, नदी आदि के प्रकृतिचित्रण की दृष्टि से एक अद्भुत काव्य है; इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, आत्मा, परमात्मा के रहस्य को प्रस्फुटित करनेवाला एक अध्यात्म ग्रन्थ है; आदर्श समाज एवं उन्नत राष्ट्र को रेखित करनेवाला एक रेखाङ्कन है; वहीं विविध विद्याओं का दिग्दर्शन करनेवाला एक ज्ञानभण्डार भी है।

यह ऋग्वेद की एक अति संक्षिप्त झाँकी प्रस्तुत की गयी है। ऋग्वेद-वर्णित देवों को हम आगे पृथक् दे रहे हैं।

देव-देवियों का वर्णन

ऋग्वेद का प्रधान विषय, जिसने इस वेद के बहुत बड़े भाग को व्याप्त किया हुआ है, देव-देवियों का चित्रण है। वैदिक देव मुख्यतः तीन श्रेणियों में विभक्त होते हैं—

१. **एकल देव**—जो वेद में अकेले-अकेले अपनी स्वतन्त्र स्थिति रखते हुए वर्णित हुए हैं। इनमें प्रधानतः अग्नि, जातवेदस्, वैश्वानर, द्रविणोदस्, वायु, वरुण, रुद्र, इन्द्र, पर्जन्य, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, क्षेत्रपति, वास्तोष्पति, वाचस्पति, यम, मित्र, सरस्वान्, विश्वकर्मन्, तार्क्ष्य, मन्यु, दधिक्रा, सविता त्वष्टा, वात, वेन, इन्दु, प्रजापति, श्येन, सोम, चन्द्रमस्, विश्वानर, धाता, विधाता, सविता, भग, सूर्य, पूषन्, विष्णु, केशी, वृषाकपि, यम, अज एकपात्, समुद्र तथा कतिपय अन्य देव आते हैं।

२. **युगल देव**—जो नित्य युगल रूप में वर्णित हुए हैं, यथा—अश्विनौ, रोदसी (द्यावापृथिवी)। अथवा जो दो एकल देवों के योग से युगल रूप में चर्चित हुए हैं, यथा—इन्द्राग्नी, अग्नीषोमौ, इन्द्रावरुणौ, इन्द्राब्रह्मणस्पती, इन्द्राविष्णू, इन्द्रवायू, मित्रावरुणौ आदि।

३. **देवगण**—जो गण के रूप में बहुवचनान्त वर्णित हुए हैं, यथा—मरुतः, ऋभवः, अङ्गिरसः, पितरः, अथर्वाणः, भृगवः, वसवः, रुद्राः, आदित्याः।

स्त्री देवियाँ

उक्त पुरुष देवों के अतिरिक्त कतिपय स्त्री देवियाँ भी ऋग्वेद में वर्णित हैं। यथा—अदिति, इडा, सरस्वती, मही (या भारती), पृथिवी, द्यौः, रात्रिः, आपः अनुमति, राका, सिनीवाली, कुहू, यमी, उर्वशी, इन्द्राणी, शची, गौरी, सूर्या, वृषाकपायी, सरण्यू, अग्नायी, वरुणानी, रोदसी (रुद्रस्य पत्नी), असुनीति आदि।

निरुक्तकार यास्क ने वैदिक देव-देवियों का त्रिधा वर्गीकरण पृथिवीस्थानीय,

अन्तरिक्षस्थानीय एवं द्यु-स्थानीय के रूप में किया है। इन पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ को व्यापक रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए, जो अध्यात्म, अधिदैवत, अधिभूत (सामाजिक), अधिदेह आदि सभी क्षेत्रों में घटित हो सकते हैं।

ऋग्वेदवर्णित देवों के आध्यात्मिक अर्थ परमात्मा, जीवात्मा, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि एवं शरीरावयवों के पक्ष में, अधिदैवत अर्थ सूर्य, चन्द्र, वायु, बादल, आग, विद्युत्, जल, नदी, पर्वत, वन, समुद्र, सरोवर, झरने, स्रोत, ज्वालामुखी, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र आदि के पक्ष में और अधिभूत या सामाजिक अर्थ राष्ट्रपति, राजा, प्रधानमन्त्री, सेनापति, सैनिक, ब्राह्मण, संन्यासी, आचार्य, उपदेशक, अध्यापक, क्षत्रिय, वैश्य, चिकित्सक, वैज्ञानिक, इंजीनियर आदि के पक्ष में किये जा सकते हैं। इसी प्रकार स्त्री देवियों को विदुषी नारी के पक्ष में व्याख्यात किया जा सकता है।

अब हम प्रस्तुत ग्रन्थ में जिन देवों या देवियों से सम्बद्ध एक या अधिक ऋचाओं की व्याख्या की गयी है, उन देव-देवियों का संक्षिप्त परिचय उपस्थित कर रहे हैं।

१. अग्नि

अग्नि वैदिक देवों में एक प्रमुख देव है। ऋग्वेद और सामवेद का आरम्भ ही अग्नि से होता है। शेष दोनों वेदों में भी अग्नि उपेक्षित नहीं हुआ है। ऋग्वेद में अष्टम तथा नवम मण्डलों को छोड़कर शेष सब मण्डल अग्नि से ही प्रारम्भ होते हैं। अग्नि के सूक्त ऋग्वेद में सामान्य 'अग्नि' के अतिरिक्त वैश्वानर अग्नि, जातवेदस् अग्नि, द्रविणोदस् अग्नि, अपांनपात् अग्नि आदि नामों से भी आते हैं। अग्नि शब्द की निष्पत्ति यास्काचार्य ने अग्र या अङ्ग पूर्वक णीञ् प्रापणे धातु से मानी है[१]। उणादि सूत्र गत्यर्थक अगि धातु से नि प्रत्यय करता है[२]। वेद के अग्नि शब्द से भौतिक यज्ञाग्नि, शिल्पाग्नि, परमात्मा, जीवात्मा, क्षत्रिय राजा, सेनापति, पुरोहित, न्यायाधीश, वैद्य आदि अर्थ गृहीत होते हैं। यहाँ कतिपय अर्थों में एक-एक मन्त्र अर्थसहित प्रस्तुत किया जा रहा है।

परमेश्वर

वि यो रजांस्यमिमीत सुक्रतुर्वैश्वानरो वि दिवो रोचना कविः।
परि यो विश्वा भुवनानि पप्रथेऽदब्धो गोपा अमृतस्य रक्षिता॥

—ऋ० ६.७.७

देवता—**वैश्वानरोऽग्निः**। (**यः**) जिस (**सुक्रतुः**) सुकर्मा (**वैश्वानरः**) सर्वनायक एवं सर्वनरहितकारी परमेश्वर ने (**रजांसि**) लोकों को (**वि अमिमीत**) विनिर्मित किया है, उसी (**कविः**) मेधावी एवं क्रान्तद्रष्टा परमेश्वर ने (**दिवः**) द्यौ लोक के (**रोचना**) चमकीले नक्षत्रों को (**वि अमिमीत**) विनिर्मित किया है। (**यः**) जिसने (**विश्वा भुवनानि**) सब भुवनों को (**परि पप्रथे**) चारों ओर विस्तीर्ण किया है, वह (**अदब्धः**) अहिंसित, अपराजित, (**गोपाः**) इन्द्रियरूप गौओं का पालक और (**अमृतस्य रक्षिता**) अमर जीवात्मा का रक्षक है।

---

१. अग्निरग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति सन्नममानः। —निरु० ७.१४

२. अङ्गेर्नलोपश्च उ० ४.५१। अगि गतौ, नि, धातु के इदित् होने से नुम् का आगम, नुम् के न् का लोप।

जीवात्मा

स नु वस्त्राण्यध पेशनानि वसानो अग्निर्नाभा पृथिव्याः।
अरुषो जातः पद इळायाः पुरोहितो राजन् यक्षीह देवान्॥ —ऋ० १०.१.६

देवता—अग्निः। (**सः अरुषः अग्निः**) वह आरोचमान जीवात्मा (**वस्त्राणि**) त्वचारूप वस्त्रों को (**अध**) और (**पेशनानि**) देहावयवों को (**वसानः**) धारण करता हुआ (**पृथिव्याः**) पार्थिव काया के (**नाभा**) मध्य में (**इळायाः पदे**) माता के गर्भ में (**जातः**) पैदा होता है। (**राजन्**) हे दीप्तिमान् जीवात्मा, तू (**पुरोहितः**) जीवनयज्ञ का पुरोहित बनकर (**इह**) इस देह में (**देवान्**) इन्द्रियरूप देवों को (**यक्षि**) परस्पर सङ्गत कर।

मन

ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः।
विश्वे देवाः समनसः सकेता एकं क्रतुमभि वि यन्ति साधु॥ —ऋ० ६.९.५

देवता—वैश्वानरः अग्निः। (**पतयत्सु अन्तः**) गतिमान्, क्रियाशील मनुष्यों के अन्दर (**दृशये**) ज्ञान-दर्शन के लिए (**ध्रुवं ज्योतिः**) स्थिर ज्योति (**जविष्ठं मनः**) सर्वाधिक वेगवान् मन (**निहितम्**) निहित है। (**विश्वे देवाः**) सब विद्वज्जन (**समनसः**) मन से युक्त होकर, (**सकेताः**) ज्ञानयुक्त होकर (**एकं क्रतुम्**) एक विचार को (**साधु**) सम्यक् प्रकार से (**अभि वि यन्ति**) पूर्ण करते हैं।

प्राण

अग्ने नेमिरराँइव देवाँस्त्वं परिभूरसि। आ राधश्चित्रमृञ्जसे॥ —ऋ० ५.१३.६

देवता—अग्निः। **प्राणो वा अग्निः**—शत० ९.५.१.६८। (**अग्ने**) हे प्राण, (**नेमिः अरान् इव**) जैसे रथचक्र की परिधि अरों के चारों ओर रहती है ऐसे ही (**त्वम्**) तू (**देवान् परिभूः असि**) ज्ञानेन्द्रियों को चारों ओर से घेरे हुए है, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ तुझ प्राण के सहारे ही स्थित हैं। तू (**चित्रं राधः**) अद्भुत आध्यात्मिक ऐश्वर्य (**आ ऋञ्जसे**) प्रदान करता है।

राजा

त्वद्विप्रो जायते वाज्यग्ने त्वद्वीरासो अभिमातिषाहः।
वैश्वानर त्वमस्मासु धेहि वसूनि राजन्त्स्पृहयाय्याणि॥ —ऋ० ६.७.३

देवता—अग्निः वैश्वानरः। (**अग्ने**) हे अग्रनेता राजन्! (**त्वत्**) तुझसे, तेरी व्यवस्था से (**विप्रः**) ब्राह्मण (**वाजी**) ज्ञानवान् (**जायते**) होता है, (**त्वत्**) तुझसे, तेरी व्यवस्था से (**वीरासः**) वीर क्षत्रिय (**अभिमातिषाहः**) अभिमानी रिपुओं के पराजेता होते हैं। (**वैश्वानर**) हे सब नरों के हितकर्ता (**राजन्**) राजन्! (**त्वम्**) आप (**अस्मासु**) हमें (**स्पृहयाय्याणि**) स्पृहणीय (**वसूनि**) ऐश्वर्य (**धेहि**) प्रदान करो।

सेनापति

अग्ने सहस्व पृतना अभिमातीरपास्य। दुष्टरस्तरन्नरातीर्वर्चो धा यज्ञवाहसे॥
—ऋ० ३.२४.१

देवता—अग्निः। (**अग्ने**) हे सेनापति! आप (**पृतनाः**) रिपु-सेनाओं को (**सहस्व**)

पराजित करो, (**अभिमातीः**) अभिमानी शत्रुओं को (**अपास्य**) दूर खदेड़ो। (**दुष्टरः**) दुस्तर आप (**अरातीः**) अदानी वैरियों को (**तरन्**) परास्त करते हुए (**यज्ञवाहसे**) राष्ट्र सेवारूप यज्ञ के कर्ता को (**वर्चः**) तेज (**धाः**) प्रदान करो।

विद्वान् अध्यापक

वयं ते अद्य ररिमा हि काममुत्तानहस्ता नमसोपसद्य।

यजिष्ठेन मनसा यक्षि देवानस्रेधता मन्मना विप्रो अग्ने॥ —ऋ० ३.१४.५

देवता—**अग्निः**। (**अग्ने**) हे विद्वान् अध्यापक! (**वयम्**) हम (**अद्य**) आज (**उत्तानहस्ताः**) हाथ उठाये हुए (**नमसा उपसद्य**) नमस्कारपूर्वक पास पहुँचकर (**ते**) आपको (**कामम्**) पर्याप्त उपहार (**ररिम हि**) देते हैं। (**विप्रः**) मेधावी आप (**यजिष्ठेन**) अतिशय उपकारक (**मनसा**) मन और (**अस्रेधता मन्मना**) अक्षय ज्ञान के साथ (**देवान्**) हम स्तोता शिष्यों से (**यक्षि**) मेल कीजिए।

न्यायाधीश

यो नो अग्ने दुरेव आ मर्तो वधाय दाशति। तस्मान्नः पाह्यंहसः॥ —ऋ० ६.१६.३१

देवता—**अग्निः**। (**अग्ने**) हे न्यायाधीश! (**यः मर्तः**) जो मनुष्य (**वधाय**) हमारी हिंसा के लिए (**दुरेवः**) दुष्टाचरण (**नः आ दाशति**) हमें देता है अर्थात् हमारे प्रति करता है [उसे दण्ड देकर] (**तस्मात् अंहसः**) उसके उस दुष्टाचरण से (**नः पाहि**) हमें बचाओ।

संन्यासी

प्राग्नये विश्वशुचे धियन्धेऽसुरघ्ने मन्म धीतिं भरध्वम्।

भरे हविर्न बर्हिषि प्रीणानो वैश्वानराय यतये मतीनाम्॥ —ऋ० ७.१३.१

देवता—**अग्निर्वैश्वानरः**। (**मतीनाम्**) मतियों के (**विश्वशुचे**) समग्ररूप में शुद्ध करनेवाले, (**धियन्धे**) ज्ञान प्रदान करनेवाले, (**असुरघ्ने**) पापाचारियों को हतोत्साह करनेवाले (**वैश्वानराय**) सब नरों का हित करनेवाले (**यतये अग्नये**) संन्यासीरूप अग्नि के लिए (**मन्म**) मन के श्रद्धाभाव को और (**धीतिम्**) सेवा आदि कर्म को (**भरध्वम्**) धारण करो। वह संन्यासी (**बर्हिषि**) यज्ञ में (**हविः न**) हवि के समान (**भरे**) संसार-समर में (**प्रीणानः**) तृप्ति प्रदान करनेवाला है।

यज्ञाग्नि

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन्हव्या जुहोतन॥

—ऋ० ८.४४.१, मा०य० ३.१, १२.३०

देवता—**अग्निः**। हे यजमानो! (**समिधा**) समिधा से (**अग्निम्**) यज्ञाग्नि को (**दुवस्यत**) सत्कृत करो, (**घृतैः**) घृतों से (**बोधयत**) जगाओ (**अतिथिम्**) अग्निरूप अतिथि को। (**अस्मिन्**) इस अग्नि में (**हव्या**) हव्यों को (**आ जुहोतन**) आहुत करो।

शिल्पाग्नि

अग्ने सुखतमे रथे देवाँ ईळित आ वह। असि होता मनुर्हितः॥ —ऋ० १.१३.४

देवता—अग्निः। (**अग्ने**) हे विद्युद्रूप शिल्पाग्ने! तू (**सुखतमे रथे**)[१] अत्यन्त सुखदायक विमानादि यान में (**ईळितः**) प्रयुक्त किया हुआ (**देवान्**) विद्वानों को (**आ वह**) स्थानान्तर में पहुँचा। तू (**होता**) वेग को देनेवाला, और (**मनुर्हितः**) मनुष्यों के लिए हितकर (**असि**) है।

ऋग्वेद में प्रयुक्त 'अग्नि' के वाच्यार्थों में से कुछ के वेदमन्त्र हमने ऊपर अर्थसहित दिये हैं। यहाँ 'अग्नि' देव का विवेचन कुछ विस्तार से किया गया है। हमने देखा है कि वेद का अकेला 'अग्नि' ही अपने अन्दर कितने अर्थों को समेटे हुए है और अकेली 'अग्निविद्या' ही कितनी विद्याओं की प्रकाशिका बनी हुई है। आगे प्रत्येक देव का हम इतना विस्तृत विवेचन न करके अपेक्षाकृत संक्षिप्त परिचय ही प्रस्तुत करेंगे।

प्रस्तुत ग्रन्थ में अग्नि देवता की ४७ ऋचाएँ व्याख्यात की गयी हैं। इनमें अग्नि के अर्थ यथास्थान परमेश्वर, जीवात्मा, प्राण, राजा, वीर नायक, न्यायाधीश, पुरोहित, अतिथि, यज्ञाग्नि, भौतिक अग्नि एवं धर्माग्नि किये हैं। एक मन्त्र (संख्या १९६) में अग्नि की अन्योक्ति से मनुष्य को उद्बोधन माना है।

२. अदिति

ऋग्वेद में अदिति देवता की स्वतन्त्र ऋचाएँ कुल आठ हैं[२], यद्यपि प्रसङ्गवश या अन्य देवों के साथ 'अदिति' शब्द सौ से भी अधिक बार प्रयुक्त हुआ है। यास्क ने अदिति से अदीन देवमाता अर्थ ग्रहण किया है—**अदितिः अदीना देवमाता**, निरु० ४.२२। अवखण्डनार्थक 'दो' धातु अथवा क्षयार्थक 'दीङ्' धातु से दिति शब्द बनता है, जिसका अर्थ है विनश्वर। 'अ-दिति' का अर्थ है अविनश्वर। अविनश्वरी जगन्माता अदिति कहलाती है। सूर्य एवं ग्रहोपग्रहों को जन्म देनेवाली विशाल नीहारिका भी अदिति कहलाती है। ऋग्वेद में अदिति से आठ पुत्रों के जन्म का वर्णन है—

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्व१स्परि।
देवाँ उप प्रैत्सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत्॥ —ऋ० १०.७२.८

जिस अदिति (सौर नीहारिका) से हमारे सौर जगत् की उत्पत्ति हुई है उसके भूमण्डल, मङ्गल, बुध, बृहस्पति आदि सात तथा एक मार्तण्ड ये आठ पुत्र हैं।

वैदिक कोष निघण्टु में अदिति शब्द पृथिवी (१.१), वाणी (१.११) एवं गाय (२.११) के नामों में पठित है। द्विवचनान्त 'अदिती' द्यावापृथिवी के नामों में परिगणित है (३.३०)। ऋग्वेद की एक ऋचा में यह कहा गया है कि द्यौ, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, सब देव, पञ्चजन, उत्पन्न और उत्पद्यमान सब अदिति हैं—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥ —ऋ० १.८९.१०

यास्काचार्य का कथन है कि इस मन्त्र में अदिति की विभूति दर्शायी गयी है अथवा

१. (रथे) गमनहेतौ रमणसाधने विमानादौ। —दयानन्द
२. ऋ० १.८९.१०; ८.१८.४-७; ८.६६.१०-१२।

यह तात्पर्य है कि द्यौ, अन्तरिक्ष आदि सब अदीन हैं। स्वामी दयानन्द ने द्यौ, अन्तरिक्ष आदि सब अदिति शब्द के अर्थ माने हैं अर्थात् जहाँ-जहाँ वेदों में अदिति शब्द आया है, वहाँ अन्य अर्थों के अतिरिक्त प्रकरणानुसार इनमें से भी कोई अर्थ लिया जा सकता है। साथ ही स्वामी जी यह भी लिखते हैं कि ईश्वर, जीव, कारणभूत प्रकृति सभी अविनाशी होने से अदिति कहलाते हैं। यास्क ने अदिति शब्द का एक अर्थ अग्नि भी किया है— **अग्निरप्यदितिरुच्यते**, निरु० ११.२१।

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रधान देवता के रूप में अदिति का कोई मन्त्र व्याख्यात नहीं है, परन्तु मन्त्रसंख्या ४० में सोम और पूषा के साथ अदिति भी है।

३. अश्विनौ

ऋग्वेद में 'अश्विनौ' के स्वतन्त्र मन्त्र लगभग ६३२ हैं। निरुक्त के अनुसार 'अश्विनौ' व्याप्त्यर्थक अशूङ् धातु से निष्पन्न हुआ है। वे युगल 'अश्विनौ' कहलाते हैं, जिनमें से एक रस से और दूसरा ज्योति से सबको व्याप्त करता है।[१] ये युगल कौन-से हैं इस विषय में निरुक्तकार का कथन है कि कुछ आचार्यों के मत में द्यावापृथिवी, कुछ के मत में अहोरात्र और कुछ के मत में सूर्य-चन्द्रमा 'अश्विनौ' हैं, ऐतिहासिकों का मत है कि ये दो कोई पुण्यकर्मा राजा थे।[२] निरुक्तकार के अपने मतानुसार अर्धरात्रि से लेकर पौ फटने तक का काल 'अश्विनौ' का है, उनमें एक है अन्धकार का भाग, दूसरा है ज्योति का भाग, इस कारण ये युगल कहलाते हैं।[३]

स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में 'अश्विनौ' से जल-अग्नि, यजमान-ऋत्विज्, प्राण-अपान, राजा-अमात्य, राजा-प्रजा, वायु-विद्युत्, अध्यापक-उपदेशक, गुरु-शिष्य, सभाधीश-सेनाधीश, स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी आदि के युगल गृहीत किये हैं।

चिकित्सक-द्वय

अश्विनौ को ऋग्वेद में भिषग् भी कहा गया है।[४] ऐतरेय ब्राह्मण इन्हें देवों के भिषग् कहता है।[५] इनमें एक शल्य-चिकित्सक है, दूसरा ओषधि-चिकित्सक, एवं ये युगल हैं। चिकित्सा के कई कार्य ऋग्वेद में अश्वियुगल ने किये हैं। यथा—वन्ध्या गाय को दुधारु बनाना (ऋ० १.११६.२२), अविवाहित अस्वस्थ पुत्री की चिकित्सा करके उसे विवाहयोग्य स्वस्थ करना (ऋ० १.११७.७), बूढ़े च्यवान (स्वास्थ्य से च्युत) को पुनः युवा करना (ऋ० १०.३९.४), अन्धे और कृशकाय को रोगरहित करना (ऋ० १०.३९.३), युद्ध में टाँग-कटी

---

१. अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं, रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्यः। —निरु० १२.१

२. तत् कावश्विनौ ? द्यावापृथिव्यावित्येके, अहोरात्रावित्येके, सूर्याचन्द्रमसावित्येके,
राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः। —निरु० १२.१

३. तयोः काल ऊर्ध्वमर्द्धरात्रात् प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भमनु।
तमोभागो हि मध्यमः, ज्योतिर्भाग आदित्यः। —निरु० १२.१

४. युवामिद्यांहुर्भिषजां रुतस्यं चित्। —ऋ० १०.३९.३

५. अश्विनौ वै देवानां भिषजौ। —ऐ०ब्रा० १.१८

विष्पला को कृत्रिम टाँग लगाना (ऋ० १.११६.१५), अन्धे और लँगड़े का उद्धार करना (ऋ० १.११२.८)।

मधु के सौ घड़ों के प्रवाहक

अश्वियुगल वाजी अश्व के शफ (बलवान् घोड़े के सुम) से मधु के सौ घड़े प्रवाहित करते हैं—

शफादश्वस्य वाजिनो जनाय शतं कुम्भाँ असिञ्चतं मधूनाम्॥ —ऋ० १.११७.६

इस आख्यान में अश्वियुगल सूर्य और पवन हैं। वाजी अश्व है आकाश में व्याप्त बलवान् मेघ। सूर्य और पवन मेघ के सुम से अर्थात् उसके अधर भाग से मधु के सौ घड़े अर्थात् अपार मधुर वृष्टिजल प्रवाहित करते हैं।

रथचालक

अश्वियुगल कुशल रथचालक भी हैं। इनका रथ बाज के समान उड़नेवाला, वायु के समान गतिमान् और मन से भी अधिक वेगवान् है।[1] तुग्र (विपत्तिहिंसक राजा) भुज्यु (भोग्य पदार्थों के इच्छुक व्यापारी) को समुद्रमार्ग से विदेश में व्यापार के लिए भेजता है। मध्य में उसका जहाज टूट जाता है। तब विमान-चालक अश्वी-युगल विमान में बैठाकर उसे लाते हैं।[2] यह वेद का एक कल्पित आख्यान है, जो अश्वी-युगल की विमान-चालन-कला को सूचित करता है।

गृहस्थ पति-पत्नी

अश्विना वाजिनीवसू जुषेथां यज्ञमिष्टये। हंसाविव पततमा सुताँ उप॥ —ऋ० ५.७८.३

हे **(वाजिनीवसू अश्विना)** यज्ञक्रिया को धन माननेवाले पति-पत्नी, तुम दोनों **(इष्टये)** इष्ट लाभ के लिए **(यज्ञम्)** गृहस्थ-यज्ञ को **(जुषेथाम्)** सेवित करो। **(हंसौ इव)** हंस-हंसी के समान **(सुतान् उप)** पुत्र-पुत्रियों के समीप **(आ पततम्)** आओ।

स्त्री-पुरुष (प्रयाण-गीत)

अबोध्यग्निर्ज्म उदेति सूर्यो व्युषाश्चन्द्रा मह्यावो अर्चिषा।
आयुक्षातामश्विना यातवे रथं प्रासावीद्देवः सविता जगत्पृथक्॥ —ऋ० १.१५७.१

देखो, **(अग्निः अबोधि)** अग्नि जगा लिया गया है, **(ज्मः)** भूमि से, क्षितिज से **(सूर्यः उदेति)** सूर्य उदित हो रहा है। **(मही चन्द्रा उषाः)** विस्तीर्ण आह्लादक उषा **(अर्चिषा)** ज्योति से **(वि आवः)** अन्धकार का निवारण कर रही है। **(अश्विना)** हे स्त्री-पुरुषो! तुम **(यातवे)** चलने के लिए **(रथम्)** शरीर-रथ को **(आयुक्षाताम्)** नियुक्त करो। **(देवः सविता)** प्रकाशक सूर्य ने **(जगत्)** जगत् को **(पृथक्)** अलग-अलग **(प्रासावीत्)** प्रेरित या विभक्त कर दिया है, अर्थात् सूर्य-प्रकाश में जगत् की प्रत्येक वस्तु पृथक्-पृथक् भासित हो रही है।

---

१. आ वां रथो अश्विना श्येनपत्वा सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ्।
यो मर्त्यस्य मनसो जवीयान्त्रिवन्धुरो वृषणा वातरंहाः॥ —ऋ० १.११८.१

२. द्रष्टव्यः—ऋ० १.११६.३-५

राजा-न्यायाधीश

किमत्र दस्रा कृणुथः किमासाथे जनो यः कश्चिदहविर्महीयते।
अति क्रमिष्टं जुरतं पणेरसुं ज्योतिर्विप्राय कृणुतं वचस्यवे॥ —ऋ० १.१८२.३

देवता—**अश्विनौ।** (**दस्रा**) हे दर्शनीय राजा और न्यायाधीश! आप दोनों (**अत्र किं कृणुथः**) यहाँ क्या कर रहे हो? (**किम् आसाथे**) क्यों अकर्मण्य होकर बैठे हो? (**यः कश्चिद् जनः**) जो कोई जन (**अहविः**) दान न करनेवाला, राज-कर न देनेवाला होकर (**महीयते**) पूजा पा रहा है, सत्कृत हो रहा है, उसे (**अतिक्रमिष्टम्**) अतिक्रान्त कर दो। (**पणेः**) कृपण के (**असुम्**) प्राण को (**जुरतम्**) सङ्कट में डाल दो। (**वचस्यवे**) दान-वचन के इच्छुक (**विप्राय**) विप्र के लिए (**ज्योतिः कृणुतम्**) जीवन-ज्योति प्रदान करो।

प्राण-अपान

'अश्विनौ' को 'नासत्यौ' कहा गया है, जिसका एक अर्थ निरुक्त के अनुसार नासिका के छिद्रों से आने-जानेवाले प्राणापान है।[1] ये प्राण-अपान प्राणायामकर्ता को ज्योतिष्मती प्रज्ञा प्रदान करते हैं—

या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः। तामस्मे रासाथामिषम्॥ —ऋ० १.४६.६

जो ज्योतिष्मती प्रज्ञा तामसिकता को पार कराके हमारा पालन करती है, उस प्रज्ञा को हे प्राणापानो! तुम हमें प्रदान करो।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'अश्विनौ' के केवल तीन मन्त्र (संख्या १६,१६५,१७१) व्याख्यात किये गये हैं, जिनमें कृषक-दम्पती, प्राण-अपान एवं परमात्मा-जीवात्मा अर्थ लिये गये हैं।

४. आदित्याः

निरुक्त दैवत काण्ड में द्युस्थानीय देवगणों के विवेचन में सर्वप्रथम 'आदित्याः' का वर्णन है।[2] निरुक्त के नैघण्टुक काण्ड में आदित्य शब्द की निष्पत्ति के विषय में यह कहा गया है कि यह शब्द आङ् पूर्वक दा धातु से या आङ् पूर्वक दीप् धातु से बनता है। सूर्य भूमिष्ठ रसों का आदान (ग्रहण) करता है या चन्द्र आदि ज्योतियों की दीप्ति का आदान (हरण) करता है, अथवा ज्योति से आदीप्त होता है, इस कारण यह आदित्य कहलाता है, अथवा अदिति का पुत्र होने से भी उसे आदित्य कह सकते हैं।[3] वहाँ यह भी कहा है कि सूक्तभाक् रूप में आदित्य का प्रयोग ऋग्वेद में अत्यल्प है, प्रायः 'आदित्य' शब्द अदिति के पुत्रों के लिए प्रयुक्त हुआ है। अदिति के पुत्र सूर्य, मित्र, वरुण, अर्यमा, दक्ष, भग और अंश ये सात हैं। निरु० १२.३४ में अदिति के सात पुत्र मित्र, अर्यमा, भग, धाता (तुविजात), वरुण, दक्ष तथा अंश कहे गये हैं।[4] तैत्तिरीय आरण्यक, प्रपाठक १ में सात आदित्य मित्र, वरुण, धाता,

---

१. नासत्यौ चाश्विनौ।.........नासाप्रभवौ बभूवतुरिति वा। —निरु० ६.१३
२. अथातो द्युस्थाना देवगणाः। तेषामादित्याः प्रथमागामिनो भवन्ति। —निरु० १२.३४
३. आदित्यः कस्मात्? आदत्ते रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषाम्, आदीप्तो भासेति वा, अदितेः पुत्र इति वा। —निरु० २.४.१३
४. शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः (ऋ० २.२७.१)। बहुजातश्च धाता। —निरु० १२.३४

अर्यमा, अंशु, इन्द्र और विवस्वान् कहे गये हैं।[1]

किन्तु अन्यत्र ऋग्वेद में अदिति के आठ पुत्रों की चर्चा हुई है—

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्व१स्परि।
देवाँ उप प्रैत्सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत्॥ —ऋ० १०.७२.८

अदिति अर्थात् सर्जनोन्मुख नीहारिका के देह से आठ पुत्र उत्पन्न हुए। सात पुत्र तो मित्र, वरुण आदि हैं, उनके नीहारिका से अलग होने के पश्चात् बचा हुआ पिण्ड मार्ताण्ड (मार्तण्ड) है।

बहुवचनान्त 'आदित्याः' से आदित्य-रश्मियों, आदित्य-निर्मित द्वादश मासों या प्रत्येक महीने के सूर्य को पृथक् मानें तो द्वादश सूर्यों का ग्रहण होता है। आदित्य-रश्मियों के समान विद्या, तेजस्विता आदि से प्रकाशमान होने के कारण समाज में महापुरुष भी आदित्य कहाते हैं। स्वामी दयानन्द ने अड़तालीस वर्ष का ब्रह्मचर्य धारण करनेवाले पुरुष की आदित्य संज्ञा मानी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'आदित्याः' देवता के तीन मन्त्र व्याख्यात हुए हैं, जिनमें दो मन्त्रों (संख्या ३९, १२४) में हमने 'आदित्याः' से दीप्तिमान् महापुरुषों का तथा एक मन्त्र (संख्या १२३) में शत्रुनाशक वीरों का ग्रहण किया है।

५. इन्द्र

इन्द्र शब्द परमैश्वर्यार्थक 'इदि' धातु से उणादि 'रन्' प्रत्यय करके सिद्ध होता है[2]— **इन्दति परमैश्वर्यवान् भवतीति इन्द्रः।** 'इन्द्र' के निरुक्त में प्रदर्शित कई निर्वचनों में से एक यह है—**इन्दन् शत्रूणां दारयिता** (निरु० १०.९)। इसके अनुसार परमैश्वर्यार्थक 'इदि' धातु तथा विदारणार्थक 'दृ' धातु के योग से इन्द्र शब्द बना है। जो परमैश्वर्यवान् होता हुआ शत्रुओं का विदारण करता है, वह 'इन्द्र' है। इन्द्र की दो विशेषताएँ ऋग्वेद में प्रायः वर्णित हुई हैं। प्रथम विशेषता है इन्द्र का धनवान्, परमैश्वर्यवान्, धनदाता तथा धनरक्षक होना। इन्द्र धन का रक्षक है—**यो रायो३वनिर्महान्**—ऋ० १.४.१०। वह वसुओं का वसुपति है—**वसोरिन्द्रं वसुपतिम्**—ऋ० १.९.९। उसके सहस्रों दान हैं—**सहस्रं यस्य रातयः**—१.११.८। वह रयिमान् है—**रेवन्तं हि त्वा शृणोमि**—ऋ० ८.२.११। वह बहुत धनवाला तथा बहुत देनेवाला है—**तुविदेष्णं तुवीमघम्**—ऋ० ८.८१.२। वह अनश्लील दानवाला वसुदाता है—**अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि**—ऋ० ८.९९.४। वह ऐश्वर्यों का प्रथम दानी है—**त्वं दाता प्रथमो राधसामसि**—ऋ० ८.९०.२। वह भूरि-भूरि देनेवाला है—

भूरिदा भूरि देहि नो मा दभ्रं भूर्या भर। भूरि घेदिन्द्र दित्ससि॥ —ऋ० ४.३२.२०

'हे भूरि-भूरि देनेवाले! हमें भूरि दो, कम नहीं, भूरि दो। हे इन्द्र! तुम भूरि ही देना चाहते हो।'

---

१. मित्रश्च वरुणश्च धाता चार्यमा च अंशुश्च इन्द्रश्च विवस्वांश्चेत्येते।
२. ऋज्रेन्द्र० उ० २.२९ सूक्त से रन्=र। धातु के इदित् होने से नुम् का आगम।

इन्द्र श्रेष्ठ दान ही देनेवाला है—**इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि**—ऋ० २.२१.६। उसके दान भद्र हैं—**भद्रा भद्रस्य रातयः**—ऋ० १.१३२.२।

इन्द्र की दूसरी विशेषता है उसकी वीरता एवं विजयशालिता। इन्द्र का वीर्य बहुत अधिक है—**भूरि त इन्द्र वीर्यम्**—ऋ० १.५७.५। वीरता में इन्द्र से भला कौन अधिक है—**इन्द्रं को वीर्या परः**—ऋ० १.८०.१५। इन्द्र की वीरताओं का मैं बखान करता हूँ—**इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्**—ऋ० १.३२.१। वह वज्रधर, दस्युहन्ता, भीम और उग्र है—**स वज्रभृद्दस्युहा भीम उग्रः**—ऋ० १.१००.१२। वह विश्वजित् है, धनजित् है—**विश्वजिते धनजिते स्वर्जिते**—ऋ० २.२१.१। इन्द्र सदा विजयी होता है, कभी पराजित नहीं होता—**इन्द्रो जयाति न परा जयाता**—अ० ६.९८.१। इन्द्र के सहयोग से मनुष्य भी विजयी होता है—**वयं जयेम त्वया युजा**—ऋ० १.१०२.४। इन्द्र की सहायता के बिना वह विजय-लाभ नहीं कर पाता—**यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासः**—ऋ० २.१२.९।

इन्द्र दस्युओं का हन्ता है—**यो दस्योर्हन्ता**—ऋ० २.१२.१०। उसके वध्य दस्यु वृत्र, वल, अर्बुद, नमुचि, शम्बर, शुष्ण, चुमुरि, धुनि आदि हैं।

वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा—ऋ० ८.८९.३

शतक्रतु इन्द्र सौ कीलोंवाले वज्र से वृत्र का संहार करता है।

रुजदरुग्णं वि वलस्य सानुम्—ऋ० ६.३९.२

इन्द्र वलासुर के अभग्न सिर को भग्न कर देता है।

यो अर्बुदम् अव नीचा बबाधे—ऋ० २.१४.४

इन्द्र अर्बुद को नीचे पटक देता है।

वि शुष्णस्य दृंहिता ऐरयत् पुरः—ऋ० १.५१.११

इन्द्र शुष्णासुर की दृढ़ पुरियों को तोड़ डालता है।

अव गिरेर्दासं शम्बरं हन्—ऋ० ६.२६.५

इन्द्र शम्बर दस्यु को पहाड़ से धकेल कर मार देता है।

त्वं पिप्रोर्नृमणः प्रारुजः पुरः—ऋ० १.५१.५

इन्द्र पिप्रु की पुरियों को तोड़ डालता है।

निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम्—ऋ० १.५३.७

इन्द्र मायावी नमुचि को विनष्ट कर देता है।

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणम्—ऋ० १.३२.२

इन्द्र ने पर्वत पर जा छिपे अहि को मार गिराया।

निरुक्त में वृत्र शब्द आवरणार्थक वृ धातु से, विद्यमानार्थक वृतु धातु से तथा वर्धनार्थक

वृध धातु से निष्पन्न माना गया है—**वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा वर्धतेर्वा** निरु० २.१७। जो सत्कर्मों को आच्छादित करे, सत्य के सम्मुख अपनी पापमय हस्ती कायम करके डट जाए, पाप फैलाने के लिए बहुत बढ़ जाए, वह शत्रु 'वृत्र' कहाता है। **वल** का अर्थ है घेरनेवाला— वृञ् आवरणे। **अर्बुद** अरब की संख्या का वाचक है, जो असत्य पक्ष का होता हुआ भी मुकाबले के लिए एक अरब सैनिक लेकर आ डटे, वह शत्रु अर्बुद कहलाता है। अर्बुद बादल को भी कहते हैं—**अरणम् अम्बु तद्दः अर्बुदः** निरु० ३.१०। अनेक योद्धाओं को साथ लेकर जो बादल के समान फैल जाए, उसे भी अर्बुद कह सकते हैं। जो शोषण करे, वह **शुष्ण** है। मुठभेड़ करनेवाला वैरी **शम्बर** है—**शम्बयति संबध्नाति स्वात्मानं परेण यः स शम्बरः** (शम्ब संबन्धने चुरादिः)। जो सब पदार्थ दूसरों से छीनकर अपने पास भर लेने की प्रवृत्ति रखता है, वह **पिप्रु** कहलाता है—**पॄ पालनपूरणयोः, औणादिक कु प्रत्यय**। जो अपनी पकड़ से दूसरे को छूटने नहीं देता, वह **नमुचि** है—**न मुञ्चति यः परान् स नमुचिः**। हिंसक प्रवृत्ति रखनेवाले शत्रु को **अहि** कहते हैं—**आहन्ति यः सः आहिः, आहिरेव अहिः**।

इन्द्र और इन्द्र के ये शत्रु विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग हैं। अधिदैवत क्षेत्र में सूर्य इन्द्र है, वृत्र आदि उक्त शत्रु अन्धकार या बादल हैं। सूर्य अपने रश्मिरूप वज्र से इन पर विजय पाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में आत्मा इन्द्र है, वृत्र आदि शत्रु विविध पापकर्म हैं। आत्मा इन पापों को विनष्ट करके विजयलाभ करता है। अधिभूत क्षेत्र में इन्द्र है राजा या सेनापति और वृत्र आदि हैं राष्ट्र पर चढ़ाई करनेवाले बाह्य शत्रु या राष्ट्र में अपने अन्दर ही उत्पन्न हो जानेवाले उपद्रवी लोग, जिनमें आतङ्कवादी, कालाबाजारी, रिश्वतखोर आदि सम्मिलित हैं।

अग्नि के समान इन्द्र भी प्रकरणानुसार या किसी एक मन्त्र में भी श्लेषालङ्कार के सामर्थ्य से परमेश्वर, जीवात्मा, प्राण, मन, राजा, सेनाध्यक्ष आदि का वाचक हो सकता है। निम्नलिखित इन्द्र-देवताक मन्त्र में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इन्द्र के परमेश्वर, आदित्य, प्राण, विद्युद्रूप अग्नि एवं वायु इन पाँच अर्थों का सङ्केत किया है[1]—

युञ्जन्ति॑ ब्र॒ध्नम॑रु॒षं चर॑न्तं॒ परि॑ त॒स्थुषः॑। रोच॑न्ते रोच॒ना दि॒वि॥ —ऋ० १.६.१

परमेश्वर-पक्ष में—जो लोग **(ब्रध्नम्)** महान्, **(अरुषम्)** सब मर्मस्थलों में स्थित, अहिंसक, आरोचमान, **(परि तस्थुषः चरन्तम्)** चारों ओर स्थित सब स्थावर पदार्थों वा प्राणियों में व्याप्त इन्द्र परमेश्वर को **(युञ्जन्ति)** उपासनायोग द्वारा प्राप्त होते हैं, वे उसके तेज से **(रोचनाः)** प्रकाशित होकर **(दिवि)** द्योतनात्मक परमेश्वर में अवस्थित हुए **(रोचन्ते)** आनन्दित होते हैं।

सूर्य-पक्ष में—जो ग्रह-उपग्रह **(ब्रध्नम्)** महान् **(अरुषम्)** आरोचमान, **(परि तस्थुषः)** चारों ओर स्थित लोकों में **(चरन्तम्)** रश्मियों द्वारा पहुँचनेवाले सूर्यरूप इन्द्र से **(युञ्जन्ति)**

---

१. देवता—**इन्द्रः**। पदार्थे—(ब्रध्नम्) महान्तं परमेश्वरम्। शिल्पविद्यासिद्धये आदित्यमग्निं प्राणं वा। **(अरुषम्)** सर्वेषु मर्मसु सीदन्तम् अहिंसकं परमेश्वरं प्राणवायुं तथा बाह्यदेशे रूपप्रकाशकं रक्तगुणविशिष्ठम् आदित्यं वा। **अन्वये**—परमात्मानं स्वात्मनि, बाह्यदेशे सूर्यं वायुं वा युञ्जन्ति, ऋ० १.६.१ का दयानन्दभाष्य। असौ वाऽऽदित्यो ब्रध्नोऽरुषः। शत० १३.२.६.१।

सम्बन्ध करते हैं, वे (**रोचनाः**) सूर्यप्रकाश से प्रकाशित होकर (**दिवि**) आकाश में (**रोचन्ते**) चमकते हैं।

प्राण-पक्ष में—जो प्राणायामाभ्यासी मनुष्य (**ब्रध्नम्**) शारीरिक अवयवों की वृद्धि करनेवाले, (**अरुषम्**) हानि न पहुँचानेवाले, (**परि तस्थुषः**) शरीर में चारों ओर स्थित इन्द्रियगणों में (**चरन्तम्**) विचरनेवाले प्राणरूप इन्द्र से (**युञ्जन्ति**) प्राणायाम की रीति से सम्बन्ध करते हैं, वे (**रोचनाः**) तेजस्वी होकर (**दिवि**) आत्मा में (**रोचन्ते**) अध्यात्मप्रकाश से प्रकाशित होते हैं।

विद्युत्-पक्ष में—जो यन्त्रकलाविशेषज्ञ वैज्ञानिक लोग (**ब्रध्नम्**) महिमाशाली, (**अरुषम्**) आरोचमान, (**तस्थुषः परि चरन्तम्**) स्थिर विद्युत्-तार आदि में विचरण करनेवाले विद्युद्रूप इन्द्र को (**युञ्जन्ति**) विमान आदि यानों में प्रयुक्त करते हैं, वे (**रोचनाः**) बिजली से प्रकाशयुक्त होकर (**दिवि**) आकाश में यात्रा करते हुए (**रोचन्ते**) आनन्दित होते हैं।

वायु-पक्ष में—वायुविज्ञानवेत्ता जन (**ब्रध्नम्**) वृद्धि-प्रदायक, (**अ-रुषम्**) रूपरहितं, और (**तस्थुषः**) स्थावर विमान आदि को (**परि चरन्तम्**) चारों ओर उड़ानेवाले वायुरूप इन्द्र को (**युञ्जन्ति**) विमानों में प्रयुक्त करते हैं। उससे (**रोचनाः**) वे चमकीले विमान (**दिवि**) आकाश में उड़ते हुए (**रोचन्ते**) भले लगते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में इन्द्र देवता के ५७ मन्त्रों की व्याख्या हुई है, जिनमें इन्द्र से यथास्थान परमेश्वर, जीवात्मा, जननायक राजा, संन्यासी एवं वीर मनुष्य का ग्रहण किया गया है।

६. उषाः

'उषस्' निरुक्त में मध्यमस्थानीय तथा उत्तमस्थानीय देवों में व्याख्यात है, अतः इसका प्राकृतिक अर्थ मेघवर्ती विद्युत् और प्रभातकालीन उषा किया जाता है। 'उषस्' शब्द यास्क ने प्रभातकालीन उषा अर्थ में विवासनार्थक (अन्धकार-निवारणार्थक) 'उछी' धातु से एवं कान्त्यर्थक 'वश' धातु से निष्पन्न किया है।[1] मध्यमस्थानीय विद्युत् अर्थ में वे 'उषस्' में केवल विवासनार्थक 'उछी' धातु मानते हैं। प्रभातकालीन उषा रात्रि के अन्धकार का निवारण करती है और कमनीय होती है। विद्युत् मेघों को विदीर्ण कर उनका विवासन करती है, आकाश से नीचे गिराती है।

मध्यमस्थानीय उषा (विद्युत्) के सम्बन्ध में एक मन्त्र निरुक्तकार ने यह उद्धृत किया है[2]—

एतदस्या अनः शये सुसंपिष्टं विपाश्या। ससार सीं परावतः॥ —ऋ० ४.३०.११

देखो, (**अस्याः**) इस विद्युद्रूप उषा का (**एतत् अनः**) यह मेघरूप रथ (**विपाशि**) टूटे बन्धनोंवाला (**सुसंपिष्टम्**) चूर-चूर हुआ (**आ शये**) भूमि पर पड़ा हुआ है। वह विद्युत् (**परावतः**) दूर पड़े हुए इस रथ से (**ससार**) निकल भागी है।

---

१. उषाः उच्छतीति सत्याः, रात्रेः परः कालः, निरु० २.२८। उषा वष्टेः कान्तिकर्मणः, उच्छतेरितरा माध्यमिका, निरु० १२.६।

२. निरु० ११.४४।

इस ऋचा में कवि-कल्पना है कि विद्युद्रूप रानी मेघरूप रथ में बैठी हुई थी। जब रथ टूटकर नीचे गिर गया, तब रानी भी कहीं चली गयी।

ऋग्वेद में उषा को नारी, माता और श्वेत साड़ी पहने मुस्कराती युवति कहा गया है।[1] उषा के बहुत से विशेषण तथा चित्रण नारी पक्ष में घटित होते हैं, अतः समाज में 'उषा' से नारी अर्थ सूचित होता है। जैसे प्राकृतिक उषा ज्योति से जगमगाती है, वैसे ही नारी विद्या एवं सदाचार के प्रकाश से जगमग करती है।

इसके अतिरिक्त वेद की ऋचाओं में 'उषस्' से आध्यात्मिक उषा भी सूचित होती है। जैसे प्राकृतिक उषा अन्धकार को ध्वस्त करती है, ऐसे ही आध्यात्मिक उषा तामसिकता, अविद्या, हिंसा, द्वेष आदि के ताण्डव को विनष्ट करती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'उषस्' के तीन मन्त्र व्याख्यात हुए हैं, जिनमें से एक (संख्या १३) में प्राकृतिक उषा के साथ-साथ आध्यात्मिक उषा का भी ग्रहण किया गया है। दो मन्त्रों (संख्या १७,१००) में प्राकृतिक उषा के चित्रण से नारी के लिए सन्देश लिया गया है।

७. ऋभवः

ऋग्वेद में ऋभु देवताओं की स्वतन्त्र ऋचाएँ ९३ हैं। निघण्टु में 'ऋभु' का पाठ मेधावी-वाचक शब्दों में है।[2] निरुक्तकार ने 'ऋभवः' से आदित्य-रश्मियों का भी ग्रहण किया है।[3] निरुक्त में 'ऋभु' शब्द की निष्पत्ति उरु+भा, ऋत+भा, ऋत+भू से की गयी है।[4]

ऋभुओं के सम्बन्ध में प्रसिद्ध आख्यान ऋग्वेद में निम्नलिखित मिलते हैं।

चमड़े से गाय बनाना

निश्चर्मण ऋभवो गामपिंशत सं वत्सेनासृजता मातरं पुनः। —ऋ० १.११०.८

(**ऋभवः**) ऋभुओं ने (**चर्मणः**) चमड़े से (**गाम्**) गाय को (**निः अपिंशत**) बनाया, (**पुनः**) फिर (**मातरम्**) उस गाय माता को (**वत्सेन**) बछड़े से (**सम् असृजत**) संयुक्त किया।

ऋभु मेधावी वैज्ञानिक हैं। वे चमड़े से गाय बनाते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि चर्मावशेष कृश गाय को चिकित्सा द्वारा ऐसा हृष्टपुष्ट कर देते हैं कि वह बछड़ा जनकर उसे अपने थन से लगा सके। गौ का अर्थ भूमि लें तो चर्मावशेष गाय से आशय है बंजर भूमि, जो कुछ भी अन्न आदि उत्पन्न नहीं करती। ऋभुगण अर्थात् कृषिविशेषज्ञ मेधावी लोग और आदित्य-किरणें बंजर भूमि को उपजाऊ बना देती हैं, जिससे किसान-रूप बछड़ा उस भूमि के उपज-रूप दूध का पान करने लगता है।

बूढ़े माता-पिता को युवा बनाना

जिव्री युवाना पितराकृणोतन। —ऋ० १.११०.८

१. द्रष्टव्यः क्रमशः ऋ० १.९२.३, १.९२.१, १.११३.७।
२. निघं० ३.१५।
३. आदित्यरश्मयो ऽप्यृभव उच्यन्ते। —निरु० ११.१५।
४. ऋभवः उरु भान्तीति वा, ऋतेन भान्तीति वा, ऋतेन भवन्तीति वा। —निरु० ११.१३।

तुम ऋभुओं ने (**जिव्री**) वृद्ध (**पितरा**) माता-पिता को (**युवाना**) युवा (**अकृणोतन**) कर दिया।

ऋभुगण मेधावी कुशल चिकित्सकजन हैं, जो समाज के वृद्ध, क्षीणकाय, निर्बल माता-पिताओं को चिकित्सा द्वारा पुनः युवासदृश हृष्टपुष्ट कर देते हैं। ऋभु का अर्थ आदित्य-किरणें लें, तो आदित्य-किरण-चिकित्सा भी बूढ़ों को जवान बना सकती है।

एक चमस को चतुर्वय करना

उत त्यं चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्। अकर्त चतुरः पुनः॥ —ऋ० १.२०.६

(**उत**) और (**पुनः**) फिर, ऋभुओं ने (**त्वष्टुः देवस्य**) त्वष्टा देव के (**निष्कृतम्**) रचे हुए (**त्वम्**) उस (**नवं चमसम्**) नवीन चमस को (**चतुरः**) चार (**अकर्त**) कर दिया।

त्वष्टा देव आदित्य है, चमस निघण्टु में मेघवाचक शब्दों में पठित है (निघं० १.१०)। जलवाष्पीकरण की प्रक्रिया द्वारा मेघ को आदित्य बनाता है। फिर उसे ऋभुगण अर्थात् आदित्य-किरणें चारों दिशाओं में बरसाकर एक से चार कर देती हैं। ऋभु का अर्थ मेधावी विद्वान् लें, तो वे त्वष्टा परमात्मा द्वारा बनाये हुए एक कर्तव्यशास्त्र को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार में विभक्त करके प्रचारित करते हैं।

इन्द्र के लिए दो घोड़ों की रचना

य इन्द्राय वचोयुजा ततक्षुर्मनसा हरी। —ऋ० १.२०.२

(**ये**) जिन ऋभुओं ने (**इन्द्राय**) इन्द्र के लिए (**मनसा**) मन से (**वचोयुजा**) कहते ही रथ में जुड़ जानेवाले (**हरी**) दो घोड़े (**ततक्षुः**) रचे हैं।

मेधावी विद्वान् लोग (**ऋभुगण**) जीवात्माओं की उन्नत्ति के लिए ज्ञान-कर्म-रूप दो घोड़े रचते हैं। आदित्य-रश्मिरूप ऋभुगण अग्नि और पवन रूप दो घोड़ों की सृष्टि करते हैं।

बिन घोड़े-लगाम का त्रिचक्र रथ

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो३ रथस्त्रिचक्रः परि वर्तते रजः॥ —ऋ० ४.३६.१

तुम ऋभुओं के द्वारा (**अनश्वः**) बिन घोड़े का, (**अनभीशुः**) बिन लगाम का, (**त्रिचक्रः**) तीन पहिओं का (**उक्थ्यः**) प्रशंसायोग्य (**रथः**) रथ (**जातः**) बना है, जो (**रजः**) अन्तरिक्ष-लोक में (**परिवर्तते**) चक्कर काटता है।

ऋभुगण मेधावी वैज्ञानिक लोग हैं, जो बिना घोड़े-लगाम का तीन चक्रोंवाला रथ अर्थात् विमान-यान बनाते हैं, जो अन्तरिक्ष में उड़ता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'ऋभवः' का केवल एक मन्त्र (संख्या १५) व्याख्यात हुआ है, जहाँ मेधावी वैज्ञानिक अर्थ लिया गया है।

८. त्वष्टा

ऋग्वेद में 'त्वष्टा' देव की स्वतन्त्र ऋचाएँ केवल १४ हैं। 'त्वष्टृ' शब्द निरुक्त में आप्री[1] देवों के प्रसङ्ग में तथा मध्यमस्थानीय[2] देवों में व्याख्यात हुआ है। आप्री देवों के प्रसङ्ग में

१. निरु० ८.१४.१४। २. निरु० १०.३३.२१।

यास्क इसका निर्वचन एवं अर्थविचार करते हुए लिखते हैं कि यह शब्द त्वरार्थक त्वर धातु तथा व्याप्त्यर्थक अशूङ् धातु के योग से बना है, अथवा इसमें दीप्त्यर्थक 'त्विष' धातु मानी जा सकती है, अथवा यह करणार्थक 'त्वक्ष' धातु से निष्पन्न हुआ है। कुछ आचार्यों के अनुसार यह मध्यमस्थान में पठित होने से आप्री देव के रूप में भी मध्यमस्थानीय ही है, एवं उनके मत में इसका अर्थ वायु का विद्युदग्नि होता है, परन्तु शाकपूणि आचार्य का विचार है कि आप्री देवों में यह अग्नि अर्थ को देता है।[1] अन्यत्र मध्यम स्थान में पठित होने से इसके अर्थ वायु, विद्युदग्नि, प्राण आदि हो सकते हैं।

स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में त्वष्टा के अर्थ जगदीश्वर[2], विच्छेदक अग्नि, सूर्य, अविद्या-विच्छेदक विद्वान्, रोगनिवारक वैद्य, शत्रुविच्छेदक सेनापति आदि किये हैं। यह देव रूपकृत्[3] के रूप में प्रसिद्ध है।

उणादि[4] के अनुसार दीप्त्यर्थक त्विष धातु से तृन् प्रत्यय तथा धातु के इ को अ करके 'त्वष्टृ' शब्द की सिद्धि होती है। वार्तिककार[5] ने भी यही प्रकार अपनाया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'त्वष्टा' का एक ही मन्त्र (संख्या १८८) व्याख्यात हुआ है तथा इसका अर्थ ब्रह्माण्ड का शिल्पी परमेश्वर किया गया है।

९. दधिक्रा:

निघण्टु में यह शब्द अश्ववाचक नामों में पठित है (निघं० १.१४)। निरुक्त में यह शब्द मध्यमस्थानीय देवों में व्याख्यात होने से अधिदैवत प्रक्रिया में इसका अर्थ वायु, प्राण या विद्युदग्नि प्रतीत होता है। निरुक्त के नैघण्टुक काण्ड में अश्व अर्थ में इसका निर्वचन इस रूप में किया गया है—

दधिक्रा इत्येतद् दधत् क्रामतीति वा, दधत् क्रन्दतीति वा, दधदाकारी भवतीति वा।

—निरु० २.२६

अर्थात् अश्व को दधिक्रा इस कारण कहते हैं कि वह सवार को धारण करके चल पड़ता है (दध धारणे+क्रमु पादविक्षेपे), अथवा सवार को धारण करके हिनहिनाता है (दध धारणे+क्रदि आह्वाने रोदने च), अथवा सवार को धारण करके यह विशेष आकारवाला हो जाता है (दध धारणे+आकार)। उक्त निर्वचन वायु-पक्ष में भी सङ्गत हो जाते हैं। वायु भी अपने पास आनेवाले धूलिकण, जलकण आदि को साथ लेकर चल पड़ता है, किसी पदार्थ से टकराकर शब्द करता है, स्वयं नीरंग होता हुआ भी अपने अन्दर विद्यमान जल, धूलि आदि के कारण आकारवान् प्रतीत होता है।

---

१. त्वष्टा तूर्णमश्नुते इति नैरुक्ताः। त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः। त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः। माध्यमिकस्त्वष्टेत्याहुः। मध्यमे च स्थाने समाम्नातः। अग्निरिति शाकपूणिः। —निरु० ८.१४,१५।
२. त्वक्षति तनूकरोति दुःखानि, प्रलये सकलान् पदार्थान् छिनत्ति वा स जगदीश्वरः। —यजुर्भाष्य २.२४।
३. त्वष्टा वै रूपाणामीष्टे, शत० ५.४.५.८, त्वष्टा वै रूपाणामीशे। —तै० ब्रा० १.४.७.१।
४. नप्तृ नेष्टृत्वष्टृ० उ० २.९५।
५. त्विषेर्देवतायाम् अकारश्चोपधाया अनिट्त्वं च। वा०, पा० ३.२.१३५ इस वार्तिक द्वारा त्विष धातु से तृन् प्रत्यय तथा धातु की उपधा को अ।

स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में 'दधिक्राः' का अर्थ अश्व के अतिरिक्त अग्नि और राजा भी किया है। हमने प्रस्तुत संग्रह में 'दधिक्रा' का एक ही मन्त्र (संख्या ६५) व्याख्यात किया है तथा इसका अर्थ 'राज्यभार धारण करके प्रजाहितार्थ उद्यम करनेवाला राजा' लिया है।

१०. पर्जन्य

ऋग्वेद में 'पर्जन्य' के स्वतन्त्र मन्त्र कुल २१ हैं। अन्य कुछ मन्त्रों में पर्जन्य का नाम प्रासंगिक रूप से आता है। निरुक्त में मेघ अर्थ में पर्जन्य शब्द का निर्वचन करते हुए इसकी निष्पत्ति के चार प्रकार दर्शाये हैं—

पर्जन्यः तृपेराद्यन्तविपरीतस्य, तर्पयिता जन्यः। परो जेता वा।
परो जनयिता वा। प्रार्जयिता वा रसानाम्। —निरु० १०.११

१. पर्जन्य शब्द तृप् और जन्य के योग से बना है। आद्यन्त-विपर्यय के नियम से तृप् का पृत् हो जाता है। मेघ तृप्तिप्रदायक तथा जनहितकारी होता है। २. पर-पूर्वक जयार्थक जि धातु से। मेघ उत्कृष्ट विजेता होता है। ३. पर-पूर्वक उत्पत्त्यर्थक जन् धातु से। मेघ उत्कृष्ट उत्पत्तिकर्ता होता है। ४. प्र-पूर्वक अर्जनार्थक अर्ज धातु से। मेघ प्रकृष्टरूप से जल का अर्जन करनेवाला होता है।

उणादि में 'अन्य' प्रत्यय के प्रकरण में 'पर्जन्यः उ० ३.१०३' सूत्र द्वारा पर्जन्य शब्द निपातित किया गया है। वृत्तिकारों ने इसकी निष्पत्ति के कई प्रकार लिखे हैं। १. सेचनार्थक पृष् धातु से 'अन्य' प्रत्यय तथा ष् को ज्। मेघ जलसेचन करता है। २. अर्जनार्थक अर्ज धातु से 'अन्य' प्रत्यय तथा आदि में प् का आगम। मेघ जलसंचयकारी होता है। ३. पालनपूरणार्थक पृ धातु से 'अन्य' प्रत्यय, ज् का आगम। मेघ प्राणियों एवं वनस्पतियों का पालनपूरण करता है।

प्रस्तुत सङ्कलन में पर्जन्य-विषयक एक ही ऋचा (सं० ८२) व्याख्यात की गयी है। उसमें हमने पर्जन्य से मेघसदृश संन्यासी का ग्रहण किया है। पर्जन्य से उपमा देते हुए ऋग्वेद में अधीतविद्य विद्वान् को कहा गया है—

मिमीहि श्लोकमास्ये पर्जन्यइव ततनः। गाय गायत्रमुक्थ्यम्॥ —ऋ० १.३८.१४

हे विद्वन्! मुख में वेद के श्लोक गुनगुनाओ। जैसे पर्जन्य वृष्टिजल को चारों ओर फैला देता है, वैसे ही उन्हें चारों ओर प्रसारित कर दो। गेय गायत्री छन्द की ऋचाओं का गान करो।

११. पूषा

ऋग्वेद में पूषा देवता की स्वतन्त्र ऋचाएँ ७६ हैं। निरुक्त के अनुसार अधिदैवत क्षेत्र में पूषा उस आदित्य को कहते हैं, जो उदय के पश्चात् मध्याह्न से पूर्व पूर्णतः रश्मियों से पुष्ट हो जाता है—**अथ यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति** (निरु० १२.१७)। पूषा को ब्राह्मण-ग्रन्थों में अदन्तक (बिना दाँतोंवाला) कहा गया है, क्योंकि पूषासंज्ञक आदित्य की रश्मियाँ प्रखर नहीं होतीं। उणादि के अनुसार पुष्ट्यर्थक पुष, अथवा वृद्ध्यर्थक पूष धातु

से कनिन् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है (उ० १.१५९)। निघण्टु में पृथिवीवाचक शब्दों में पूषा भी परिगणित है। स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में 'पूषन्' शब्द से पुष्टिकर्ता परमेश्वर, विद्वान् मनुष्य, सभाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष, आदित्य, वैद्य, पृथिवी, प्राण, वायु आदि अर्थ गृहीत किये हैं।

वेद के अनुसार पूषा देव के रथ के धुरे को 'अज' वहन करते हैं—**आ ते रथस्य पूषन्नजा धुरं ववृत्युः** (ऋ० १०.२६.८)। पूषा का अर्थ आदित्य लें तो उसके 'अज' गतिशील रश्मियाँ हैं—**अजाः अजनाः** (निरु० ४.२५)। पूषा का अर्थ परमेश्वर लेने पर उसने ब्रह्माण्ड-रथ को अज और अजा अर्थात् अजन्मा जीवात्मा एवं प्रकृति वहन करते हैं। पूषा परमेश्वर एवं पूषा आदित्य की दो विभिन्न रूपोंवाली कृतियाँ हैं—एक चमकीला दिन और दूसरी काली रात्रि, स्वयं वह तेजस्वी एवं देदीप्यमान है—

शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि। —ऋ० ६.५८.१

पूषा परमेश्वर एवं पूषा राजा के पास एक 'ब्रह्मचोदनी आरा' अर्थात् आस्तिकता को प्रेरित करनेवाली दण्डशक्ति है, जिससे वह सबके हृदयों पर 'ओम्' के अक्षर उत्कीर्ण कर देता है—

यां पूषन्ब्रह्मचोदनीमारां बिभर्ष्याघृणे। तया समस्य हृदयमा रिख किकिरा कृणु॥
—ऋ० ६.५३.८

पूषा ऐसा सहृदय कवि है कि कृपणों के भी हृदयों पर दान के अक्षर अंकित करके उन्हें दानी बना देता है—

आ रिख किकिरा कृणु पणीनां हृदया कवे। अथेमस्मभ्यं रन्धय॥ —ऋ० ६.५३.७

पूषा की दो विशेषताएँ और हैं, एक तो वह 'पथस्पति' अर्थात् मार्गों का पहरेदार है, दूसरे वह पशुओं का रक्षक है। इन दोनों विशेषताओं के कारण राष्ट्र में यातायात एवं पशुविभाग के मन्त्री को पूषा कह सकते हैं।

प्रस्तुत सङ्कलन में पूषा के चार मन्त्र (९३,१६३,१६६,१६७) व्याख्यात हुए हैं, जिनमें परमेश्वर-परक अर्थयोजना है।

१२. बृहस्पति

ऋग्वेद में बृहस्पति देवता की ७४ ऋचाएँ हैं। इनसे अतिरिक्त वे ऋचाएँ पृथक् हैं जिनमें यह इन्द्र, वायु, मित्र, अग्नि, पूषा आदि सहचारी देवों के साथ स्तुत हुआ है। बृहत् और पति के योग से बृहस्पति शब्द सिद्ध होता है।[1] यह महान् लोकों के अधिपति या बृहती वेदवाणी के पति परमेश्वर[2] का एवं महत्त्वपूर्ण इन्द्रियादि लोकों के अधिपति जीवात्मा का वाचक है। महान् राष्ट्र का अधिपति होने से राजा और बृहती वाणी का अधिपति होने से आचार्य भी बृहस्पति कहलाता है।

---

१. 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' पा० ६.१.१५७ वार्तिक से मध्य में सुट् और बृहत् के त् का लोप।

२. बृहत्या वाचो बृहतामाकाशादीनां च पतिः स्वामी जगदीश्वरः। —द०भा०, यजुः० ४.७।

सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं यस्तुभ्यं दाशान्न तमंहो अश्नवत्।
ब्रह्मद्विषस्तपनो मन्युमीरसि बृहस्पते महि तत्ते महित्वनम्॥

—ऋ० २.२३.४

(**सुनीतिभिः**) सुनीतियों से (**नयसि**) ले चलते हो, (**त्रायसे**) रक्षित करते हो (**जनम्**) जन को। (**यः तुभ्यं दाशात्**) जो तुम्हें आत्मसमर्पण करता है (**तम्**) उसे (**अंहः**) पाप (**न अश्नवत्**) नहीं घेरता है। आप (**ब्रह्मद्विषः**) ज्ञानद्वेष्टा के (**तपनः**) संतापक और (**मन्युमीः**) उसके क्रोध को नष्ट करनेवाले (**असि**) हो। (**बृहस्पते**) हे परमेश्वर, जीवात्मन्, राजन् वा आचार्य! (**तत् ते**) वह आपकी (**महि**) महान् (**महित्वनम्**) महिमा है।

बृहस्पति वलासुर द्वारा पर्वत की गुफा में बन्द गौओं को छुड़ानेवाला है।[1] अधिदैवत में बृहस्पति महान् ज्योति का अधिपति सूर्य है, वलासुर मेघ है, गौएँ सूर्य-रश्मियाँ हैं। मेघ सूर्य-रश्मियों को अपनी गुफा में क़ैद कर लेता है। तब सूर्य उन्हें मुक्त कराता है। अध्यात्म में बृहस्पति आत्मा है, वलासुर कामक्रोधादि वृत्तियों का अधिष्ठाता दैत्य है, गौएँ सत्य की रश्मियाँ हैं। दैत्य उन्हें अपनी गुफा में बन्द कर लेता है। तब मनुष्य का आत्मा उन्हें मुक्त कराता है।

सेनापति भी बृहस्पति कहलाता है—

बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः।
प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम्॥ —ऋ० १०.१०३.४

(**बृहस्पते**) हे विशाल सेना के अधिपति सेनाध्यक्ष, (**रक्षोहा**) राक्षसों के विनाशक, (**अमित्रान् अप बाधमानः**) अमित्रों को दूर खदेड़ते हुए आप (**रथेन परि दीय**) रथ से चारों ओर आओ। (**सेनाः**) शत्रु-सेनाओं को (**प्रभञ्जन्**) प्रभग्न करते हुए, (**प्रमृणः**) मारने-कुचलनेवालों को (**युधा**) युद्ध से (**जयन्**) जीतते हुए (**अस्माकं रथानाम्**) हमारे रथों के (**अविता**) रक्षक (**एधि**) होवो।

प्रस्तुत सङ्कलन में बृहस्पति के तीन मन्त्र (३७,८०,१७७) व्याख्यात हुए हैं, जिनमें यथास्थान परमेश्वर, विशाल राष्ट्र का स्वामी राजा, जलखोजी दल का अधिपति, वृष्टियज्ञ का ब्रह्मा एवं आचार्य अर्थ लिये गए हैं।

१३. ब्रह्मणस्पति

ऋग्वेद में ब्रह्मणस्पति की स्वतन्त्र ऋचाएँ ४३ हैं। ब्रह्मन् शब्द वेद, परम ज्ञान, परम उपदेश, परम धर्म, महान् कार्य आदि का वाचक है। उसके अधिपति परमेश्वर, जीवात्मा, प्राण, राजा आदि को ब्रह्मणस्पति कहते हैं। स्वामी दयानन्द ने परमेश्वर-पक्ष में इसका योगार्थ किया है—वेद, ब्रह्माण्ड वा सकल ऐश्वर्य का स्वामी वा पालक।[2]

१. द्रष्टव्य, ऋ० १०.६७,६८।

२. (ब्रह्मणस्पतिम्) ब्रह्मणो वेदस्य ब्रह्माण्डस्य सकलैश्वर्यस्य वा स्वामिनं जगदीश्वरम् (ऋ० भाष्य ७.४१.१)। (ब्रह्मणस्पते) ब्रह्माण्डस्य पालक ईश्वर। ऋ० भाष्य १.१८.५।

ब्रह्मणस्पति का आह्वान करते हुए ऋग्वेद कहता है कि वह ऐश्वर्यवान् है, रोगहन्ता है, वसु प्राप्त करानेवाला है, पुष्टि बढ़ानेवाला है, शीघ्रकारी है।[१] यह चित्रण परमेश्वर, जीवात्मा, प्राण, राजा आदि में घटित हो जाता है। ऋग्वेद द्वितीय मण्डल के पाँच मन्त्रों के एक सूक्त में यह बताया गया है कि जिस-जिस को ब्रह्मणस्पति अपना सखा बना लेता है, उसे क्या फल प्राप्त होता है।[२] ब्रह्मणस्पति की पूजा का लाभ बताते हुए कहा गया है कि जो श्रद्धालु मनवाला होकर हवि से देवों के पिता ब्रह्मणस्पति की पूजा करता है वह जन, प्रजा, जन्म, वीर पुत्र और धन से वृद्धि पाता है।[३]

प्रस्तुत सङ्कलन में ब्रह्मणस्पति देवता का केवल एक मन्त्र (संख्या ३८) रखा गया है, जिसमें वह वरिष्ठ विद्वान् के रूप में व्याख्यात किया गया है।

१४. मरुतः

'मरुतः' नामक देव ऋग्वेद में नित्य बहुवचनान्त प्रयुक्त हुए हैं। इनकी ४२२ ऋचाएँ हैं। ये पवन, प्राण, क्षत्रिय सैनिक, ऋत्विज एवं मनुष्य अर्थों में आते हैं। निघण्टु में एकवचनान्त 'मरुत्' हिरण्य तथा रूप के वाचक नामों में पठित है (निघं० १.२, ३.७)। बहुवचनान्त 'मरुतः' ऋत्विजों के वाची नामों में आया है (निघं० ३.१८)। उणादि के अनुसार 'मृङ् प्राणत्यागे' धातु से उति प्रत्यय करके मरुत् शब्द की निष्पत्ति होती है।[४] यास्क ने मितरावी, मितरोची एवं महाद्रावी होने से इन्हें मरुत् कहा है।[५]

वीर क्षत्रिय

निरुक्त में 'मरुतः' शब्द पर ऋग्वेद का निम्न मन्त्र उद्धृत किया गया है, जो समाज में वीर क्षत्रियों के पक्ष में घटित होता है—

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः।
आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः॥

—ऋ० १.८८.१

इस मन्त्र में वीरों को ऐसे विमानों द्वारा गमनागमन करने के लिए कहा गया है, जिनमें बिजली लगी हो, जो खूब चमचमाते हों, जिनमें शस्त्रास्त्र भरे हों और जिनके पङ्ख विशाल हों। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

(मरुतः) हे वीर क्षत्रियो! तुम **(विद्युन्मद्भिः)** बिजलियोंवाले, **(स्वर्कैः)** खूब चमचमानेवाले, **(ऋष्टिमद्भिः)** शस्त्रास्त्रों से भरपूर, **(अश्वपर्णैः)** विशाल पङ्खोंवाले **(रथेभिः)** विमान-रथों से **(आयात)** आओ-जाओ। **(सुमायाः)** हे मायावी वीरो! तुम **(न)** सम्प्रति **(वर्षिष्ठया इषा)** प्रचुर अन्नों को साथ लेकर **(वयः न)** पक्षियों के समान **(पप्तत)** उड़ो।

---

१. ऋ० १.१८.२।
२. ऋ० मण्डल २, सूक्त २५।
३. ऋ० २.२६.३।
४. मृग्रोरुतिः उ० १.९४।
५. मरुतो मितराविणो वा, मितरोचिनो वा, महद् द्रवन्तीति वा। —निरु० ११.११।

क्षत्रियों के रूप में मरुतों के वीरोचित वेष का वर्णन ऋग्वेद में इस प्रकार किया गया है—

अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु रुक्मा मरुतो रथे शुभः।
अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीः॥

—ऋ० ५.५४.११

(**अंसेषु वः**) कन्धों पर तुम्हारे (**ऋष्टयः**) बन्दूकें हैं, (**पत्सु**) पैरों में (**खादयः**) फौजी बूट हैं, (**वक्षःसु**) छातियों पर (**रुक्माः**) पदसूचक चमकदार तमगे हैं। (**मरुतः**) हे वीर सैनिको! तुम (**रथेशुभः**) रथ पर शोभायमान हो। तुम (**अग्निभ्राजसः**) अग्नि के समान भ्राजमान हो। (**विद्युतः**) बिजली से चलनेवाले शस्त्र (**गभस्त्योः**) तुम्हारी भुजाओं में हैं। (**हिरण्ययीः**) सुनहरे (**शिप्राः**) शिरस्त्राण (**विततः**) कसे हुए हैं (**शीर्षसु**) सिरों पर।

मानसून पवन

वर्षा करानेवाले मानसून पवन भी मरुत् कहलाते हैं। मरुतों द्वारा वर्षा किये जाने का वर्णन ऋग्वेद में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। यथा—

त्यं चिद् घा दीर्घं पृथुं मिहो नपातममृध्रम्। प्र च्यावयन्ति यामभिः॥ —ऋ० १.३७.११

देवता—**मरुतः**। (**मरुतः**) मानसून पवन (**घ**) निश्चय ही (**त्यम्**) उस (**दीर्घं पृथुम्**) लम्बे-चौड़े, (**अमृध्रम्**) हिंसित न होनेवाले, (**मिहः नपातम्**) वर्षा न गिरानेवाले मेघ को (**यामभिः**) झकझोरों द्वारा (**प्र च्यावयन्ति**) आकाश से गिरा देते हैं।

वाश्रेव विद्युन्मिमाति वत्सं न माता सिषक्ति। यदेषां वृष्टिरसर्जि॥ —ऋ० १.३८.८

(**यत्**) जब (**एषाम्**) इन मरुतों अर्थात् मानसून पवनों की (**वृष्टिः**) वर्षा (**असर्जि**) आकाश से छूटती है, तब (**वाश्रा इव**) रंभानेवाली गाय के समान (**विद्युत्**) बिजली (**मिमाति**) शब्द करती है, गर्जती है, (**वत्सं न माता**) पुत्र से जैसे माता चिपटती है, वैसे ही बिजली मेघ से (**सिषक्ति**) चिपट जाती है।

ऋत्विज्

इहेह वः स्वतवसः कवयः सूर्यत्वचः। यज्ञं मरुत आ वृणे॥ —ऋ० ७.५९.११

हे (**स्वतवसः**) अपने ज्ञानबल से बली, (**सूर्यत्वचः**) सूर्यवत् तेजस्वी त्वचावाले (**कवयः मरुतः**) मेधावी ऋत्विजो! (**इह-इह**) यहीं (**वः यज्ञम्**) आपके द्वारा सम्पादित होनवाले यज्ञ को मैं (**आ वृणे**) वरण करता हूँ, अर्थात् आपसे यज्ञ कराता हूँ।

प्राण

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे। मरुद्भिरग्न आ गहि॥ —ऋ० १.१९.१

देवता—**अग्निः मरुतश्च**। (**अग्ने**) हे परमात्मन्! आप (**त्यम्**) उस (**चारुम्**) रमणीय (**अध्वरं प्रति**) उपासना-यज्ञ में (**प्र हूयसे**) बुलाए जा रहे हो। (**मरुद्भिः**) प्राणों के साथ अर्थात् मेरी प्राण-साधना द्वारा (**आ गहि**) आओ।

प्रस्तुत सङ्कलन में मरुतों के केवल दो मन्त्र व्याख्यात किये गए हैं (संख्या १०,८१)। प्रथम में परोपकारी जन एवं द्वितीय में वीर सैनिकों के पक्ष में व्याख्या है।

१५. मित्र

ऋग्वेद में अकेले मित्र देवता की केवल दस ऋचाएँ हैं।[१] मित्र-वरुण दोनों की इकट्ठी ऋचाएँ इनके अतिरिक्त हैं। 'मित्र' परमेश्वर और सूर्य दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'मित्र' प्राण एवं वायु का भी वाचक है।[२] उणादिकार स्नेहार्थक मिद् (ञिमिदा स्नेहने) धातु से क्त्र[३] प्रत्यय द्वारा इस शब्द की सिद्धि करते हैं।

निरुक्त तीन प्रकार से इसकी निष्पत्ति करता है—मि (मृत्यु) से त्राण करने के कारण 'मित्र' कहाता है। अथवा, सेचनार्थक मिवि धातु और गत्यर्थक द्रु धातु के योग से 'मित्र' बना है, यह सेचन करता हुआ गति करता है। अथवा इसमें स्नेहार्थक मिद (ञिमिदा स्नेहने) धातु है, यह गीला करता है।[४] 'मित्र' देव का निम्न वर्णन द्रष्टव्य है—

मि॒त्रो जना॑न्यातयति ब्रुवा॒णो मि॒त्रो दा॑धार पृथि॒वीमु॒त द्याम्।
मि॒त्रः कृ॒ष्टीरनि॑मिषा॒भि च॑ष्टे मि॒त्राय॑ ह॒व्यं घृ॒तव॑ज्जुहोत॥

—ऋ० ३.५९.१

'मित्र' बोलता हुआ मनुष्यों को प्रयत्न में लगा रहा है। 'मित्र' ने पृथिवी और द्युलोक को धारा हुआ है। 'मित्र' मनुष्यों को अपलक नेत्र से देख रहा है। 'मित्र' के लिए घृतयुक्त हव्य की आहुति दो।

प्रस्तुत सङ्कलन में अकेले 'मित्र' का कोई मन्त्र नहीं लिया गया है।

१६. वरुण

निरुक्तकार 'वरुण' शब्द को वरणार्थक वृञ् धातु से निष्पन्न करते हैं।[५] उणादि में वृ धातु से उनन् प्रत्यय किया गया है।[६] ऋग्वेद में वरुण देवता की लगभग ९५ स्वतन्त्र ऋचाएँ हैं। स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में वरुण नाम से जगदीश्वर, श्रेष्ठ सचिव, प्राण, अपान, उदान, पवन, न्यायाधीश, विद्वान् पुरुष, सूर्य, चन्द्रमा, दुष्टों को बन्धन में डालनेवाले श्रेष्ठ राजा आदि का ग्रहण किया है।

ऋग्वेद में वरुण प्राकृतिक जगत् के अधिष्ठाता हैं। वरुण ने बिना आधार के सूर्य को आकाश में स्थिर किया है (ऋ० १.२४.७)। वही रात्रि में तारों का दर्शन कराता है (१.२४.१०)। वह सर्वज्ञ है, अन्तरिक्ष में उड़ान भरनेवाले पक्षियों को, समुद्र में चलनेवाली नौकाओं को, वायु के मार्ग को जानता है (१.२५.७,८)। वह द्युलोक और भूलोक का राजा है (वही १९)। वही भूमि आदि ग्रहोपग्रहों को सूर्य की परिक्रमा कराता है (५.८१.१)।

---

१. ऋ० १.१५१.१, ३.५९.१-९।
२. प्राणो वै मित्र, शत० ८.२.५.६, अयं वै वायुर्मित्रो यो ऽ यं पवते। —शत० ६.५.७.१४।
३. अमिचिमिशिसिभ्य: क्त्र:। —उ० ४.१६४।
४. मित्र: प्रमीतेस्त्रायते, संमिन्वानो द्रवतीति वा, मेदयतेर्वा। —निरु० १०.२१।
५. वरुणो वृणोतीति सत:। —निरु० १०.४।
६. कृ वृ दारिभ्य उनन् (उ० ३.५३)। वृणोति व्रियते वा ऽ सौ वरुण:-दयानन्दवृत्ति। य: सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून् धर्मात्मनो वृणोत्यथवा य: शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिर्व्रियते वर्य्यते वा स वरुण: परमेश्वर: (वृञ् वरणे, वर ईप्सायाम्) स०प्र०, समु० १।

उसी ने नीचे की ओर द्वारोंवाले मेघ को रचा है (वही ३)। उसकी इस महिमा का कोई पार नहीं पा सकता कि अनेक नदियाँ भी एक समुद्र को नहीं भर सकतीं (वही ६)।

साथ ही वरुण नैतिक नियमों का भी निर्माता और अधिष्ठाता है। हृदय को विद्ध करनेवाले पाप का वह प्रतिरोधक है (ऋ० १.२४.८)। वरुण से प्रार्थना की गई है कि वह उस पाप से हमें छुड़ा दे, जिसने रस्सी के समान हमें बाँध रखा है (२.२८.५)। वह पापी को दण्डित करता है (वही ७)। वह ऋण लेनेवाले को ऋण चुकाने के लिए बाध्य करता है (वही ९)। वरुण के गुप्तचर सर्वत्र विद्यमान हैं (१.२५.१३)। वह हमें उत्तम, मध्यम, अधम पाशों से बाँध लेता है (१.२४.१५)। वरुण के उन पाशों से मुक्ति के लिए कहा गया है—

उदु॑त्त॒मं मु॑मुग्धि नो॒ वि पाशं॑ मध्य॒मं चृ॑त। अवा॑ध॒मानि॑ जी॒वसे॑॥ —ऋ० १.२५.२१

वरुण के नृपति-रूप का चित्रण निम्न ऋचा में अच्छा किया गया है—

नि ष॑साद धृ॒तव्र॑तो॒ वरु॑णः प॒स्त्या॒३॒॑स्वा। साम्रा॑ज्याय सु॒क्रतुः॑॥ —ऋ० १.२५.१०

(धृतव्रतः) व्रतधारी **(वरुणः)** निर्वाचित राजा **(पस्त्यासु)** प्रजाओं में **(आ नि षसाद)** आकर बैठ गया है, **(साम्राज्याय)** साम्राज्य के लिए, अच्छा राज्य चलाने के लिए, **(सुक्रतुः)** जो उत्कृष्ट कर्म करनेवाला है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में वरुण देवता का कोई मन्त्र व्याख्यात नहीं हुआ है।

१७. मित्रावरुणौ

पूर्वोक्त मित्र और वरुण का युगल 'मित्रावरुणौ' कहलाता है। दो देवताओं का द्वन्द्व समास होने पर पूर्वपद को आनङ् (आ) अन्तादेश हो जाता है।[१] इस नियम से मित्र के स्थान पर 'मित्रा' है। स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में 'मित्रावरुणौ' के अर्थ प्राण-उदान, सभेश-सेनेश, विद्युत्-पवन, अध्यापक-अध्येता, सूर्य-वायु, राजा-प्रधानामात्य आदि किये हैं। अन्य युगल भी गृहीत किये जा सकते हैं। काठक संहिता में एक स्थल पर चक्षु एवं मन को मित्र-वरुण से सम्बद्ध माना है।[२]

प्रस्तुत सङ्कलन में 'मित्रावरुणौ' के दो मन्त्र लिये गए हैं (संख्या २२,१३२), जिनमें क्रमशः जीवात्मा-मन तथा ब्राह्मण-क्षत्रिय के पक्ष में अर्थयोजना की गई है।

१८. यम

ऋग्वेद में यम देवता की कुल २८ ऋचाएँ मिलती हैं। पौराणिक सम्प्रदाय के अनुसार यम पितृलोक का राजा है, जहाँ मरने के पश्चात् पितर निवास करते हैं। निरुक्त में यम की गणना अन्तरिक्षस्थानीय तथा द्युस्थानीय देवों के अन्तर्गत की गयी है (निरु० १०.२०, १२.२८)। निरुक्तकार यम का निर्वचन करते हैं—**यमो यच्छतीति सतः** (निरु० १०.२०)। यह शब्द यम उपरमे धातु से बना है। जीवन प्रदान करने एवं नियमन करने के कारण मध्यमस्थानीय वायु या प्राण यम कहलाता है और इन्हीं कारणों से द्युस्थानीय आदित्य को

१. देवताद्वन्द्वे च। —पा० ६.३.२६।

२. चक्षुश्च मनश्च मैत्रावरुणा। —काठ० २७.५।

भी यम कहते हैं। निरुक्त के अनुसार अग्नि की भी यम संज्ञा है—**अग्निरपि यम उच्यते** (निरु० १०.२०)। स्वामी दयानन्द यम के अर्थ सर्वनियन्ता परमेश्वर, न्यायाधीश, राजा, सेनापति, वायु, विद्युदग्नि एवं सूर्य करते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में यम से सूर्य, अग्नि, वायु आदि का ग्रहण किया गया है।[१]

प्रस्तुत सङ्कलन में यम देवता का केवल एक मन्त्र (संख्या १९५) लिया गया है तथा उसकी व्याख्या जीवात्मापरक की गई है।

१९. वायु

ऋग्वेद में वायु देवता की ५३ ऋचाएँ हैं। निरुक्त में वायु शब्द गत्यर्थक 'वा' एवं 'वी' धातुओं से निष्पन्न किया गया है। वहाँ यह भी निर्दिष्ट है कि आचार्य स्थौलाष्ठीवि के मत में इसमें गत्यर्थक 'इण्' धातु है, इण् से 'आयु' बनकर आदि में वकार का आगम हो जाता है।[२] उणादिकार ने 'वा' धातु से उण् प्रत्यय किया है।[३] उणादिकोष की दयानन्दवृत्ति में 'वायु' के दो अर्थ दिये गए हैं—पवन और परमेश्वर।[४] पवन को वायु इस कारण कहते हैं कि वह गति करता है तथा परमेश्वर को इस कारण कि वह ज्ञानी है। सब गत्यर्थक धातुएँ ज्ञानार्थक भी होती हैं, यह नियम स्वामीजी ने लागू किया है।

ऋग्वेद में 'वायु' को पिता, भ्राता और सखा कहकर उससे दीर्घजीवन की प्रार्थना की गई है, उसमें अमृत की निधि निहित बताई गई है—

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा। स नो जीवातवे कृधि॥
यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः। ततो नो देहि जीवसे॥[५]

—ऋ० १०.१८६.२,३

वायु को त्वष्टा का जामाता कहा गया है।[६] त्वष्टा सूर्य है, जिसकी पुत्री 'आपः' से वायु का विवाह होता है, अतः वह त्वष्टा का जामाता है। 'आपः' के साथ एक रथ में बैठा 'वायु' इस सम्पूर्ण भुवन पर राज्य करता है।[७] 'वायु' को 'अपां सखा'[८] भी कहा गया है। सखा का अर्थ सहचर है।

स्वामी दयानन्द अपने वेदभाष्य में 'वायु' से प्राण, पवन, के सदृश बली राजा, प्राणप्रिय एवं बलिष्ठ परमात्मा, ज्ञानस्वरूप ईश्वर, विद्वान् पुरुष, योगी एवं गुणग्राहक सदसद्विवेचनशील शिष्य अर्थों का ग्रहण करते हैं।

प्रस्तुत सङ्कलन में हमने 'वायु' का केवल एक मन्त्र व्याख्यात किया है, जिसमें

---

१. एष वै यमो य एष (सूर्यः) तपति—शत० १४.१.३.४। अग्निर्वाव यमः—गो०उ० ४.८। अग्निर्वै यमः—शत० ७.२.१.१०। अयं वै यमो य एष (वायुः) पवते—शत० १४.२.२.११।
२. वायुर्वातेः वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः। एतेरिति स्थौलाष्ठीविः, अनर्थको वकारः—निरु० १०.२।
३. कृ वा पा जि मि स्वदि साध्यशूभ्य उण् (उ० १.१)।
४. वाति गच्छति जानाति वेति वायुः पवनः परमेश्वरो वा।
५. सर्वानुक्रमणी में इन मन्त्रों का देवता 'वात' न होकर 'वायु' ही पठित हुआ है।
६. त्वष्टुर्जामातरं वयमीशानं राय ईमहे (ऋ० ८.२६.२२)।
७. ऋ० १०.१६८.२।　　　　८. ऋ० १०.१६८.३।

'वायुतुल्य क्रियाशील विद्वान्' अर्थ का ग्रहण है।

२०. वास्तोष्पति

ऋग्वेद में वास्तोष्पति केवल पाँच[1] ऋचाओं का देवता है। वास्तोष्पति का मूलार्थ है गृह-रक्षक या गृह-पालक।[2] 'वास्तु' शब्द निवासार्थक 'वस' धातु से बनता है, जिसका अर्थ है घर। 'पति' रक्षार्थक 'पा' या पालनार्थक 'पाल' धातु से निष्पन्न हुआ है, जो रक्षक या पालक का वाची है। गृहपति, ब्रह्माण्डरूप एवं देहरूप गृह का रक्षक तथा पालक परमात्मा, प्राण, पवन एवं वास्तुकलाविशेषज्ञ शिल्पी वास्तोष्पति से गृहीत हो सकते हैं।

प्रस्तुत सङ्कलन में वास्तोष्पति का केवल एक मन्त्र (संख्या ११२) है, जिसकी व्याख्या में इसका अर्थ 'ब्रह्माण्डरूप एवं देहरूप गृह का पालक परमेश्वर' किया गया है।

२१. सरस्वती

'सरस्वती' प्रधान देवता के रूप में ऋग्वेद में केवल ३५ ऋचाओं में चर्चित हुई है। निघण्टु में सरस्वती शब्द वाणीवाचक नामों में तथा 'सरस्वत्यः' शब्द नदीवाचक नामों में पठित है।[3] इसके अतिरिक्त यह मध्यमस्थानीय देवियों के मध्य भी पठित है।[4] सरस्वती के नदीरूप की व्याख्या के प्रसङ्ग में निरुक्त में निम्न मन्त्र व्याख्यात हुआ है—

इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः॥

—ऋ० ६.६१.२

नदी अपने बलों से तथा अपनी बलवान् लहरों से पर्वतों के उभरे स्थलों को ऐसे ही आसानी से तोड़ डालती है, जैसे कोई कमल-नाल को तोड़ दे। पारावारघातिनी इस नदी की हम तटबन्ध, सेतुनिर्माण आदि कर्मों से सेवा करें।

दैवत काण्ड में 'सरस्वती' शब्द का निर्वचन करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं—**सर इत्युदकनाम तद्वती** (निरु० ९.२४), अर्थात् 'सरस्' जल का नाम है, जलवती होने से नदी सरस्वती कहलाती है।

मध्यमस्थानीय देवियों के मध्य में पठित 'सरस्वती' से निरुक्तकार को वाणी अर्थ अभिप्रेत है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का सामाजिक अर्थ विदुषी नारी लेते हैं।[5] ऋग्वेद में सरस्वती से अपना स्तन पिलाने की प्रार्थना करते हुए कहा गया है—

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।
यो रत्नधा वसुविद् यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः॥

—ऋ० १.१६४.४९

---

१. ऋ० ७.५४.१-३, ७.५५.१, ८.१७.१४।
२. वास्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः, तस्य पाता वा पालयिता वा (निरु० १०.१७)।
३. क्रमशः निघं० १.११, १.१३।
४. निघं० ५.५, निरु० ११.२४।
५. प्रशस्तं सरो विज्ञानं विद्यते यस्याः सा सरस्वती विदुषी स्त्री (यजुर्भाष्य १९.८३)।

अर्थात् जो तेरा स्तन सुलानेवाला तथा सुखदायक है, जिससे तू हमारे अन्दर समस्त वरणीय गुणों को पुष्ट करती है, जो रत्नधाता, ऐश्वर्यप्रापक तथा उत्कृष्ट दाता है, उसे हे सरस्वती! तू हमें पिलाने का उपक्रम कर।

सरस्वती श्रेष्ठ माता, श्रेष्ठ नदी और श्रेष्ठ देवी (जगदीश्वरी) है। उसके इन तीनों रूपों का वर्णन ऋग्वेद में इस रूप में किया गया है—

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति। अप्रशस्ताइव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि॥

—ऋ० २.४१.१६

विद्या या ज्ञान की धारा के रूप में सरस्वती का चित्रण करते हुए कहा गया है—

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती॥ —ऋ० १.३.११

अर्थात् प्रिय मधुर वाणियों को प्रेरित करनेवाली, सुमतियों को चेतानेवाली यह ज्ञानरसवाहिनी सरस्वती हमारे जीवन-यज्ञ को धारण करती है।

प्रस्तुत सङ्कलन में सरस्वती की केवल दो ऋचाएँ (संख्या २५,४१) व्याख्यात हैं, जिनमें से प्रथम में वेदमाता का तथा द्वितीय में भागवत चेतना एवं ईश्वरीय प्रेरणा का ग्रहण किया गया है।

२२. सरस्वान्

निरुक्त में 'सरस्वान्' शब्द मध्यमस्थानीय देवों में परिगणित है।[1] अतः अधिदैवत में यह मेघ या वायु का वाचक है। निरुक्तकार ने निम्न मन्त्र उद्धृत किया है—

ये ते सरस्व ऊर्मयो मधुमन्तो घृतश्चुतः। तेभिर्नोऽविता भव॥ —ऋ० ७.९६.५

अर्थात् हे सरस्वान् मेघ या पवन, जो तेरी मधुर तथा जल बरसानेवाली लहरियाँ हैं, उनसे तू हमारा रक्षक हो।

संस्कृत साहित्य में सरस्वान् शब्द सागर अर्थ में प्रचलित है।[2] ऋग्वेद में 'सरस्वान्' केवल पाँच ऋचाओं का वर्ण्य देवता है।[3] 'सरस्वान्' का अर्थ रसमय परमेश्वर भी होता है, जिसका वर्णन उपनिषत्कार ने 'रसो वै सः' (तै० ब्रह्मवल्ली, अनु० ७) कहकर किया है।

प्रस्तुत सङ्कलन में हमने 'सरस्वान्' का केवल एक निरुक्तोद्धृत मन्त्र (संख्या १०२) ही व्याख्यात किया है तथा अर्थयोजना पर्जन्य, पवन एवं परमेश्वर परक की है।

२३. सविता

ऋग्वेद की ८२ ऋचाओं में स्वतन्त्ररूप से 'सविता' का वर्णन हुआ है। षू प्रेरणे तुदादि, षूङ् प्राणिप्रसवे दिवादि, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने अदादि, षु प्रसवैश्वर्ययोः भ्वादि-अदादि, षुञ् अभिषवे स्वादि धातुओं से तृच् प्रत्यय करके 'सवितृ' बनता है, जिसका प्रथमा-एकवचन में 'सविता' रूप है। निरुक्त में उषा के तुरन्त बाद के आदित्य को सविता माना गया है,

१. निरु० १०.२४।

२. सरस्वान् सागरोऽर्णवः (अमरकोष १.१०.१)।

३. ऋ० १.१६४.५२; ७.९५.३; ७.९६.४-६।

जब आकाश में प्रकाश फैल जाता है, किन्तु भूमि पर अँधेरा ही रहता है।[१] सविता ही कालान्तर में सूर्य, मित्र, पूषा आदि बनता है।[२] निरुक्त में 'सविता' मध्यमस्थानीय एवं द्युस्थानीय उभयविध देवों के मध्य परिगणित है।[३] मध्यम स्थान में निर्दिष्ट होने से इसका अर्थ पवन एवं विद्युदग्नि भी होता है। स्वामी दयानन्द अपने वेदभाष्य में इसके अर्थ परमेश्वर, सूर्य, वायु, राजा, उपदेशक, विद्वान् पुरुष एवं सन्तानोत्पादक गृहपति करते हैं।

सविता सूर्य ने अपने आकर्षण-रूप यन्त्रों से पृथिवी को थामा हुआ है।[४] सविता का काव्यमय वर्णन करते हुए उसे हिरण्याक्ष, हिरण्यपाणि, स्वङ्गुरि, हिरण्यजिह्व, मनुजिह्व, सुजिह्व आदि विशेषणों से स्मरण किया गया है। उसकी हिरण्यय भुजाओं की भी कल्पना की गयी है। राजा आदि मानवपरक अर्थों में ये विशेषण सीधे ही घटित हो जाते हैं। सविता मनुष्यों को रत्न बाँटता है।[५]

प्रस्तुत सङ्कलन में सविता के दो मन्त्र (संख्या ६६,६९) व्याख्यात हैं। एक मन्त्र (संख्या १७०) का देवता 'सविता' और 'अग्नि' का युगल है। इनमें सविता से प्रेरक एवं सर्वोत्पादक प्रभु का ग्रहण किया गया है।

२४. सूर्य

ऋग्वेद में प्रधान देवता के रूप में 'सूर्य' की ऋचाएँ ६१ हैं। इनके अतिरिक्त कुछ मन्त्रों में सूर्य देवता वैकल्पिक है तथा कुछ में अन्य देवों के साथ सहचारी रूप में वर्णित है। निरुक्त के अनुसार सूर्य शब्द की निष्पत्ति गत्यर्थक सृ धातु से, प्रेरणार्थक षू धातु से तथा सु पूर्वक गति एवं कम्पन अर्थवाली ईर धातु से होती है।[६] पाणिनि ने सूर्य शब्द गत्यर्थक सृ एवं प्रेरणार्थक षू धातु से क्यप्प्रत्ययान्त निपातित किया है।[७] स्वामी दयानन्द अपने वेदभाष्य में सूर्य शब्द से स्वयं प्रकाशमान सर्वात्मा जगदीश्वर, जीवात्मा, न्यायप्रकाश राजा, विद्याप्रकाश से युक्त विद्वान् पुरुष, प्राण एवं आदित्य अर्थों का ग्रहण करते हैं।

ऋग्वेद के अनुसार सब ग्रहोपग्रह-रूप भुवन सूर्य से ही प्रकाशित होते हैं।[८] सूर्य में सात रंगों की किरणें होती हैं।[९] सूर्य हृदयरोग, पीलिया आदि को दूर करता है। सूर्य और पृथिवी के मध्य चन्द्रमा आ जाने से सूर्यग्रहण होता है।[१०] सूर्य आयु बढ़ाता है।[११] सूर्य आकार में महान् है।[१२] प्रातःकालीन सूर्य को देखने से दृष्टिशक्ति बढ़ती है।[१३] सूर्य ऊँची-ऊँची

---

१. तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्का ऽऽ कीर्णरश्मिर्भवति। निरु० १२.१२।
२. द्रष्टव्यः ऋ० ५.८१.४-५।
३. निरु० १०.३१,३२; १२.१२।
४. सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णात्। —ऋ० १०.१४९.१।
५. वि यो रत्ना भजति मानवेभ्यः। —ऋ० ४.५४.१।
६. सूर्यः सर्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्य्यतेर्वा (निरु० १२.१५)।
७. राजसूयसूर्य० पा० ३.१.११३। सूसर्तिभ्यां क्यप्, सर्तेरुत्वं सुवतेर्वा रुडागमः। सरति सुवति वा सूर्यः- काशिकावृत्तिः।
८. ऋ० १.५०.४। ९. ऋ० १.५०.८। १०. ऋ० १.५०.११।
११. ऋ० ७.६६.१६। १२. ऋ० ८.१०१.११। १३. ऋ० १०.१५८.५।

ज्वालाएँ अपने पृष्ठ के ऊपर उठाता है।[१]

परमात्मा-रूप सूर्य के दर्शन की कामना करते हुए कहा गया है—

उद् वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

—ऋ० १.५०.१०

प्रस्तुत सङ्कलन में 'सूर्य' का केवल एक मन्त्र व्याख्यात है, जिसमें आदित्य एवं परमेश्वर दोनों ज्योतियों का ग्रहण किया गया है।

२५. सोम

ऋग्वेद नवम मण्डल में ११०८ ऋचाएँ हैं, जिनमें से सूक्त ५ की ११, सूक्त ६६ की ३ और सूक्त ६७ की ८ ऋचाओं को छोड़कर शेष १०८६ का देवता पवमान सोम है। इनके अतिरिक्त प्रथम मण्डल में २३, तृतीय में ३, षष्ठ में ५, सप्तम में ३, अष्टम में २५ और दशम में १६ ऋचाएँ सोम देवता की हैं।[२] साथ ही अनेक ऋचाएँ ऐसी हैं, जिसका देवता यद्यपि इन्द्र है, तथापि उसे सोमपान का निमन्त्रण दिया गया है, अतः वे भी सोम से सम्बद्ध हैं। पवमान सोम तथा सोम देवता यद्यपि हैं पृथक्-पृथक् तथापि यहाँ हम उन पर एक साथ ही विचार कर रहे हैं।

यास्क ने ओषधिविशेष अर्थ में सोम शब्द षुञ् अभिषवे धातु से निष्पन्न किया है, यतः उस ओषधि से रस निचोड़ा जाता है।[३] उणादिकार सु (षु प्रसवैश्वर्ययोः षुञ् अभिषवे) धातु से मन् प्रत्यय करते हैं।[४] स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में सोम के अर्थ जगदीश्वर, विद्वान् मनुष्य, राजा, सेनाध्यक्ष, संन्यासी, वैद्य, सोमनामक ओषधि, सोम ओषधि का रस, सोम आदि ओषधियों से बनाया आसव, आनन्दरस, वीररस आदि किये हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्र, यश, श्री, प्राण, रेतस् आदि को भी सोम कहा गया है।[५]

पवमान का अर्थ है पवित्र करनेवाला (पूङ् पवने, भ्वादि) अथवा बहनेवाला (पवते गतिकर्मा, निघं० २.१४)। सोम परमात्मा से आनन्द-रूप सोमरस और सोम ओषधि से ओषधि-साररूप सोमरस प्रवाहित होता है—

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः॥

—ऋ० ९.१.१

---

१. ऋ० ७.६२.१।

२. ऋ० १.९१; ३.६२.१३-१५; ६.४७.१-५; ७.१०४.९,१२,१३; ८.४८.१-१५; ८.७९.१-९; ८.१०१.१४; १०.२५.१-११; १०.८५.१-५

३. ओषधिः सोमः सुनोतेः, यदेनमभिषुण्वन्ति (निरु० ११.२)।

४. अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन् (उ० १.१४०)।

५. सोमो वै ब्राह्मणः (तां० २३.१६.५), क्षत्रं सोमः (ऐ० २.३८), यशो वै सोमः (शत० ४.२.४.९), श्रीर्वै सोमः (शत० ४.१.३.९), प्राणः सोमः (शत० ७.३.१.२), रेतः सोमः (कौ० १३.७)।

विभिन्न अर्थों में सोम के मन्त्र

जगदीश्वर

त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः।
त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ॥ —ऋ० १.९१.२२

(**सोम**) हे जगदीश्वर, (**त्वम्**) आपने (**इमाः विश्वाः ओषधीः**) इन सब ओषधियों को, (**त्वम्**) आपने (**अपः**) जलों को, (**त्वम्**) आपने (**गाः**) गायों, भूमियों, किरणों आदि को (**अजनयः**) जना है। (**त्वम्**) आपने (**आ ततन्थ**) फैलाया है (**उरु अन्तरिक्षम्**) विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को। (**त्वम्**) आप (**ज्योतिषा**) ज्योति से (**तमः**) अँधेरा एवं तामसिकता (**वि ववर्थ**) निवारण करते हो।

ब्रह्मानन्द

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान्कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य॥ —ऋ० ८.४८.३

हमने (**अपाम**) पी लिया है (**सोमम्**) ब्रह्मानन्द रस। हम (**अमृताः**) अमर (**अभूम**) हो गये हैं। हमने (**अगन्म**) पा ली है (**ज्योतिः**) ज्योति, (**अविदाम**) पा लिया है (**देवान्**) दिव्यगुणों को। (**किं नूनम्**) क्या भला (**अस्मान्**) हमें (**कृणवत्**) हानि पहुँचा सकेगी (**अरातिः**) अदान-भावना, कृपणता, (**किमु**) और क्या हानि पहुँचा सकेगी (**अमृत**) हे मेरे अमर आत्मा, (**मर्त्यस्य**) मनुष्य की (**धूर्तिः**) धूर्तता, हिंसा?

चन्द्रमा

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ॥ —ऋ० ८.४८.१३

(**सोम**) हे चन्द्र! (**पितृभिः संविदानः**) पालक सूर्य-किरणों से संयुक्त हुआ (**त्वम्**) तू (**द्यावापृथिवी अनु**) आदित्य और भूमि के मध्य में (**आ ततन्थ**) स्वयं को विस्तीर्ण कर लेता है [तब सूर्यग्रहण होता है]।

वैद्य

अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिषक्ति विश्वं यत्तुरम्। प्रेमन्धः ख्यन्निः श्रोणो भूत्॥
—ऋ० ८.७९.२

वैद्य सोम (**यत् नग्नम्**) जो नग्न निस्तेज शरीर है, उसे (**अभ्यूर्णोति**) तेज से आच्छादित कर देता है। (**यत् तुरम्**) जो आतुर, रुग्ण शरीर हैं (**विश्वम्**) उन सबका (**भिषक्ति**) इलाज करता है। उसके इलाज से (**अन्धः ईम्**) अन्धा भी (**प्र ख्यत्**) प्रकृष्टरूप से देखने लगता है, और (**श्रोणः**) लँगड़ा (**निः भूत्**) निर्गमन करने, चलने-फिरने में समर्थ हो जाता है।

राजा

अस्माकमायुर्वर्धयन्नभिमातीः सहमानः। सोमः सधस्थमासदत्॥ —ऋ० ३.६२.१५

(**अस्माकम्**) हम प्रजाजनों की (**आयुः**) आयु (**वर्धयन्**) बढ़ाता हुआ, (**अभिमातीः**) अभिमानी शत्रुओं को (**सहमानः**) पराजित करता हुआ (**सोमः**) रचनात्मक कार्यों का कर्ता

राजा (**सधस्थम्**) राज-दरबार में (**आ सदत्**) आकर बैठा है।

सेनाध्यक्ष

प्र सेनानीः शूरो अग्रे रथानां गव्यन्नेति हर्षते अस्य सेना।
भद्रान्कृण्वन्निन्द्रहवान्त्सखिभ्य आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते॥

—ऋ० ९.९६.१

(**शूरः**) शूर (**सेनानीः**) सेनाध्यक्ष (**रथानाम्**) रथारोहियों के (**अग्रे**) आगे-आगे (**गव्यन्**) शत्रु की भूमियों को जीतना चाहता हुआ (**प्र एति**) प्रयाण करता है। (**हर्षते**) उत्साहित होती है (**अस्य सेना**) इसकी सेना। (**सखिभ्यः**) सखा सैनिकों के लिए (**इन्द्रहवान्**) युद्ध के नारों को (**भद्रान् कृण्वन्**) भद्र एवं सुखकारी करता हुआ (**सोमः**) सेनाध्यक्ष (**वस्त्रा**) वस्त्रों के समान रक्षक (**रभसानि**) वेगों को (**आदत्ते**) ग्रहण करता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'सोम' के पाँच मन्त्र (संख्या ११,१२,८९,११७,१९२) तथा 'पवमान सोम' के दो मन्त्र (संख्या १३४,१६५) व्याख्यात हुए हैं, जिनमें छह स्थलों पर परमात्मा एवं एक स्थल पर जीवात्मा अर्थ किया गया है।

ऋग्वेद के स्वरों का संक्षिप्त परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ में वेदमन्त्र स्वरचिन्हों सहित दिये गये हैं, अतः ऋग्वेद के स्वरों एवं स्वर-चिह्नों का सामान्य ज्ञान अपेक्षित है।

सामान्यतः उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और एकश्रुति ये चार स्वर होते हैं। एकश्रुति का ही दूसरा नाम प्रचय भी है। ये स्वर अचों (अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ) के होते हैं, व्यञ्जनों के नहीं, परन्तु स्वरों के साहचर्य से स्वर-सहचरित व्यञ्जनों के कह दिये जाते हैं। यथा, अग्नि में वस्तुतः इ उदात्त है, पर इ के साहचर्य से ग्नि उदात्त कह दिया जाता है।

स्वर-चिह्न

अनुदात्त—ऋग्वेद में अनुदात्त अक्षर के नीचे लेटी रेखा लगती है। यथा, अग्निम् में अ अनुदात्त है।

स्वरित—स्वरित अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा लगती है। यथा, अग्निमीळे में मी स्वरित है।

एकश्रुति—एकश्रुति का कोई चिह्न नहीं होता। उदात्त से परे अनुदात्त स्वरित बन जाता है, यदि उस अनुदात्त के आगे उदात्त या स्वरित न हो।[१] उस अनुदात्तज स्वरित से परे एक या अधिक अनुदात्त हों तो उन सबकी एकश्रुति हो जाती है और उन अनुदात्त अक्षरों के नीचे लगा अनुदात्त का चिह्न हट जाता है। यथा, 'अग्निमीळे' में ग्नि उदात्त से परे अनुदात्त मी को स्वरित होकर उस स्वरित मी से परे अनुदात्त ळे की एकश्रुति हो जाती है। तब 'अग्निमीळे' ऐसा लिखा जाता है। एकाधिक अनुदात्तों की एकश्रुति का उदाहरण है—

१. उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः। नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्। पा० ८.४.६६,६७

इ॒मं मे॑ ग॒ङ्गे॒ य॒मु॒ने॒ स॒र॒स्व॒ति॒
इ॒मं मे॑ ग॒ङ्गे॒ यमुने सरस्वति

इस एकश्रुति का भी यह नियम है कि स्वरित से परे उसी अनुदात्त की एकश्रुति होती है जिस अनुदात्त से परे उदात्त या स्वरित न हो। उदात्त या स्वरित परे रहने पर अनुदात्त का चिह्न वैसा ही रहता है, परन्तु उसका उच्चारण अनुदात्ततर (सन्नतर) किया जाता है।[१]

उदात्त—एकश्रुति के समान उदात्त का भी कोई चिह्न नहीं होता। जो स्थिति एकश्रुति की बतायी गयी है, उससे भिन्न स्थलों में यदि किन्हीं अक्षरों पर कोई चिह्न नहीं होगा, तो वे अक्षर उदात्त समझे जाएँगे। यथा, **अग्ने॒ यं य॒ज्ञम॑ध्व॒रम्,** ऋ० १.१.४। यहाँ अ, यं, ज्ञ और र अक्षर उदात्त हैं।

लक्षण

उदात्त—उच्चैरुदात्तः पा० १.२.२९। उच्चारणावयवों के उच्च प्रयत्न से जो बोला जाता है, वह उदात्त होता है। सूत्र का यह आशय नहीं है कि उदात्त अक्षर उच्च ध्वनि से बोला जाता है। उक्त सूत्र पर महाभाष्य में लिखा है—

आयामो, दारुण्यम् अणुता खस्य इत्युच्चैःकरणि शब्दस्य।

''उदात्त स्वर के उच्चारण में इतनी बातें होनी चाहिएँ—**(आयामः)** शरीर के सब अवयवों को रोक लेना अर्थात् ढीले न रखना, **(दारुण्यम्)** शब्द के निकलते समय तीखा रूखा स्वर निकले, और **(अणुता खस्य)** कण्ठ को सङ्कोच के बोलना चाहिये, फैलाना नहीं। ऐसे प्रयत्नों से जो स्वर उच्चारण किया जाता है, वह उदात्त कहाता है, यही उदात्त का लक्षण है''—सौवर, स्वामी दयानन्द।

अनुदात्त—नीचैरनुदात्तः पा० १.२.३०। उच्चारणावयवों के नीचे प्रयत्न से जो बोला जाता है, वह अनुदात्त होता है।

अन्ववसर्गो, मार्दवम्, उरुता खस्य इति नीचैःकराणि शब्दस्य—महाभाष्य।

''अनुदात्त उच्चारण में **(अन्ववसर्गः)** शरीर के अवयवों को शिथिल कर देना, **(मार्दवम्)** कोमल, स्निग्ध उच्चारण करना, **(उरुता खस्य)** और कण्ठ को कुछ फैलाके बोलना। इस प्रकार के प्रयत्न से उच्चारण किये स्वर को अनुदात्त कहते हैं, यही इसका लक्षण है''—सौवर, स्वामी दयानन्द।

स्वरित—समाहारः स्वरितः पा० १.२.३१। उदात्त और अनुदात्त का जिसमें समाहार (मेल) होता है, वह स्वरित कहलाता है। स्वरित में कितना अंश उदात्त और कितना अनुदात्त रहता है, इस विषय में पाणिनि की व्यवस्था है कि स्वरित की प्रथम आधी मात्रा उदात्त होती है, शेष अनुदात्त—**तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्**—पा० १.२.३२। स्वरित अक्षर ह्रस्व भी हो सकता है और दीर्घ तथा प्लुत भी। ह्रस्व स्वरित में एक मात्रा, दीर्घ में दो मात्रा तथा

---

१. स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम् (पा० १.२.३९)। स्वरितात् परेषामनुदात्तानां संहितायामेकश्रुतिः स्यात्—काशिका। उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः (पा० १.२.४०)। उदात्तस्वरितौ परौ यस्मात् तस्यानुदात्तस्य अनुदात्ततरः स्यात्—काशिका।

प्लुत में तीन मात्रा होती हैं, अतः ह्रस्व स्वरित में प्रथम आधी मात्रा उदात्त और शेष आधी मात्रा अनुदात्त रहती है। दीर्घ स्वरित में प्रथम आधी मात्रा उदात्त और शेष डेढ़ मात्रा अनुदात्त रहती है। प्लुत स्वरित में प्रथम आधी मात्रा उदात्त और शेष ढाई मात्रा अनुदात्त उच्चरित होती है।

एकश्रुति—उदात्त और अनुदात्त का मेल स्वरित में भी होता है और एकश्रुति में भी, किन्तु अन्तर यह है कि स्वरित में तो मेल जतु-काष्ठ-न्याय से (लाख और लकड़ी के मेल के समान) होता है, अतः पृथक्-पृथक् श्रुतिगोचर होता है, पर एकश्रुति में मेल नीर-क्षीर-न्याय से (दूध-पानी के समान) होता है, अतः स्पष्ट अवगत नहीं होता। इसे हम इस रूप में भी कह सकते हैं कि एकश्रुति वर्ण का उच्चारण न उदात्त होता है, न अनुदात्त, अपितु सहजरूप में जैसे वर्ण बोले जाते हैं, वैसा होता है। एकश्रुति में ह्रस्वत्व, दीर्घत्व और प्लुतत्व तो श्रवणगत होते हैं, किन्तु स्वर नहीं।

स्वरित के प्रमुख भेद

१. **अनुदात्तज स्वरित**—उदात्त से परे अनुदात्त को जो स्वरित होता है, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है, उसे अनुदात्तज स्वरित कह सकते हैं। स्वरित का निमित्त उदात्त उसी पद में भी रह सकता है और पूर्व पद में भी। यथा, 'सखा' में एक ही पद में स उदात्त से परे खा अनुदात्त को स्वरित खा हो गया है। 'उरुष्या णो' में पूर्वपद का ष्या उदात्त होने के कारण उत्तरवर्ती पद णो अनुदात्त को स्वरित णो हो जाता है।

२. **जात्य स्वरित**—जो जाति अर्थात् जन्म या स्वभाव से ही स्वरित हो वह जात्य स्वरित कहलाता है। यथा, धान्यम् क्व, स्वः इन सबका स्वरित जात्य स्वरित है। 'धान्यम्' धा धातु से उणादि यत् प्रत्यय और नुट् का आगम (उ० ५.४८)। क्व—किम् से अत् प्रत्यय 'किमोऽत्' पा० ५.३.१२। दोनों शब्द तित्प्रत्ययान्त होने के कारण 'तित् स्वरितम्' पा० ६.१.१८५ के नियम द्वारा जाति से ही स्वरितान्त हैं। स्वः 'न्यङ्स्वरौ स्वरितौ' फिट्सूत्र ७४ से स्वरित है।

३. **अभिनिहित स्वरित**—उदात्त ए और ओ से परे अनुदात्त ह्रस्व अ होने पर पूर्वरूप सन्धि होती है—'एङः पदान्तादति' पा० ६.१.१०८। यह पूर्वरूप ए या ओ **'स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ'** पा० ८.२.६ के नियम से जहाँ स्वरित होता है, वहाँ अभिनिहित स्वरित कहलाता है।

४. **क्षैप्र स्वरित**—इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ ऌ से अच् परे होने पर य्, व्, र्, ल् आदेश की यण् सन्धि होती है, उसे क्षैप्र सन्धि कहते हैं। जहाँ उदात्त इ, उ आदि के स्थान पर य्, व् आदि क्षैप्र सन्धि होने पर अगले अनुदात्त स्वर को स्वरित होता है, उस स्वरित को क्षैप्र स्वरित कहते हैं। यथा—

वि+अद्यौत्=व्यद्यौत् —ऋ० ३.१.८

नु+इन्द्र=न्विन्द्र —ऋ० १.८२.१

उदात्तज यण् से परे अनुदात्त को स्वरित करने में पाणिनि का यह नियम प्रवृत्त होता है—**उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य**—पा० ८.२.४।

५. **प्रश्लिष्ट स्वरित**—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ इनका सवर्ण-दीर्घरूप एकादेश होने

पर, अथवा अ+इ का एकाररूप, अ+उ का ओकाररूप, अ+ए का ऐकाररूप और अ+ओ का औकाररूप एकादेश होने पर जब उदात्त तथा अनुदात्त का एकादेश स्वरित होता है तब उस स्वरित को प्रश्लिष्ट स्वरित कहते हैं। यथा—

स्रुचि+इव=स्रुचींव

यहाँ च् का ई प्रश्लिष्ट स्वरित है। यहाँ पाणिनि का **'स्वरितो वा ऽनुदात्ते पदादौ'**— पा० ८.२.६ नियम लगता है। यह नित्य नियम नहीं है। ऋग्वेद में जहाँ प्रश्लिष्ट एकादेश स्वरित मिलता है, वहीं यह लागू होता है।

सकम्प स्वरित—पूर्वोक्त जात्य, क्षैप्र और अभिनिहित स्वरितों का उच्चारण उदात्त परे होने पर कम्पयुक्त होता है। इसका कारण यह है कि स्वरित में उदात्त और अनुदात्त का योग रहता ही है, उसके परे भी उदात्त होने पर, दो उदात्तों के मध्य में अनुदात्त का उच्चारण करने में असुविधा होती है, अतः कम्प होता है। इस सकम्प स्वरित की दो स्थितियाँ होती हैं—

(क) ह्रस्व स्वरित+उदात्त

(ख) दीर्घ स्वरित+उदात्त

इन दोनों स्थितियों में सकम्प स्वरित को लिखने के अलग-अलग प्रकार हैं।

ह्रस्व सकम्प स्थिति के उदाहरण प्रस्तुत सङ्कलन में निम्न हैं, जो सब जात्य स्वरित के हैं—

मन्त्र सं० १३४	**स्व१र्विश्वा**	—ऋ० ९.४.२
मन्त्र सं० १७२	**स्व१र्मनवे**	—ऋ० १०.४.३४
मन्त्र सं० १७३	**स्व१र्ण**	—ऋ० १०.४३.९

क्षैप्र सकम्प स्वरित का ऋग्वेद का उदाहरण है—

मन्त्र सं० १९२	**उर्व१न्तरिक्षम्**	—ऋ० १०.१३४.६

ह्रस्व सकम्प स्वरित का अभिनिहित का उदाहरण सम्भव नहीं है, क्योंकि उसमें स्वरिताक्षर ए या ओ ही होगा, जो ह्रस्व नहीं हो सकता। यहाँ स्वरित स्वर चिह्न के रूप में ऊपर स्वरित-चिह्न, मध्म में १ तथा नीचे अनुदात्त-चिह्न लिखने से यह प्रदर्शित होता है कि इस स्वरित अक्षर में अनुदात्त का भाग एक है, अर्थात् उदात्त और अनुदात्त समान मात्रा में हैं।

दीर्घ सकम्प स्थिति के उदाहरण भी प्रस्तुत सङ्कलन से दिये जा रहे हैं—

मन्त्र सं० ८४	**व्यू३तयो**	—ऋ० ६.२४.३
मन्त्र सं० १२५	**दुराध्ये३मर्ताय**	—ऋ० ८.७१.७
मन्त्र सं० १३३	**श्रीणानो३ऽयं**	—ऋ० १०.३४.६

इनमें से प्रथम दो उदाहरण क्षैप्र दीर्घ सकम्प स्वरित के हैं और तीसरा अभिनिहित का है। यहाँ ३ संख्या यह दर्शाने के लिए है कि इस दो मात्रावाले दीर्घ स्वरित में तीन भाग अनुदात्त है और एक भाग उदात्त। यहाँ विशेष यह है कि स्वरित के नीचे भी अनुदात्त का चिह्न लगता है, जब कि ह्रस्व स्वरित के उदाहरणों में स्वरित अक्षर अनङ्कित ही रखा गया

था।

पहले जो स्वर-चिह्न का विषय लिखा है, उसमें भी इस ह्रस्व तथा दीर्घ सकम्प स्वरित के चिह्न को सम्मिलित कर लेना चाहिए।

स्वर-विषयक कुछ अन्य नियम

१. पद में जिस एक अक्षर को उदात्त या जात्य स्वरित किया जाता है, उसके अतिरिक्त शेष अक्षर अनुदात्त हो जाते हैं।[१] जैसे, 'वरुणः' पद नित् प्रत्यय उनन् अन्त में होने से आद्युदात्त[२] है, अतः शेष रु और ण अनुदात्त हो जाते हैं—**वरुणः**। फिर पूर्वोक्त नियम से उदात्त से परे अनुदात्त रु को स्वरित, तथा स्वरित से परे **ण** अनुदात्त की एकश्रुति हो जाती है—**वरुणः**। इसीप्रकार 'कार्यम्' में ण्यत् प्रत्यय तित् होने से स्वरित[३] है—**कार्यम्**। शेष 'का' अनुदात्त हो जाता है—**कार्यम्**।

२. आमन्त्रित (संबोधनान्त पद) आद्युदात्त होता है, परन्तु पद से परे होने पर आमन्त्रित सर्वानुदात्त (निघात) होता है। इस नियम के अनुसार पाद के आदि में अग्ने वायो, इन्द्रवायू आदि सम्बोधनान्त पद आद्युदात्त होते हैं। परन्तु पाद के मध्य में पद से परे होने के कारण सर्वानुदात्त।[४] यथा—

'सोम निपाह्यंहसः' (मन्त्र सं० ११) में 'सोम' सम्बोधन पाद के आदि में होने से आद्युदात्त है—**सोम**। किन्तु **'आप्यायमानो अमृताय सोम'** (मन्त्र सं० १२) में पद से परे होने के कारण सर्वानुदात्त—**सोम**।

यह भी नियम है कि आमन्त्रित के पूर्व आमन्त्रित (सम्बोधन) हो तो वह अविद्यमानवत् माना जाता है[५]। यथा **'अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति'** (मन्त्र संख्या ४१) में चारों पद आमन्त्रित हैं, आमन्त्रित पद से परे होने के कारण उत्तर-उत्तर आमन्त्रितों को सर्वानुदात्त होना चाहिये था, किन्तु पूर्व-पूर्व आमन्त्रित के अविद्यमान होने से पद से परे न होने के कारण सब आमन्त्रितों को आद्युदात्त ही होता है।

३. अतिङन्त से परे तिङन्त सर्वानुदात्त होता है।[६] तिङन्त यदि पाद के आदि में होगा तो सर्वानुदात्त नहीं होगा। यथा मन्त्र संख्या ११ में **'उरुष्या'** तिङन्त को पाद के आदि में होने के कारण सर्वानुदात्त नहीं हुआ, किन्तु धातुस्वर से अन्तोदात्त हुआ है। किन्तु इसी मन्त्र के तृतीय पाद में **'सुशेवं एधि'** में अतिङन्त से परे होने के कारण 'एधि' तिङन्त को सर्वानुदात्त हो गया है। इस नियम को ध्यान में रखने से तिङन्त को पहचानने में सुविधा

---

१. अनुदात्तं पदमेकवर्जम् पा० ६.१.१५८। यह स्वर-विधिविषयक परिभाषा कहलाती है।
२. ञ्नित्यादिर्नित्यम् पा० ६.१.१९३ ञित् और नित् प्रत्ययान्त शब्द आद्युदात्त होता है।
३. तित् स्वरितम् पा० ६.१.१८० तित् प्रत्यय स्वरित होता है।
४. आमन्त्रितस्य च पा० ६.१.१९८, ८.१.१९। द्वितीय सूत्र में 'पदात्', 'परस्य' और 'अनुदात्तं सर्वम् अपादादौ' की अनुवृत्ति आती है।
५. आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् पा० ८.१.७२।
६. तिङ्ङतिङः पा० ८.१.१८।

हो जाती है। तिङन्त से पूर्व लगा उपसर्ग प्रायः तिङन्त में सम्मिलित नहीं किया जाता। उपसर्ग भी अतिङन्त पद है, उससे परे तिङन्त को सर्वानुदात्त हो सकता है। सर्वानुदात्त करने के पश्चात् उदात्त से परे अनुदात्त को स्वरित और स्वरित से परे अनुदात्तों को एकश्रुति आदि पूर्वोक्त नियम तो प्रवृत्त होते ही हैं।

परन्तु इस नियम के कतिपय अपवाद भी होते हैं। यत्, यदि, हन्त, कुवित्, नेत्, चेत्, चण्, कच्चित्, यत्र, अङ्ग, हि, यावत्, यथा आदि निपातों का वाक्य में योग होने पर अतिङन्त से परे तिङन्त सर्वानुदात्त नहीं होता[१]।

४. उदात्त और अनुदात्त एवं उदात्त और स्वरित का एकादेश उदात्त होता है।[२] यथा—

वो + अश्वाः = वोऽश्वाः

क्व + अवरम् = क्वाऽवरम्

५. जब पूर्व उदात्त हो तथा परे अगले पद का आदि अनुदात्त हो उस स्थिति में एकादेश उदात्त भी हो सकता है और स्वरित भी ऐसा विकल्प कहा गया है।[३] पर यह ऐसा विकल्प नहीं है कि सर्वत्र दोनों रूप बनते हों। यह व्यवस्थित विभाषा है। ऋक्प्रातिशाख्यकार ने यह व्यवस्था दी है कि ऋग्वेद में ह्रस्व इकारों का प्रश्लेष (एकादेश) होने पर स्वरित ही होता है और ह्रस्व अ परे होने पर पूर्ववर्ती ए तथा ओ का पूर्वरूप एकादेश होने पर भी स्वरित ही होता है।[४] अन्य एकादेशों में उदात्त रहता है। यथा—

स्रुचि + इव = स्रुचीव —ऋ० १०.९१.१५

ते + अवर्धन्त = तेऽवर्धन्त —ऋ० १.८५.७

ये नित्य स्वरित के उदाहरण हैं। इ और ई का एकादेश होने पर तथा अन्य स्थलों में एकादेश उदात्त ही होगा। यथा—

हि + ईम् = हीम् —ऋ० १०.४५.४

इह + अविता = इहाविता —ऋ० १.२६.२

स्वरशास्त्र बहुत व्यापक है, जिसमें सामान्य स्वर, धातु-स्वर, प्रत्यय-स्वर, समास-स्वर, तिङन्त-स्वर, फिट्-स्वर आदि आते हैं। यहाँ केवल दिग्दर्शन-रूप में अति संक्षेप से हमने स्वर का परिचय दिया है, परन्तु इतने का भी अभ्यास कर लेने पर यह सामर्थ्य आ सकता है कि स्वर-चिह्न लगे हुए मन्त्र में प्रत्येक अक्षर का स्वर बता सकें। इसी उद्देश्य से हमने स्वर जैसे जटिल विषय को यहाँ सरल रूप में रखने का यत्न किया है। वेदार्थ में स्वरशास्त्र की उपयोगिता के लिए पाठकों को पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक जी की 'वैदिक स्वर मीमांसा' पुस्तक का सप्तम अध्याय देखना चाहिए।

---

१. निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेत्कच्चिद्यत्रयुक्तम् पा० ८.१.३०, अङ्गात् प्रातिलोम्ये ३३, हि च ३४, यावद्यथाभ्याम् ३६, यद्वृत्तान्नित्यम् ६६ आदि।

२. एकादेश उदात्तेनोदात्तः पा० ८.२.५।

३. स्वरितो वानुदात्ते पदादौ पा० ८.२.६।

४. इकारयोश्च प्रश्लेषे क्षैप्राभिनिहितेषु च। उदात्तपूर्वरूपेषु शाकल्यस्यैवमाचरेत्॥ —ऋ० प्रा० ३.१३

इसके साथ हम भूमिका समाप्त करते हैं। आशा है इस भूमिका से पाठकों को विविध विद्याओं के विशाल आकर-ग्रन्थ ऋग्वेद के प्रतिपाद्य विषयों की झाँकी, ऋग्वेद-वर्णित देवों के स्वरूप की झाँकी तथा ऋग्वेद के स्वर-प्रयोग की झाँकी मिल सकेगी। ऋग्वेद के मन्त्रों में जो उत्कृष्ट प्रेरणा, अध्यात्मरस, उद्बोधन, आशावाद, वीरता, जीवन-सङ्गीत, कर्मयोग, भक्ति-तरंग, पुरुषार्थचतुष्टय, राष्ट्रप्रेम, विश्वशान्ति आदि का सन्देश हिलोरें ले रहा है, उसका आस्वादन पाठक मन्त्र-व्याख्याओं को पढ़ कर ही कर सकेंगे।

१. तीन देवियाँ

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥

—ऋ० १.१३.९

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इळा, सरस्वती, मही (भारती)॥ **छन्दः**—गायत्री॥

(**इळा**) इडा, (**सरस्वती**) सरस्वती, (**मही**) मही, (**तिस्रः**) तीन (**देवीः**) देवियाँ (**मयोभुवः**[1]) सुख उत्पन्न करनेवाली [हैं]। ये तीनों (**अ-स्रिधः**[2]) क्षीण न होती हुई, निरन्तर (**बर्हिः**) राष्ट्र-यज्ञ में (**सीदन्तु**[3]) बैठें।

इडा, सरस्वती और मही इन तीन देवियों की चर्चा वेदों में कई स्थलों पर आती है। कहीं-कहीं 'मही' के स्थान पर तीसरी देवी 'भारती' है। एवं मही और भारती पर्यायवाची हैं। ये तीनों देवियाँ राष्ट्रयज्ञ में आसीन होनी चाहिएँ, तभी राष्ट्र उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच सकता है। 'इडा' सम्पदा की प्रतीक है। इडा शब्द वैदिककोष निघण्टु में भूमि, अन्न और गाय का वाचक है। भूमि, अन्न और गाय ये तीनों विभिन्न सम्पदाओं के ही रूप हैं। राष्ट्र के पास पर्याप्त भूमि होनी चाहिए, भूमि से उत्पन्न होनेवाले अन्नों के भण्डार भी भरे होने चाहिएँ, और गौएँ एवं दूध-दही-माखन आदि भी राष्ट्रवासियों को यथेष्ट उपलब्ध होने चाहिएँ। दूसरी देवी सरस्वती है, जो विद्या की प्रतीक है। सरस्वती के लिए वेद में कहा गया है कि वह ज्ञान की बाढ़ लाती है,[4] सूनृताओं को प्रेरित करती है और सुमतियों को जागृत करती[5] है। 'सरस्' का अर्थ है मधुर ज्ञानधारा। एवं सरस्वती प्रशस्त ज्ञानधारावाली है। राष्ट्र में ज्ञान-विज्ञान की धार सदा बहती रहनी चाहिए। इसके लिए राजा और प्रजा दोनों का सतर्क रहना अनिवार्य है। तीसरी देवी 'मही' या 'भारती' है, जो संस्कृति की प्रतीक है। 'मही' का योगार्थ है पूजित या पूजा की साधनभूत और 'भारती' का योगार्थ है भरनेवाली। उच्च संस्कृति से ही कोई राष्ट्र पूजित या सम्मानास्पद होता है। संस्कृति भरने का कार्य करती है। कोई राष्ट्र बाह्य शरीर से कितना ही विकसित क्यों न हो जाए, श्लाघ्य संस्कृति के बिना खोखला रहता है। ये तीनों प्रकाशमयी, प्रकाशदात्री एवं दिव्यगुणों से युक्त होने के कारण देवियाँ कहलाती हैं। उक्त तीनों देवियाँ 'मयोभुवः' हैं, राष्ट्र में सुख-चैन को उत्पन्न करनेवाली हैं। इन्हें 'अस्रिधः' होकर या अक्षीण होकर राष्ट्र में निरन्तर विद्यमान रहना है।

'बर्हिः' का मूल अर्थ कुशा है। कुशा के बने आसन को भी 'बर्हिः' कहते हैं। यज्ञ में कुशा के आसन का प्रयोग होने के कारण यज्ञ भी 'बर्हिः' कहलाता है। यज्ञ कई प्रकार के होते हैं। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त कर्मकाण्डिक यज्ञ हैं। इसके अतिरिक्त ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, अतिथियज्ञ, शिल्पयज्ञ, राष्ट्रयज्ञ आदि को भी यज्ञ कहते हैं, जो 'बर्हिः' शब्द से गृहीत हो सकते हैं।

इडा, सरस्वती और मही ये तीनों शब्द वैदिककोष में वाणी के भी वाचक हैं। 'इडा' वह स्थूलवाणी है, जिसका सम्बन्ध हमारे जिह्वा आदि उच्चारणावयवों से होता है। इसे 'वैखरी' वाणी कहते हैं। 'सरस्वती' मन में रहनेवाली विचारात्मक वाणी है, जो 'मध्यमा' वाक् कहलाती है। 'मही' आत्मा में प्रतिष्ठित वाक् है, जो 'परा' और 'पश्यन्ती' दो रूपों में रहती है। अपनी इन तीनों वाणियों को हमें प्रशस्त एवं सुखदात्री बनाकर अपने आध्यात्मिक विकास को भी सम्पन्न करना है।

आओ, इडा, सरस्वती और मही इन तीनों देवियों को हम अपने व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय जीवन-यज्ञ का अङ्ग बनाकर चहुँमुखी विकास प्राप्त करें।

---

१. मयः सुखं भावयन्तीति।
२. न स्रिध्यन्ते क्षीयन्ते इति। स्रिध हिंसार्थः।
३. षद्लृ उपवेशनार्थः सद को सीद आदेश।
४. महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। —ऋ० १.३.१२
५. चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। —ऋ० १.३.११

२. आँधियों के साथ हे अग्नि! तुम आओ

य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रमर्णवम्। मरुद्भिरग्न आ गहि॥

—ऋ० १.१९.७

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ देवता—अग्निः, मरुतः॥ छन्दः—गायत्री॥

(ये) जो **(ईङ्खयन्ति[१])** चलायमान कर देती हैं **(पर्वतान्)** पर्वतों को, **(तिरः)** तिरछा कर देती हैं **(अर्णवम्[२])** जल के पारावार **(समुद्रम्)** समुद्र को [ऐसी] **(मरुद्भिः)** आँधियों के साथ **(अग्ने)** हे अग्नि! **(आगहि[३])** आओ।

अभी, उस दिन भयङ्कर आग लग गयी। बहुत-सी इमारतें जलकर खाक हो गयीं। कई बालक, युवक, वृद्ध स्त्री-पुरुष प्राण गँवा बैठे। सबके मुख पर था—आग लगी, जन-धन की हानि हुई, बहुत बुरा हुआ। पर वेद तो आग को निमन्त्रण देकर बुला रहा है, वह भी अकेले नहीं, आँधियों के साथ। आँधियाँ भी कैसी? जो पहाड़ों को डिगा दें, समुद्र को तिरछा कर दें। यदि ऐसी विकट आँधियों के साथ आग आयेगी, तो क्या प्रलयङ्कर विनाशलीला उपस्थित नहीं कर देगी? तब क्या आशय है इस ऋचा का?

यह अग्नि, जिसे प्रार्थी बड़ी तीव्र भावना के साथ बुला रहा है, सत्य की अग्नि है, ज्ञान की अग्नि है, सदाचार की अग्नि है, न्याय की अग्नि है, धर्म की अग्नि है, शिवसङ्कल्प की अग्नि है, 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' की अग्नि है। जब किसी बुझी हुई अग्निवाले समाज में या राष्ट्र में कोई महापुरुष इन अग्नियों को जलाना चाहते हैं, तब आँधियाँ साथ लाने पर ही ये जल पाती हैं। बड़े-बड़े आन्दोलनों की या क्रान्तियों की आँधियाँ उठानी पड़ती हैं। सुना नहीं है क्या आपने? कुरीतिग्रस्त समाज की अग्नि जलाने के लिए परम सुधारक दयानन्द ने प्रचार की आँधियाँ चलायीं, धर्मोपदेश और शास्त्रार्थ की आँधियाँ चलायीं, कर्त्तव्यबोध की आँधियाँ चलायीं, स्वयं आँधी बनकर वह देवदूत एक से दूसरे स्थान पर, दूसरे से तीसरे स्थान पर पहुँचता रहा। तब कहीं सफलता मिल पायी, वह भी आंशिक।

राष्ट्र की देवसेनाओं के सेनापति को भी वेद में अग्नि कहा गया है। जब कभी धर्म की स्थापना के लिए युद्ध अनिवार्य हो जाता है, तब सेनापति को ऐसे भुवनत्रासी वीरों की आवश्यकता होती है, जो जङ्गलों, पहाड़ों, सागरों की परवाह न करते हुए, शत्रुदल को विध्वस्त करते हुए आगे बढ़ते चलें। ऐसे ही उग्र वीर-रूप मरुतों के साथ सेनापति-रूप अग्नि का प्रजा आह्वान कर रही है।

अध्यात्म-पथ का राही इस मन्त्र द्वारा अध्यात्म की अग्नि परमात्मा को उन प्राण-रूप मरुतों के साथ बुला रहा है, जो शरीर एवं मन के समस्त दोषों को एवं योगसाधना के विघ्नों को दूर करने का सामर्थ्य रखते हैं।

---

१. ईखि गतौ, भ्वादि, णिजन्त।
२. अर्णांसि जलानि विद्यन्ते यस्मिन् सः अर्णवः।
३. आगहि=आगच्छ। आ गम्, लोट्, छान्दस रूप।

३. हाहाकार और हिंसा दूर हो

सर्वं परिक्रोशं जहि जम्भया कृकदाश्वम्।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ॥

—ऋ० १.२९.७

ऋषिः—शुनःशेपः आजीगर्तिः (कृत्रिमो वैश्वामित्रः देवरातः)॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥

(**सर्वम्**) सब (**परिक्रोशम्**[1]) हाहाकार को (**जहि**) नष्ट कर दो। (**कृक-दाश्वम्**[2]) हत्या-दान को (**जम्भय**[3]) समाप्त कर दो। हे (**तुवी-मघ**[4]) बहुत धनी (**इन्द्र**) समर्थ परमेश, (**नः**) हम सबको (**तु**[5]) शीघ्र ही (**सहस्रेषु**) सहस्रों, (**शुभ्रिषु**) शुभ्र (**गोषु**) गौओं के स्वभाववाली नारियों के बीच में [और] (**अश्वेषु**) घोड़ों के समान बली तथा वेगवान् पुरुषों के बीच में (**आ शंसय**[6]) प्रशंसित कर दो।

चारों ओर हाहाकार मचा हुआ है। तस्कर, डाकू, लुटेरे लोग गरीब-अमीर सबको लूट रहे हैं। बलवान् दुर्जन 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की कहावत चरितार्थ करते हुए निर्बलों को सता रहे हैं। अखबारों की सुर्खियों में रोज दिल दहला देनेवाली घटनाएँ छप रही हैं। आज अमुक बैंक लुट गया। आज अमुक बैंक से पाँच लाख रुपया निकलवाकर ले जा रहे किसी व्यापारिक संस्था के कर्मचारी से सारी राशि छीनकर दो युवक भाग निकले। आज किसी धनी के बालक का अपहरण कर लिया गया, अपहरणकर्त्ताओं ने दो लाख रुपये फिरौती की माँग की है। आज आतङ्कवादियों ने अमुक सरकारी भवन में आग लगा दी।

इसके अतिरिक्त हिंसा का ताण्डव नृत्य भी चल रहा है। 'कृक-दाशु' का, अर्थात् हत्या के व्यवसाय का बोलबाला हो रहा है। रेलगाड़ी के डिब्बों को शक्तिशाली बम-गोलों से उड़ाकर निर्दोष यात्रियों की जान ली जा रही है। यानों में से निरपराध लोगों को उतार कर बन्दूक की गोलियों से भूना जा रहा है। अकारण किसी भी घर में घुसकर उसके सदस्यों को आतङ्कवादियों द्वारा मौत के घाट उतारा जा रहा है।

इस हाहाकार, क्रूरता और हत्या के क्रन्दन से हम ऊब चुके हैं, खून की होली से हम तङ्ग आ चुके हैं। अब तो प्रेम, शान्ति, पारस्परिक स्वागत, अभिनन्दन, भाई-चारे के वातावरण की हम उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे हैं। हम चाहते हैं कि हमारे देश की नारियाँ शुभ्र चरित्रवाली तथा गौओं के सदृश प्रीति एवं परोपकार की देवी बन जाएँ। हमारी आकांक्षा है कि हमारे देश के पुरुष शुभ्र आचारवाले तथा घोड़ों के समान बली एवं वेगवान् होकर अपनी देवसेना सङ्गठित करें। नर-नारी मिलकर देश के गौरव को बढ़ाएँ। हम ताल ठोककर कह सकें—हमारे राष्ट्र में हाहाकार नहीं है, अभिनन्दन है। हमारे राष्ट्र में हिंसा नहीं है, प्रेमालिङ्गन है। हम पर किसी की दोषान्वेषिणी अङ्गुलि न उठे, हम मधुर व्यवहार में प्रशंसित हो जाएँ, कीर्तिमान् हो जाएँ। हमारा अरबों नर-नारियों का समाज परस्पर सौहार्द की पवित्र एवं मधुर डोरी में बद्ध हो जाए। हे प्रेम-धन के धनी, सर्वकर्मक्षम परमेश, तुम हमारे सहायक बन जाओ।

---

१. परितः क्रोशः हाहाकारः। क्रुश आह्वाने रोदने च, भ्वादि।
२. कृकः हिंसा तस्य दाशुः दानम्। कृञ् हिंसायाम्, स्वादि, दाशृ दाने, भ्वादि।
३. जभि नाशने, चुरादि।
४. तुवि बहु मघं धनं यस्य स तुवीमघः। दीर्घ छान्दस।
५. तु क्षिप्रम्। दीर्घ छान्दस।
६. शंसु स्तुतौ, णिच्।

४. हे प्रभु! मेरी भी पुकार सुनो

प्रियमेधवदत्रिवज् जातवेदो विरूपवत्। अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम्॥

—ऋ० १.४५.३

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥

(प्रियमेधवत्) जैसे प्रियमेध की [सुनते हो], **(अत्रिवत्)** जैसे अत्रि की [सुनते हो], **(विरूपवत्)** जैसे विरूप की [सुनते हो], **(अङ्गिरस्वत्)** जैसे अङ्गिरस् की [सुनते हो], वैसे ही **(महिव्रत)** हे महान् व्रतोंवाले **(जातवेदः)** सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी प्रभु! तुम **(प्रस्कण्वस्य)** मुझ प्रस्कण्व की **(हवम्)** पुकार **(श्रुधि)** सुनो।

प्रभु के आगे खड़े-खड़े भले ही दिन-रात पुकार मचाते रहो, पर वे प्रत्येक की पुकार पर कान नहीं देते। वे पुकार सुनते हैं प्रियमेध की, अत्रि की, विरूप की, अङ्गिरस की। प्रियमेध[१] उसे कहते हैं, जिसे मेधा या उत्कृष्ट बुद्धि प्रिय होती है। प्रियबुद्धि मनुष्य सदा बुद्धिसङ्गत प्रार्थनाएँ ही करता है। एक अच्छे-खासे बालक को अकस्मात् यह रोग हो गया कि वह रात्रि में चिल्ला उठता था कि राक्षस पकड़ रहा है, बचाओ, बचाओ, और फिर उसकी घिग्घी बँध जाती थी। उसका कारण था उसके पिता की ओर से छोटी-छोटी बातों पर उसे भयङ्कर ताड़नाएँ और यातनाएँ दिया जाना। पर पिता इस कारण को न समझ, देवी का प्रकोप जान बालक के स्वास्थ्य के लिए देवी-जागरण कराने लगे। यह बुद्धिसम्मत पुकार नहीं थी, इसलिए उनकी पुकार अनसुनी हो गयी। बालक के स्वास्थ्य का बुद्धिसङ्गत उपाय तो यह था कि पिता बालक को शारीरिक यातनाएँ देना बन्द कर देते तथा उस पर प्रेम दर्शाते।

अत्रि (अ-त्रि)[२] उसे कहते हैं, जो आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक तीनों प्रकार की विघ्न-बाधाओं की परवाह न करता हुआ आगे बढ़ने का प्रयास करता रहता है। आधिदैविक बाधाएँ हैं भूकम्प, नदियों की बाढ़, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि। आधिभौतिक बाधाएँ हैं शत्रु मनुष्यों या सिंह, व्याघ्र आदि प्राणियों से उत्पन्न की गयी विपत्तियाँ। आध्यात्मिक बाधाएँ होती हैं शारीरिक रोगों या काम-क्रोध आदि के आक्रमण। इन सब बाधाओं को नगण्य करके आगे बढ़ते रहनेवाले 'अत्रि' की पुकार को भी प्रभु सुनते हैं। भक्षणार्थक 'अद्' धातु से त्रिप् प्रत्यय करने पर भी 'अत्रि' शब्द सिद्ध होता है[३], जिसका अर्थ होता है काम, क्रोध आदि शत्रुओं के वश में न होकर उन्हें खा जानेवाला मनुष्य। उसकी भी प्रार्थना अनसुनी नहीं होती। विरूप[४] उस मनुष्य को कहते हैं, जो विविध अच्छे रूपों को धारण करता है। समाजसेवक, जननेता, दीनोद्धारक आदि अनेक रूप उसके होते हैं। उसकी पुकार भी प्रभु के दरबार में अनसुनी नहीं होती। अङ्गिरस्[५] तपस्वी मनुष्य को कहते हैं मानो जो अङ्गारों पर बैठा हुआ है। उसकी पुकार भी प्रभु द्वारा सुनी जाती है।

कण्व मेधावी का वाचक है। उसके पूर्व 'प्र' लगा देने पर अतिशय अर्थ सूचित होता है। अतः प्रस्कण्व का अर्थ है अतिशय मेधावी। मन्त्र में प्रस्कण्व कह रहा है कि हे महान् व्रतोंवाले[६] अग्नि प्रभु! जैसे तुम प्रियमेध आदि की पुकार सुनते हो, वैसे ही मेरी भी पुकार सुनो तथा मुझे सङ्कटों से जूझने का बल देकर मेरा उद्धार करो। जैसे तुम महान् व्रतोंवाले हो, वैसे ही मुझे भी महाव्रतों का पालनकर्त्ता बना दो।

---

१. प्रियमेधः प्रिया अस्य मेधा, निरु० ३.१७।
२. (अत्रिवत्) न विद्यन्ते त्रय आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकास्तापा यस्य तद्वत्। —दयानन्द
३. अद् भक्षणे, अदेस्त्रिनिश्च उ० ४.६९ से त्रिप्।
४. विरूपो नानारूपः, निरु० ३.१७। (विरूपवत्) विविधानि रूपाणि यस्य तद्वत्। —दयानन्द
५. अङ्गारेष्वङ्गिराः, निरु० ३.१७।
६. महिव्रतो महाव्रतः, वही।

५. हे मानव! इन्द्र की अर्चना कर

अर्चा शक्राय शाकिने शचीवते शृण्वन्तमिन्द्रं महयन्नभि ष्टुहि।
यो धृष्णुना शवसा रोदसी उभे वृषा वृषत्वा वृषभो न्यृञ्जते॥

—ऋ० १.५४.२

ऋषिः—सव्यः आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—जगती॥

(**अर्च**[१]) अर्चना कर (**शक्राय**[२]) शक्तिशाली, (**शाकिने**[३]) सशक्त प्रशस्त गुणों के स्वामी, (**शचीवते**[४]) प्रज्ञावान् एवं कर्मपरायण प्रभु के लिए। (**शृण्वन्तम्**) [तेरे गीतों को] सुनते हुए (**इन्द्रम्**) इन्द्र प्रभु की (**महयन्**[५]) महिमा-गान करता हुआ (**अभि स्तुहि**) बढ़-बढ़कर स्तुति कर। (**वृषा**) सेचन-समर्थ, (**वृषभः**) आनन्दवर्षक (**यः**) जो इन्द्र प्रभु (**वृषत्वा**[६]) अपने सेचक तथा वर्षक गुण से, और (**धृष्णुना शवसा**) धर्षक बल से (**रोदसी उभे**) भूमि-आकाश दोनों को (**नि ऋञ्जते**[७]) प्रसाधित-अलङ्कृत करता है।

हे मानव! तू इन्द्र की अर्चना कर, मन से झूम-झूमकर प्रभु के गीत गा। तू कहेगा—मैं तो न जाने कब से अर्चना कर रहा हूँ, धूप-दीप जला रहा हूँ, गीत गा रहा हूँ, ताल दे रहा हूँ, शङ्ख-घड़ियाल-मंजीरे बजा रहा हूँ, नृत्य कर रहा हूँ, पर प्रभु सुनते ही नहीं हैं। यदि ऐसा है, तो तेरी अर्चना में ही कोई त्रुटि होगी। बाह्य आडम्बर को तू जितना ही कम करेगा और अपने मन को प्रभु में जितना ही रमायेगा, उतना ही प्रभु तेरी सुनेंगे। तुझे स्वयं अनुभव हो जाएगा कि अब प्रभु मेरी ओर उन्मुख हुए हैं, मेरे गीतों में कुछ रस लेने लगे हैं। उस क्षण तू अपनी स्तुति को और अधिक तीव्र कर देना। अपने मन और आत्मा को प्रभु में केन्द्रित करके प्रभु-महिमा के गीतों में जान डाल देना।

तू पूछेगा, प्रभु-भक्ति से मुझे क्या मिलेगा? तू प्रभु के गुणों को अपने अन्दर धारण करने लगेगा। देख, इन्द्र प्रभु 'शक्र' हैं, समर्थ हैं, शक्तिशाली हैं, उन्हें कार्यसिद्धि के लिए किसी पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। उनकी भक्ति से तू भी अधिकाधिक समर्थ एवं शक्तिशाली होता चलेगा। इन्द्र प्रभु 'शाकी' हैं, सशक्त गुणों के स्वामी हैं। तू भी सशक्त गुणों का राजा बन जाएगा। न्याय, दया, सत्य, अहिंसा, निष्पक्षता आदि गुण अपनी पूरी शक्ति के साथ तुझमें आकर समाविष्ट हो जाएँगे। इन्द्र प्रभु 'शचीवान्' हैं। शची शब्द वेद में वाणी, प्रज्ञा और कर्म तीनों अर्थों में आता है। प्रभु वाणी के धनी भी हैं, प्रज्ञावान् भी हैं और कर्मशूर भी हैं। वे तेरी वाणी में चमत्कार ला देंगे, तुझे प्रज्ञावान् और कर्मठ बना देंगे।

इन्द्र प्रभु की महिमा को देख। वे रस-सेचन में समर्थ हैं, वर्षक हैं। उन्होंने अपने इन गुणों से तथा अपराजेय धर्षक बल से द्यावापृथिवी को सजाया-सँवारा है। द्युलोक में विद्यमान सूर्य तथा तारावलियों की चमक-दमक क्या तुझे मुग्ध नहीं कर लेती? भूलोक की हरियाली, पुष्पसज्जा, हिम-किरीट धारण किये हुए पर्वत, झरने, प्रपात, जलस्रोत, सरिताएँ, समुद्र, मणि-मुक्ता, चाँदी-सोना क्या तुझे आकृष्ट नहीं करते? जैसे प्रभु ने बाहर के द्यावापृथिवी को सुसज्जित किया है, वैसे ही वे तेरे अन्दर के द्यावापृथिवी अर्थात् आत्मलोक एवं देहलोक को भी सद्गुण-गरिमा, तेजस्विता, विपुल शक्ति आदि से अलङ्कृत कर देंगे। आओ, हम सभी मिल कर इन्द्र प्रभु के स्तुति-गीत गायें।

---

१. अर्च पूजायाम्, भ्वादि। संहिता में 'अर्चा', छान्दस दीर्घ।
२. शक्लृ शक्तौ। शक्नोति समर्थो भवतीति शक्रः, उणादि रक् प्रत्यय।
३. (शाकिने) प्रशस्ताः शाकाः शक्तियुक्ता गुणा विद्यन्ते यस्मिंस्तस्मै—दयानन्द।
४. शची=वाणी, कर्म, प्रज्ञा, निघं० १.११, २.१, ३.९।
५. महयति=अर्चति, निघं० ३.१४। मह पूजायाम्, चुरादि, महयति-महयते।
६. वृषत्वा=वृषत्वेन। वृषत्व से तृतीया एकवचन में सवर्णदीर्घ।
७. ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा, निरु० ६.२१।

६. प्रभु-भक्तों को क्या मिलता है?

असमं क्षत्रमसमा मनीषा प्र सोमपा अपसा सन्तु नेमे।
ये त इन्द्र ददुषो वर्धयन्ति महि क्षत्रं स्थविरं वृष्ण्यं च॥

—ऋ० १.५४.८

ऋषिः—सव्यः आङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥

(असमम्) अद्वितीय [हो] **(क्षत्रम्)** बल, **(असमा)** अद्वितीय [हो] **(मनीषा)** बुद्धि। **(सोमपाः)** भक्तिरस का पान करनेवाले **(नेमे)** सब लोग **(अपसा[१])** कर्म द्वारा **(प्र सन्तु)** प्रशस्त होवें, **(ये)** जो **(इन्द्र)** हे परमेश्वर, **(ददुषः[२] ते)** तुझ दाता की **(महि)** महान् **(क्षत्रम्[३])** क्षत से त्राण करने की शक्ति को **(च)** और **(स्थविरम्)** प्रवृद्ध **(वृष्ण्यम्[४])** वर्षा करने के गुण को **(वर्धयन्ति)** बधाई द्वारा बढ़ाते हैं।

क्या तुमने कभी भक्ति-रस का पान किया है? क्या तुम कभी प्रभु-भक्ति में लवलीन हुए हो? क्या तुमने स्वयं को कभी प्रभु के समर्पण किया है? इस भक्ति में, इस लवलीनता की स्थिति में, इस समर्पण-भाव में जो मादकता है, वह क्या कभी तुमने अनुभव की है? यदि तुम सच्चे भाव से प्रभु के भक्त बने हो, तो तुमने अवश्य ही प्रभु के उपकारों को स्मरण किया होगा, हृदयङ्गम किया होगा, और तुम्हारे मन से अनायास ही उसके प्रति बधाई की भावनाएँ उमड़ पड़ी होंगी। तब निश्चय ही तुमने ये उद्‌गार प्रकट किये होंगे कि बधाई हो उस इन्द्र को जो महादानी है, धन्यवाद हो उस जगदीश्वर को जिसने हमें हमारे उपयोग की जल, वायु, ताप, प्रकाश, फूल-फल, कन्द-मूल, वन-पर्वत, नदी-नद, हीरे-पन्ने-मोती, सोना-चाँदी आदि वस्तुएँ बिना मूल्य लिये उत्पन्न की हैं। निश्चय ही तुम्हारे मुख से निकला होगा कि बधाई हो उस राजराजेश्वर को जिसका क्षात्र-बल, जिसकी दीन-दुःखियों की रक्षा करने की शक्ति, जिसका निर्बलों की लाठी बनने का स्वभाव बहुत-बहुत महान् है, अपरंपार है, निःसीम है। बरबस तुम यह कह उठे होगे कि धन्य है वह ब्रह्माण्ड का अधिपति, जो असहायों पर सत्परामर्श की वर्षा करता है, ज्ञान-विज्ञान और सदुपदेश की वर्षा करता है, न्याय, दया, उदारता आदि सद्‌गुणों की वर्षा करता है, सत्य एवं सुमति की वर्षा करता है।

पर यदि तुम प्रभु की प्रशंसा, प्रभु के अभिनन्दन, प्रभु के प्रति किये गये नमन को ही सब कुछ समझ बैठे हो तो भूल करते हो। भक्ति के साथ कर्म और पौरुष भी अनिवार्य है। प्रभुभक्ति से तो तुम्हें सही दिशा में चलने की प्रेरणा एवं पुरुषार्थ के प्रति उत्साह और बड़े-बड़े विघ्नों को पराजित करने का बल ही प्राप्त होगा। विजय एवं कार्यसिद्धि तो तुम्हें स्वयं ही प्राप्त करनी है। कर्म की महिमा को तुम समझ लोगे, तो प्रभुभक्ति तुम्हें अद्वितीय शक्ति प्रदान करेगी, अद्वितीय बुद्धि-वैभव का उपहार देगी। प्रभुभक्ति तुम्हें क्षतों से त्राण करने का सामर्थ्य, दुःखियों के दुःख हरने का उत्साह और बल प्रदान करेगी। प्रभुभक्ति तुम्हें बुद्धिमान्, मनीषी, विपश्चित् और दूरदर्शी बनायेगी।

---

१. अपस्=कर्म, निघं० २.१।
२. ददुषः दत्तवतः। डुदाञ् दाने, लिट्, क्वसु, ददिवान्, तस्य ददुषः।
३. क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः। —कालिदास, रघुवंश २.५३
४. वृष सेचने, औणादिक नक् प्रत्यय, वृष्णः वर्षकः। वृष्णस्य भावः वृष्ण्यम्।

७. प्रभु का आदेश है कर्म करो

पितुर्न पुत्राः क्रतुं जुषन्त श्रोषन् ये अस्य शासं तुरासः।
वि राय औणोंद् दुरः पुरुक्षुः पिपेश नाकं स्तृभिर्दमूनाः॥

—ऋ० १.६८.५

ऋषिः–शाक्त्यः पराशरः॥ देवता–अग्निः॥ छन्दः–पङ्क्तिः॥

(**पितुः न शासं पुत्राः**) जैसे पिता के आदेश को पुत्र [सुनकर कर्म का सेवन करते हैं, वैसे ही] (**ये**) जो लोग (**अस्य**) इस अग्नि नामक परमेश्वर के (**शासम्**[१]) आदेश को (**श्रोषन्**[२]) सुनते हैं, वे (**तुरासः**[३]) त्वरायुक्त होकर (**क्रतुम्**) कर्म को (**जुषन्त**[४]) सेवन करने लगते हैं। वह अग्नि प्रभु (**रायः**) ऐश्वर्य के (**दुरः**) द्वारों को (**वि और्णोत्**[५]) उद्घाटित कर देता है। (**दमूनाः**[६]) दान में मनवाला वह (**स्तृभिः**[७]) [सद्गुण-रूप] नक्षत्रों से (**नाकम्**[८]) [आत्मा-रूप] द्युलोक को (**पिपेश**[९]) अलङ्कृत करता है।

परिवार में पुत्र अनुभवी पिता के आदेश को सुनकर तदनुसार कर्म करते हैं, तभी परिवार उन्नत होता है। यदि पुत्र पिता के ज्ञान और अनुभव से लाभ न उठाकर अपनी इच्छानुसार कर्म करें, तो आशङ्का रहती है कि कहीं वे गलत राह पकड़कर भूलभुलैयों में न भटकते रहें। पिताओं का भी पिता 'अग्नि' नामक परमेश्वर है, क्योंकि वह सबका अग्रनेता है। क्या हम उसके आदेश को नहीं सुन सकते? परन्तु उसका आदेश इन बाह्य कानों से सुनायी नहीं देता। बाहर के कान बन्द करके अन्दर के कान खोलने पड़ते हैं। तब वैसे ही स्पष्टरूप में उसकी प्रेरणा सुनायी देती है, जैसे बाह्य कानों से हम कोई तीव्र शब्द सुनते हैं। जो प्रभु के आदेश को सुनने के अभ्यासी हो जाते हैं, वे इसमें रस लेने लगते हैं। पर जो लोग परम प्रभु से ऐसा सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते, उनके लिए प्रभु ने वेदों में अपना आदेश भर दिया है। वेद के माध्यम से हम प्रभु का आदेश सुनकर उसके अनुकूल कर्म कर सकते हैं।

किन्तु परमेश्वर के आदेश के अनुकूल कर्म करने से मिलता क्या है? परमेश 'पुरु-क्षु' हैं। 'क्षु' शब्द वैदिककोष निघण्टु में अन्नवाचक शब्दों में पठित है। इसका व्यापक अर्थ लेने पर इसमें सब प्रकार का ऐश्वर्य आ जाता है। 'पुरु' का अर्थ है बहुत। अतः परमेश्वर के 'पुरुक्षु' होने का तात्पर्य है कि वे अनन्त ऐश्वर्यों के अधिपति हैं। वे अपने आदेश का पालन करनेवालों के लिए ऐश्वर्य के सब द्वार उद्घाटित करके उन्हें ऐश्वर्यों का स्वामी बना देते हैं। प्रभु 'दमूनाः' हैं, दान में मन लगाने वाले हैं, अर्थात् परमदानी हैं। जैसे उन्होंने द्युलोक को अगणित चमकीले नक्षत्र दे रखे हैं, वैसे ही वे अपने आदेश के अनुकूल कर्म करनेवाले के आत्मा को अनगिनत सद्गुण-रूप नक्षत्रों से चमका देते हैं। सत्य, न्याय, दया, उदारता आदि के सद्गुणों से देदीप्यमान उसका आत्मा रात्रि-काल के द्युलोक के समान जगमग करने लगता है।

आओ, हम भी प्रभु के आदेश को सुनें, पालन करें और ऐश्वर्यवान् होकर तारकावलि से आकाश के समान सद्गुणों से भासमान होवें।

---

१. शासु अनुशिष्टौ, अदादि। शास=अनुशासन=आदेश।
२. श्रु श्रवणे, लेट्, प्रथमपुरुष बहुवचन।
३. तुर त्वरणे, तुराः, जस् को असुक्, तुरासः।
४. जुषी प्रीतिसेवनयोः। जुषन्त=अजुषन्त। लट् अर्थ में लङ्।
५. ऊर्णुञ् आच्छादने, वि पूर्वक उद्घाटन अर्थ में।
६. दमूनाः दानमनाः, निरु० ४.४।
७. स्तृ=नक्षत्र, निरु० ३.२०।
८. नाक=सूर्य, द्युलोक, निघं० १.४।
९. पिश अवयवे, तुदादि।

८. गोतम को उद्बोधन

प्र पूतास्तिग्मशोचिषे वाचो गोतमाग्नये। भरस्व सुम्नयुर्गिरः॥

—ऋ० १.७९.१०

ऋषिः–गोतमः राहूगणः॥ **देवता**–अग्निः॥ **छन्दः**–गायत्री॥

(गोतम) हे गोतम! **(सुम्नयुः)** अपने और दूसरों के लिए सुख की इच्छा रखनेवाला [तू] **(तिग्मशोचिषे)** तीव्र शक्ति एवं पवित्र प्रकाशवाले **(अग्नये)** अग्रणी[१] प्रभु के सम्मुख **(पूताः)** पवित्र, **(वाचः)** निवेदन करनेवाली[२] **(गिरः)** वाणियों को **(प्र भरस्व[३])** प्रकृष्टरूप से ला।

गौ का योगार्थ है गन्ता, आगे जानेवाला। जो सबसे अधिक अग्रगन्ता है, वह गोतम कहलाता है।[४] गोतम शब्द उत्कृष्ट स्तोता का भी वाचक होता है।[५] गोतम को यदि जनता का नेतृत्व करना है, लोगों से स्तुति पानी है, लोगों को अपने सम्मुख झुकाना है, तो उसे भी किसी का स्तोता बनना होगा, किसी के सम्मुख झुकना होगा।

हे गोतम! यदि नेतृत्व का भार तूने अपने कन्धों पर उठाया है तो तुझे 'सुम्नयु'[६] बनना होगा। सुम्न का अर्थ सुख होता है, उसके आगे 'य' क्यच् प्रत्यय का लगा है, जो क्यच् वेद में अपने तथा दूसरे दोनों के लिए किसी बात को चाहने के अर्थ में होता है। क्यच् के बाद 'उ' प्रत्यय आकर सुम्नयु शब्द बना है। हे गोतम! तुझे न केवल अपने सुख की, अपितु दूसरों के सुख की भी चाहना करनी होगी। बल्कि यह कहना अधिक ठीक है कि अपने सुख को तिलांजलि देकर जनता के सुख की चिन्ता करनी होगी। और अपने अनुयायियों को सुख तू तब दे सकेगा जब किसी अपने से बड़े के आगे झुककर उससे अटूट शक्ति तथा प्रकाश पा लेगा। अतः शक्ति एवं प्रकाश का सञ्चय करने के लिए तू अग्निप्रभु के सम्मुख अपनी स्तुतिवाणियों का उपहार ला। अग्नि प्रभु 'तिग्मशोचिः'[७] हैं, तीव्र शक्ति एवं प्रकाश के पुञ्ज हैं। उनसे शक्ति एवं प्रकाश पाकर तुझे जन-जन का नेतृत्व करना और उन्हें सुख देना आसान हो जाएगा। जब तक अपने सामने मार्ग स्पष्ट न हो, तब तक दूसरे को उस मार्ग पर नहीं चलाया जा सकता। मार्गदर्शन के लिये बल भी चाहिए और प्रकाश भी चाहिए, जो तुझे अग्निप्रभु से प्राप्त हो सकेगा। परन्तु याद रख, अग्निप्रभु को दिया स्तुतिवाणियों का नैवेद्य 'पूत' होना चाहिए। अपवित्र वस्तु न प्रभु को अर्पित की जाती है, न ही प्रभु उसे स्वीकार करते हैं। वाणियों की पवित्रता आती है, मन की और आत्मा की पवित्रता से। इसलिए हे गोतम! तू अपने मन और आत्मा को पवित्र करके पवित्र वाणियों से प्रभु को रिझा, और उनसे शक्ति एवं प्रकाश पाकर जन-नेतृत्व एवं जन-सौख्य में जुट जा। प्रभु का आशीर्वाद तुझे प्राप्त होता रहेगा।

---

१. अग्निः कस्मात्? अग्रणीर्भवति। निरु० ७.१४
२. उच्यते याभिः ताः वाचः। वच परिभाषणे अदादिः।
३. प्र भरस्व=प्र हरस्व। हृञ् हरणे, हृग्रहोर्भश्छन्दसि (वा०) से ह् को भ्।
४. गच्छतीति गौः गन्ता, अतिशयेन गौः गोतमः, गन्तृतमः।
५. गौः स्तोता, निघं० ३.१६, अतिशयेन गौः गोतमः, स्तोतृतमः।
६. सुम्नं सुखम्, निघं० ३.६, सुम्नं सुखम् आत्मनः परेषां च इच्छतीति सुम्नयुः। सुप आत्मनः क्यच् पा० ३.१.८, छन्दसि परेच्छायामपि (वार्तिक)। क्याच्छन्दसि, पा० ३.२.१७० से उ प्रत्यय।
७. तिग्मं तीक्ष्णं शोचिः शक्तिः प्रकाशो वा यस्य स तिग्मशोचिः।

९. दूर जा गिरे वह जो विनाश करने आता है

यो नों अग्नेऽभिदासत्यन्ति दूरे पदीष्ट सः। अस्माकमिद् वृधे भव॥

—ऋ० १.७९.११

ऋषिः—गोतमः राहूगणः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥

(**यः**) जो (**नः**) हमें (**अग्ने**) हे अग्रनेता प्रभु! तथा हे मेरे आत्मन्! (**अन्ति**) हमारे समीप आकर (**अभिदासति**[1]) विनष्ट करता है, (**दूरे पदीष्ट**[2] **सः**) दूर जा गिरे वह। तुम (**अस्माकम्**) हमारी (**इत्**) निश्चय ही (**वृधे**[3]) वृद्धि एवं उन्नति के लिए (**भव**) होवो।

हमारी विनाश-लीला का भी कुछ हिसाब-किताब नहीं है। न जाने कौन-कौन हमें विनष्ट करने में हिस्सा लेते हैं। वे हमारे साथ समीपता स्थापित करते हैं और प्रहार कर बैठते हैं। शत्रु तो विनाशक होते ही हैं, बहुत बार मित्र भी विनाश की ओर ले जाते हैं। वह मित्र ही तो था जो उस दिन मुझे सुन्दर शास्त्रीय नृत्य दिखाने का प्रलोभन देकर ले गया था। जाकर देखा तो वहाँ विनाश का पूरा प्रबन्ध था। जैसे-तैसे बचकर निकला। वह भी मित्र ही था जिसके साथ साझे के व्यापार में मैंने अपना सारा धन लगा दिया था, और उसने व्यापार में घाटा दिखाकर मुझे दर-दर का भिखारी बनाकर छोड़ दिया। हमारे अपने विचार और हमारी अपनी दुर्बलताएँ भी विनाश के कारण बनती हैं। धर्म का विनाश, धन का विनाश, स्वास्थ्य का विनाश, प्रियजन का विनाश, शक्ति का विनाश, स्वाध्याय का विनाश, पवित्रता का विनाश, जप-तप का विनाश आदि अनेकविध विनाशों से हम ग्रस्त होते रहते हैं। कभी अधूरे विनाश के बाद हम सँभल जाते हैं और कभी पूर्ण विनाश ही होकर रहता है, जिसके बाद नये सिरे से हमें धर्म, धन आदि की पूँजी संग्रह करने का अथक प्रयास करना पड़ता है।

पर आज से हम सजग हो रहे हैं। अग्रनेता परमेश्वर से हम प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! हमें ऐसा बल दो कि जो भी हमें विनष्ट करने के लिए हमारे समीप आये, वह हमारे प्रतिघात से दूर जा गिरे। हम अपने आत्मा को भी जागरूक करते हैं। हे मेरे आत्मन्! तुम वस्तुतः दुर्बल नहीं हो, अपने आलस्य और प्रमाद से दुर्बल बने हुए हो। कर दो शङ्खघोष और टूट पड़ो विनाश करनेवालों पर। छक्के छुड़ा दो आन्तरिक और बाह्य दुर्दान्त रिपुओं के। हे परमात्मा! और हे मेरे आत्मा! इस प्रकार विनाश से बचाकर तुम हमें वृद्धि और उन्नति के मार्ग पर ले चलो। शारीरिक, मानसिक आत्मिक, सामाजिक सर्वविध उन्नति में हमें अग्रणी बना दो। हे अग्रनायक परमात्मन्! तुमसे हम शक्ति की याचना करते हैं। हे हमारे जीवात्मन्! तुम्हें हम जगाते हैं, उद्बोधन देते हैं, उत्साहित करते हैं।

---

१. अभि, दसु उपक्षये, दिवादि। णिच्, दासयति। णिलोप, दासति।
२. पदीष्ट=पत्सीष्ट। पद गतौ, दिवादि, आत्मनेपदी, लिङ् छान्दस रूप।
३. वृधु वृद्धौ, भ्वादि। भाव अर्थ में क्विप् प्रत्यय। चतुर्थी, एकवचन।

१०. कुएँ को प्यासे के पास ले जाते हैं

ऊर्ध्वं नुनुद्रेऽवतं त ओजसा दादृहाणं चिद् विभिदुर्वि पर्वतम्।
धमन्तो वाणं मरुतः सुदानवो मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे॥

—ऋ० १.८५.१०

ऋषिः—गोतमः राहूगणः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—जगती॥

(**ऊर्ध्वं नुनुद्रे**[१]) ऊपर प्रेरित करते हैं, उखाड़ ले जाते हैं (**अवतम्**[२]) कुएँ को (**ते**) वे [सहृदय, वीर लोग] (**ओजसा**) बल से। (**दादृहाणं**[३] **चित्**) दृढ़ भी (**पर्वतम्**) पर्वत को, बाधा को (**बिभिदुः**[४]) तोड़-फोड़ देते हैं। (**धमन्तः**[५]) बजाते हुए (**वाणम्**) सितार को (**सुदानवः**[६]) सुदानी (**मरुतः**) मनुष्य (**सोमस्य**) सोम-रस के (**मदे**) मद में (**रण्यानि**[७]) रमणीय कार्यों को (**चक्रिरे**) करते हैं।

क्या तुमने सुना है कि कभी कुआँ प्यासे के पास गया हो? यदि नहीं सुना, तो आज वेद की वाणी में सुन लो। वेद के मरुद्गण कुएँ को प्यासे के पास ले जाते हैं। मरुत् हैं वे सहृदय, उत्साही, परदुःखकातर लोग जो सदा दीन-दुःखियों की सेवा में तत्पर रहते हैं। कहीं भूकम्प से तवाही मचती है, कहीं दुर्भिक्ष पड़ता है, कहीं नदी की बाढ़ से लोग बेघरबार हो जाते हैं, कहीं ज्वालामुखी फटने से विनाशलीला होती है, तब ये सहृदय लोग कुएँ को ही प्यासों के पास ले जाते हैं, क्योंकि प्यासे लोग कुएँ के पास पहुँचने में असमर्थ होते हैं। कुएँ से अभिप्रेत हैं वे सब वस्तुएँ जिनकी आपद्ग्रस्त लोगों को आवश्यकता होती है। वे पुरुषार्थी दयावान् लोग सङ्कटग्रस्त बच्चों, बूढ़ों, नर-नारियों के तन ढकने तथा शीतादि उपद्रव से त्राण के लिए सूती-ऊनी वस्त्र पहुँचाते हैं, क्षुधार्तों की क्षुधा हरने के लिए खाद्य-पेय सामग्री पहुँचाते हैं, चिकित्सा के लिए ओषधियाँ आदि पहुँचाते हैं, बे-घर लोगों को छत-तले करने के लिए तम्बू, शामियाने, टीनें, काष्ठगृह आदि सुलभ कराते हैं। इन कार्यों में विघ्न डालने के लिए जो बीच में पहाड़ आते हैं, अर्थात् विकट-से-विकट बाधाएँ आती हैं, उनसे भी ये लोहा लेते हैं।

जहाँ आपत्काल में ये मानवसेवाव्रती लोग आपत्ति से प्रभावित जनों के त्राण के लिए देवदूत का कार्य करते हैं, वहाँ शान्तिकाल में ये राष्ट्रप्रेम की सितार बजाते हुए सोम-रस के मद में अन्य रमणीय व्रतों का निर्वाह करते रहते हैं। ज्ञान, उत्साह, पुरुषार्थ, कर्मण्यता आदि के सोमरस का पान किया होने के कारण ये सदा कुछ करने के लिए मतवाले रहते हैं, मचलते रहते हैं। ये अहिंसा, सत्य, तप, न्याय, धर्मचर्या आदि की वीणा बजाते हैं। ये स्वभाव से 'सु-दानु' होने के कारण मन, वचन और कर्म से लोकहित के ही कार्यों में लगे रहते हैं।

आओ, इन मरुतों का हम जयजयकार करें।

---

१. नुनुद्रे=नुनुदिरे। णुद प्रेरणे, तुदादि, लिट्, छान्दस रूप।
२. अवत=कूप, निघं० ३.२३।
३. दृह वृद्धौ, भ्वादि। लिट्, कानच्।
४. भिदिर् विदारणे, रधादि, लिट्।
५. ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः, धातु को धम आदेश, शतृ।
६. शोभनानि दानूनि दानानि भेषां ते।
७. रण शब्दे, भ्वादिः। रणितुं शब्दयितुं स्तोतुं योग्यानि रण्यानि, रमणीयानीति भावः।
८. सायण ने अपने भाष्य में इस मन्त्र पर एक आख्यायिका लिखी है। गोतम ऋषि ने प्यास से पीड़ित होकर मरुतों से पानी माँगा। मरुद्गण समीपस्थ एक कुएँ को उखाड़कर ले गये और ऋषि के समीप स्थापित कर दिया। पास ही एक जलागार बनाकर कुएँ से पानी खींचकर उसमें भर दिया और ऋषि की प्यास बुझायी।

११. हमें निन्दा और पाप से बचाओ

उरुष्या णो अभिशस्तेः सोम नि पाह्यंहसः। सखा सुशेव एधि नः॥

—ऋ० १.९१.१५

ऋषिः—गोतमः राहूगणः॥ देवता—सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥

(**उरुष्य**[१]) बचाओ (**नः**[२]) हमें (**अभिशस्तेः**[३]) निन्दा से। (**सोम**) हे सोम! (**निपाहि**[४]) पूर्णतः बचा लो (**अंहसः**) पाप से। (**सखा**) साथी, (**सु-शेवः**[५]) बहुत सुखदायक (**एधि**[६]) हो जाओ (**नः**) हमारे लिए।

हमारी निन्दा या तो तब होती है जब हम असत्कर्म करते हैं, या तब होती है जब हमारे सत्कर्म किसी की स्वार्थपूर्ति में बाधक बन रहे होते हैं। इनमें से दूसरे प्रकार की निन्दा की तो हमें परवाह नहीं है, क्योंकि उस स्थिति में हम तो अपने कर्त्तव्य का ही पालन कर रहे होते हैं, निन्दा वे करते हैं जिनके स्वार्थों को हमारे कर्त्तव्यपालन से हानि पहुँचती है। परन्तु प्रथम प्रकार की निन्दा का भाजन होने से तो हमें बचना ही चाहिए। हे सोम प्रभु! हे निष्कलङ्कता के देव, तुम हमें असत्कर्मों से हटाकर उनके कारण होनेवाली निन्दा से हमारा उद्धार कर दो।

हे मेरे सोम राजा! तुम हमें अंहस् से भी बचा लो। 'अहंस्' में हिंसार्थक हन् धातु है। अंहस् पाप को कहते हैं, क्योंकि उससे स्वयं को भी हानि पहुँचती है तथा दूसरों को भी। शास्त्रकारों ने ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी, उठाईगिरी, व्यभिचार, पाप करके उसे छिपाने के लिए असत्य बोलना, धरोहर को हड़प लेना, गो-वध, गुरु एवं माता-पिता की उपेक्षा, कन्याविक्रय, मिलावटी माल बेचना, कम तोलना, पापी जनों से संसर्ग करना, हरे वृक्षों को काटना आदि कर्म पापों में परिगणित किये हैं। अन्य भी मनस्ताप एवं सामाजिक कष्ट उत्पन्न करनेवाले कार्य पाप की श्रेणी में आते हैं। कर्त्तव्य पालन करने एवं पापों को न करने का व्रत लेकर हम निन्दा से बच सकते हैं।

संस्कृत के भर्तृहरि कवि ने कहा है—"कुछ सत्-पुरुष होते हैं, जो स्वार्थ को तिलाञ्जलि देकर परार्थ-साधन करते हैं। दूसरे कुछ सामान्य जन होते हैं, जो वहीं तक परार्थ-साधन करते हैं जहाँ तक स्वार्थहानि न होती हो। तीसरे मानुष-राक्षस होते हैं जो स्वार्थ-साधन के लिए परहित को नष्ट करते हैं। चौथे जो निष्प्रयोजन ही परहित को नष्ट करते हैं, उन्हें क्या नाम दें, समझ नहीं आता[७]।" हम यदि यशस्वी होना चाहते हैं तो हमें चाहिए कि हम कवि के दिये हुए इन विकल्पों में से प्रथम कोटि का बनें। प्रथम कोटि का नहीं बन सकते तो द्वितीय कोटि का बनें। तीसरी और चौथी कोटि तो सर्वथा त्याज्य हैं।

हे सोम प्रभु! तुम सौम्य हो, निर्दोष हो, अनिन्द्य हो, कीर्तिमान् हो, वन्दनीय हो। मेरे लिए तुम 'सु-शेव' हो, सुखदायक हो। आओ, दिव्य आनन्द के दाता बन जाओ।

---

१. उरुष्यती रक्षाकर्मा, निरु० ५.२३। 'उरुष्या' में दीर्घ 'ऋचि तु नु घ मक्षु तङ् कुत्रोरुष्याणाम्', पा० ६.३.१३३ से।
२. संहिता में नो=णो। 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः', पा० ८.४.६७ से न् को णत्व।
३. अभि, शंसु स्तुतौ, भावे क्तिन्। अभि पूर्वक शंस् निन्दार्थक।
४. निपाहि नितरां पाहि। पा रक्षणे, अदादिः।
५. शेव=सुख, निघं० ३.६। शोभनं शेवं सुखं यस्मात् स सुशेवः।
६. अस भुवि, अदादिः। एधि, लोट्, मध्यमपुरुष, एकवचन।
७. एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये, सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये। तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये, ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे। —नीतिशतक

१२. पूर्णिमा के चाँद बन कर मेरे हृदयाकाश में बसो

सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः।
आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व॥

—ऋ० १.९१.१८

ऋषिः—गोतमः राहूगणः॥ देवता—सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

हे सोम प्रभु! तुझसे हमें (**सम्**) संप्राप्त हों (**ते**) तेरे (**पयांसि**) प्रेम-रस, (**उ**) और (**सं यन्तु**) संप्राप्त हों (**वाजाः**) बल। (**सम्**) संप्राप्त हों (**वृष्ण्यानि**) वर्षक गुण (**अभिमातिषाहः**) [तुझ] अभिमान-विनाशक के। (**आप्यायमानः**[1]) बढ़ता हुआ (**अमृताय**) अमृत-प्रदान के लिए (**सोम**) हे सोम प्रभु! तू (**दिवि**) आत्मा-रूप द्युलोक में (**उत्तमानि**) उत्तम (**श्रवांसि**[2]) यशों को (**धिष्व**[3]) धारण करा, प्रदान कर।

हे सोम! हे मेरे हृदयाकाश के चन्द्र! तुम मुझे अपना रस प्रदान करो। चन्द्रमा भी तो चाँदनी का रस देता है, ऐसे ही हे प्रभु! तुम मेरे ऊपर अपना प्रेम-रस सींचो। तुम्हारे मधुर प्यार से, तुम्हारे स्नेह-दुलार से मेरा मन पुलकित हो जाएगा। हे मेरे मानस के चाँद! तुम मुझे सौम्य आत्मबल और मनोबल प्रदान करो। अपनी सौम्य बलवर्द्धक रश्मियाँ मेरे ऊपर डालकर मुझे निहाल कर दो। जिसके अन्दर सौम्य बल होता है उसकी सौम्यता, मधुरता एवं स्निग्धता से आकृष्ट होकर शत्रु भी उसका मित्र बन जाता है, उससे प्रेम करने लगता है। जैसे चन्द्रमा समुद्र-जल को अपनी ओर खींचता है, वैसे ही वह जन-जन को अपनी ओर आकृष्ट करता है। मुझे भी तुम ऐसा बल प्रदान करो।

हे सोमदेव! तुम मुझे अपनी वर्षकता प्रदान करो। जैसे चन्द्रमा अपनी रुपहली रश्मियाँ बरसाकर ओषधि-वनस्पतियों की वृद्धि करता है, वैसे ही तुम भी अपने सखा को स्नेह-रश्मियों की वृष्टि से समृद्ध कर देते हो। यह अपना वर्षकता का गुण मुझमें भी भर दो। मैं भी दूसरों पर प्यार बरसा कर उनकी सहायता करूँ, उनका पोषण करूँ। उनपर तन बरसाऊँ, मन बरसाऊँ, धन बरसाऊँ।

हे सोम परमेश! जैसे चन्द्रमा आकाश में एक-एक कला बढ़ते-बढ़ते एक दिन षोडशकला-समन्वित परिपूर्ण चाँद हो जाता है, ऐसे ही तुम मेरे हृदय में बढ़ो। असल में चन्द्रमा घटता-बढ़ता नहीं है, वैसा दीखने के कारण उसमें घटने-बढ़ने का व्यवहार होता है। ऐसे ही हे मेरे सोम! तुम यद्यपि मेरे मानस में सदा परिपूर्ण रहते हो, तो भी मैं अन्यत्र आसक्त होने के कारण तुम्हें वैसा नहीं देखता तथा तुम्हारी परिपूर्णता का लाभ भी नहीं उठा पाता। पूर्णिमा का भरा-पूरा चाँद अमृत बरसाता है, मैं भी तुम्हें हृदय में परिपूर्ण देखकर तुमसे अमृत-रस पाऊँ।

हे सोम! जैसे परिपूर्ण चन्द्रमा आकाश में यश बरसाता है, ऐसे ही तुम मेरे अन्दर परिपूर्ण होकर मेरे आत्मा को यश से परितृप्त करो।

---

१. प्याय् (ओप्यायी) वृद्धौ, भ्वादि, प्यायते=वर्धते। आ-प्याय्-शानच्=आप्यायमानः।
२. श्रवः श्रवणीयं यशः —निरु० ११.७।
३. धिष्व=धत्स्व। छान्दस रूप, धा (डुधाञ्) धारणपोषणयोः। अथवा निरुक्त में धारणार्थक धिष धातु प्रोक्त हुई है (निरु० ८.३), धिष्, लोट्, मध्यमपुरुष, एकवचन, धिष्व।

१३. हमने तमस् को पार कर लिया है

अतारिष्म तमसस्पारमस्योषा उच्छन्ती वयुना कृणोति।
श्रिये छन्दो न स्मयते विभाती सुप्रतीका सौमनसायाजीगः॥

—ऋ० १.९२.६

ऋषिः—गोतमः राहूगणः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(अतारिष्म[१]) तर गये हैं, [हम] **(अस्य तमसः)** इस तमस् के **(पारम्)** पार। **(उषाः)** उषा **(उच्छन्ती[२])** छिटकती हुई **(वयुना[३])** प्रज्ञानों, प्रकाशों, कान्तियों को **(कृणोति[४])** कर रही है। **(श्रिये)** शोभा के लिए **(छन्दः[५] न)** ढके हुए अंगोंवाली कामिनी के समान **(स्मयते[६])** मुस्करा रही है **(विभाती)** प्रकाशित होती हुई। **(सुप्रतीका[७])** सुमुखी [उषा] ने **(सौमनसाय)** सौमनस्य के लिए **(अजीगः[८])** सबको निगल लिया है, अपने प्रकाश के साये में ले लिया है।

देखो प्राची के गगन में उषा प्रस्फुटित हुई है। चिरकाल से व्याप्त रात्रि का अन्धकार छिन्न-भिन्न हो गया है। तमोमयी निशा से हम पार हो गये हैं। झिलमिलाती हुई उषा ने सर्वत्र प्रकाश-ही-प्रकाश बखेर दिया है। रात्रि के अँधेरे में कुछ दिखायी नहीं दे रहा था। साँप रस्सी और रस्सी साँप प्रतीत हो रहे थे। लोगों का मन भयाक्रान्त था कि कहीं यह अँधेरा हमें ही तो नहीं लील लेगा। पूर्व दिशा के आकाश में उषा के पदार्पण करते ही सब भय समाप्त हो गया है। अपना सौन्दर्य बखेरती हुई, आच्छादित अंगोंवाली किसी शालीन नारी के समान यह भासमान उषा मुस्करा रही है। यह सुमुखी उषा अपने कान्त रश्मिपुञ्ज को चारों ओर बिखराती हुई मानों सबको सौमनस्य का, सौहार्द का दिव्य संदेश दे रही है। हम भी निर्मल उषा के समान अपने हृदयों को निर्मल करके पारस्परिक प्रेमभाव को बढ़ाते हुए संसार से विद्वेष की कलिमाओं को हटाकर ज्ञान और सौहार्द का प्रकाश फैलाएँ।

पर उषा द्वारा प्राप्त होनेवाले वैदिक संदेश की इतिश्री इस भौतिक उषा में ही नहीं हो जाती। भौतिक उषा के समान हमारे मानस में छिटकनेवाली एक आध्यात्मिक उषा भी है। जब वह हमारे हृत्पटल पर अवतीर्ण होती है तब उसके आते ही सब तामसिक विचार विध्वस्त हो जाते हैं; आत्मा, मन, प्राण, ज्ञानेन्द्रिय सब प्रबल प्रकाश से उद्भासित हो उठते हैं। निर्मल सात्त्विक विचारधारा बहने लगती है। आध्यात्मिक स्तर का पारस्परिक सौमनस्य आप्लावित होने लगता है।

आहा, कैसी आनन्ददायिनी घड़ी है। हम तमस् से पार हो गये हैं, दिव्य उषा का मञ्जुल प्रकाश हमें प्राप्त हो रहा है। हे उषा! तुम्हारा स्वागत है।

---

१. तॄ प्लवनसंतरणयोः, भ्वादिः। लुङ्।
२. उछी विवासे, शतृ, स्त्रीलिंग।
३. वयुनं वेतेः, कान्तिर्वा प्रज्ञा वा, निरु० ५.१४, वयुनानि प्रज्ञानानि, निरु० ८.१९।
४. कृवि हिंसाकरणयोः।
५. छन्दः न। छन्त्सत्, निघं० २.६ इति कान्तिकर्मसु पाठात् छन्दःशब्दोऽत्र कामिनीवचनः —स्कन्दभाष्य।
६. ष्मिङ् ईषद्धसने, भ्वादिः।
७. सुप्रतीका। प्रतीकशब्दो मुखवचनः दर्शनपर्यायो वा, सुमुखा सुदर्शना वा —स्कन्दभाष्य।
८. गॄ निगरणे इत्यस्माद् बहुलं छन्दसीति शपः स्थाने श्लुः, तुजादीनामिति दीर्घश्च —दयानन्द।

१४. दुर्बुद्धि लोगों की दुष्टता के विरोध में सामूहिक आवाज

पूर्वो देवा भवतु सुन्वतो रथोऽस्माकं शंसो अभ्यस्तु दूढ्यः।
तदा जानीतोत पुष्यता वचोऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

—ऋ० १.९४.८

ऋषिः–कुत्सः आङ्गिरसः॥ **देवता**–देवाः, अग्निः॥ **छन्दः**–जगती॥

(**पूर्वः**) सबसे आगे (**देवाः**) हे विद्वानो! (**भवतु**) होवे (**सुन्वतः**) सोम रस निचोड़नेवाले का (**रथः**) रथ। (**अस्माकम्**) हमारा (**शंसः**) वचन (**अभ्यस्तु**) पराजित कर दे (**दूढ्यः**[1]) दुष्ट बुद्धिवालों को। (**तत्**) इस बात को, हे विद्वानो! (**आ जानीत**) जानो, और (**पुष्यत**) पुष्ट करो (**वचः**) उक्त वचन को। (**अग्ने**[2]) हे अग्रनेता! (**ते सख्ये**) तेरी मित्रता में (**मा**) मत (**रिषाम**) विनष्ट हों (**वयम्**) हम।

'सुन्वान्' उसे कहते हैं, जो यज्ञार्थ सोमरस निचोड़ता है। वह यज्ञ में सोमरस अर्पित करने के पश्चात् ही यज्ञशेष के रूप में बचे हुए का स्वयं भोग करता है। यज्ञार्थ सोमरस निचोड़ना प्रतीक है परोपकार के लिए साधन जुटाने का। दूसरा सोमरस भक्तिरस है। उसे निचोड़ने का भाव है प्रभु को भक्तिरस अर्पित करना। तीसरा सोमरस कर्मरस है। उसे निचोड़ने का आशय है पुरुषार्थ करना। इस प्रकार 'सुन्वान्' का अर्थ है याज्ञिक, परोपकारी, प्रभुभक्त एवं पुरुषार्थी। ऐसे मनुष्यों का रथ सबसे आगे होना चाहिए, अर्थात् उन्हें सर्वाधिक सम्मान मिलना चाहिए। राष्ट्र में जो विद्वान् हैं, उनका कर्त्तव्य है कि वे इस बात का ध्यान रखें। इसके विपरीत जो दुष्ट बुद्धिवाले मनुष्य अपनी दुष्ट बुद्धि के बल से सज्जनों को सताते हैं, समाज में घात-पात एवं उपद्रव मचाते हैं, शान्तिभङ्ग करते हैं, उनके विरोध में हम आवाज उठाते हैं। वाणी से, लेखनी से, सामाजिक दण्ड के आधार से उनके विरोध में वातावरण उत्पन्न करते हैं। उनका सामाजिक बहिष्कार करते हैं। हमारा वचन, हमारी उनके विरोध में उठी आवाज उन्हें पूर्णतः पराजित कर दे। या तो वे अपनी दुष्ट बुद्धि को छोड़ दें, या सामाजिक दण्ड के भागी बनें।

हे राष्ट्र के विद्वान् लोगो! तुम हमारे उक्त निश्चय को जान लो और उसकी पुष्टि करो। हमारे साथ एकस्वर होकर तुम हमारे इस वचन का समर्थन करो कि दुष्ट बुद्धिवालों का पूर्ण बहिष्कार होगा, किसी भी तरह उनकी दाल नहीं गलने दी जाएगी। सारा विद्वत्समाज जब हमारे साथ होगा, तब निश्चय ही दुष्टबुद्धि लोग अकेले पड़ जाएँगे और सज्जनों के प्रति कोई भी षड्यन्त्र करने में सफल नहीं हो सकेंगे। परिणामतः शनैः-शनैः उनमें भी सद्बुद्धि का प्रवेश होगा।

दुष्ट बुद्धिवालों के प्रति छेड़े गये इस अभियान में हम समाज में अग्रगण्य किसी काषायवस्त्रधारी संन्यासी को अपना नेता चुन रहे हैं। हे अग्निवत् तेजस्वी! हे अग्रनेता! तुम हमारे मित्र बनो। हम तुम्हारे साथ सख्य स्थापित करते हैं। तुम्हारे सख्य में हम कभी पराजित, विफल या विनष्ट न हों। तुम्हारे नेतृत्व में सामूहिक आवाज उठाकर हम सदा दुर्बुद्धि लोगों का पाखण्ड और षड्यन्त्र खण्डित करते रहें तथा समाज को पूर्णतः सुबुद्धि लोगों का समाज बनाने में सफल हों।

---

१. दूढ्यं दुर्धियं पापधियम्, निरु० ५.२। दूढ्यः दुर्धियः पापधियः —निरु० ५.२३।
२. (अग्ने) विद्यादिगुणैर्विख्यात, हे अग्ने विद्वन्! —द० भा०, ऋ० १.९४.१।

१५. जो चमड़े से गाय बनाते हैं

निश्चर्मण ऋभवो गामपिंशत सं वत्सेनासृजता मातरं पुनः।
सौधन्वनासः स्वपस्यया नरो जिव्री युवाना पितराकृणोतन॥

—ऋ० १.११०.८

ऋषिः—कुत्सः आङ्गिरसः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—जगती॥

(**चर्मणः**) चमड़े से (**ऋभवः**) हे ऋभुओ! तुमने (**गाम्**) गाय (**निर् अपिंशत**[1]) बना दी, (**पुनः**) फिर (**वत्सेन**) बछड़े के साथ (**मातरम्**) उस माता गाय को (**सम् असृजत**[2]) संयुक्त कर दिया। (**सौधन्वनासः**[3]) सुधन्वा के पुत्र (**नरः**) [तुम] नरों ने (**स्वपस्यया**[4]) चातुरी के कर्म करने की इच्छा से (**जिव्री**[5]) बूढ़े (**पितरा**[6]) माता-पिता को (**युवाना**) जवान (**अकृणोतन**[7]) कर दिया।

कथाकारों ने लिखा है कि ऋषि की यज्ञार्थ दूध-घी देनेवाली गाय मृत हो गयी। जब चमड़े के लिए उसे काटा, तब उसका तरुण बछड़ा रोने लगा। उसे रोते देख दयालु ऋषि ने ऋभुओं से गाय को पुनः जिला देने की प्रार्थना की। ऋभुओं ने काटी जा चुकी गाय के चमड़े से एक नयी गाय बना दी और बछड़े से उसे मिला दिया। ऋभु 'सौधन्वनाः' अर्थात् सुधन्वा के पुत्र थे। उन्होंने एक और कमाल का काम किया। कार्यचातुरी दिखाने के लिए उन्होंने अपने बूढ़े हो चुके माता-पिता को फिर से युवा बना दिया। वेदभाष्यकार स्कन्द स्वामी, वेंकट माधव और सायणाचार्य कहते हैं कि सुधन्वा के पुत्र ऋभु देवों के इन्हीं कौशलों का उक्त मन्त्र में वर्णन है।

भाइयो! क्या आप समझे कि इस कथा के पात्र ये सुधन्वा-पुत्र ऋभु कौन हैं तथा उनके द्वारा उक्त कौशल किये जाने का क्या तात्पर्य है? वैदिककोश निघण्टु में ऋभु को मेधावीवाचक शब्दों में परिगणित किया गया है। एवं देश के निपुण, बुद्धिमान् वैज्ञानिक ही ऋभु हैं। चमड़े से गाय बनाने का आशय है चर्मावशेष दुबली-पतली दूध न देनेवाली गाय को पुनः हृष्ट-पुष्ट दुधारु गाय के रूप में परिणत कर देना। यह चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र की एक क्रान्ति है। इसी क्षेत्र की दूसरी वेदवर्णित चातुरी है बूढ़े स्त्री-पुरुषों को पुनः जवान बना देना। हमारे देश के प्राचीन आयुर्वेद-विज्ञान में कायाकल्प द्वारा वृद्धों को पुनः तरुण बना देने की प्रक्रिया व्यवहार में आती रही है। अष्टवर्गयुक्त च्यवनप्राश द्वारा वृद्ध च्यवन ऋषि के पुनः युवा हो जाने की ऐतिहासिक गाथा भी प्रसिद्ध है। इस विद्या का विकास प्राचीन ऋषियों ने वेद के उक्त वर्णनों के आधार पर ही किया था।

वेदवर्णित इन उच्चकोटि के चिकित्सा-कार्यों के कर्त्ता परम वैज्ञानिकों को 'सौधन्वनाः' अर्थात् सुधन्वा के पुत्र कहा गया है। सुधन्वा का योगार्थ है उत्तम धनुषवाला। वह आदर्श चिकित्सक सुधन्वा है, जो रोगों के प्रति धनुष ताने रहता है। उसके पुत्र अर्थात् उसकी श्रेणी के सभी वैद्य या शल्य-चिकित्सक 'सौधन्वनाः' कहलाते हैं। शल्य-चिकित्सक का धनुष उसके वे उपकरण हैं, जिनसे वह शल्यक्रिया करता है।

---

१. पिश अवयवे, तुदादिः। शे मुचादीनाम् पा० ७.१.५९ से नुम्।
२. सृज विसर्गे, तुदादिः। संहिता में 'असृजता' में दीर्घ छान्दस।
३. सुधन्वनः पुत्राः सौधन्वनाः। आज्जसेरसुक् पा० ७.१.५० से जस् को असुक् का आगम, सौधन्वनासः।
४. शोभनम् अपः कर्म स्वपः, तदिच्छा स्वपस्या, सुप आत्मनः क्यच्। तया स्वपस्यया।
५. जॄष् वयोहानौ। 'जीर्यतेः क्रिन् रश्च वः' उ० ५.४९ से क्रिन्=रि प्रत्यय तथा धातु के जिर् के र् को व्।
६. माता च पिता च पितरौ, पिता मात्रा पा० १.२.७० से माता-पिता में पिता शेष रहा। सुपां सुलुक्० पा० ७.१.३९ से विभक्ति के औ को आ। इसीप्रकार युवानौ=युवाना।
७. कृवि हिंसाकरणयोः, लङ्। तप् तनप् तन थनाश्च पा० ७.१.४५ से त को तनप्=तन आदेश।

१६. जिन्होंने दुर्भिक्ष-दस्यु को मार भगाया

यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा।
अभि दस्युं बकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय॥

—ऋ० १.११७.२१

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः औशिजः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**अश्विना**[१]) हे परिश्रमी कृषक स्त्री-पुरुषो! (**यवं**) जब आदि अन्न को (**वृकेण**[२]) हल से, हल चलाकर (**वपन्ता**[३]) बोते हुए, (**इषम्**[४]) अन्न को (**मनुषाय**) मनुष्य के लिए (**दुहन्ता**) [भूमि से] दुहते हुए, (**दस्रा**[५]) हे दुःख-विनाशको! (**दस्युम्**) संहारक दुर्भिक्ष को (**बकुरेण**[६]) पानी से (**अभिधमन्ता**[७]) मार भगाते हुए [तुमने] (**उरु ज्योतिः**) विशाल ज्योति को (**चक्रथुः**) प्रकट कर दिया है (**आर्याय**) आर्य के लिए।

देश में चारों ओर दुर्भिक्ष छाया हुआ है। अपने विकराल गाल में न जाने कितनों को वह ले चुका है। चिरकाल से वृष्टि नहीं हुई है। जो भूखण्ड वर्षा से ही अन्न उगलते हैं, वे बंजर पड़े हुए हैं। ऐसे समय कुओं, नहरों से सिंचाई की जानेवाली भूमि का ही सहारा है। ऐसे विकट काल में अश्वी-युगल आगे आते हैं। ये अश्वी-युगल किसान दम्पती हैं। ये अश्वों से युक्त होने के कारण अश्वी कहलाते हैं। इनके पास भूमि को जोतने-बोने के लिए ट्रैक्टर-रूपी यान्त्रिक अश्व होते हैं। उत्पादित भाप, बिजली, पैट्रोल आदि किसी की भी शक्ति से चलनेवाला कृत्रिम यन्त्र अश्व कहलाता है। इन किसान-दम्पतियों ने खेतों में हल चलाया है, बीज बोया है, कुओं से सिंचाई की है, और अनावृष्टि के सङ्कट-काल में भी इञ्जन द्वारा भूमि के अन्दर से पानी खींचकर भूमि से प्रचुर अन्नरूप दूध को दुहा है।

विनाशकारी दुर्भिक्ष-रूप दस्यु को उद्यमी कृषक-दम्पतियों ने 'बकुर' रूप शस्त्र से मार भगाया है। 'बकुर' जल का नाम है, क्योंकि वह 'भास्-कर' अर्थात् शोभाकारी होता है। जल से ही खेती की शोभा होती है, वृक्ष-वनस्पतियों की शोभा होती है। जल के अभाव में प्राणी भी आभाहीन हो जाते हैं।

दुर्भिक्ष-रूप दस्यु जब मुँह बाये खड़ा था, तब आर्यजनों की दीक्षा, तपस्या, उनके धर्म-कर्म, उनकी शालीनता, उनकी सूनृता, उनका सरल मधुर व्यवहार, उनकी आध्यात्मिकता आदि सब समाप्त हो चले थे। आर्य वे होते हैं जिनकी आगे बढ़ने की उमङ्ग होती है, जो कर्मठ होते हैं, जो सत्याचारी होते हैं, जो पाप से शत्रुता करते हैं, जो अन्याय को सहन नहीं करते, जो परोपकारी होते हैं, जो सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझते हैं। दुर्भिक्ष-रूप दस्यु के विगलित हो जाने से आर्यों के सम्मुख पुनः ज्योति प्रकट हो गयी है।

आओ, समाज के इन कर्मसेवी किसान दम्पती का हम धन्यवाद करें।

---

१. अश्विना=अश्विनौ। औ को आ।
२. वृको लाङ्गलं भवति, विकर्तनात् निरु० ६.२६, वि कृती छेदने।
३. वपन्ता=वपन्तौ। टुवप् बीजसन्ताने, भ्वादिः।
४. इषम्=अन्न, निघं० २.७।
५. दस्रा=दस्रौ। दसु उपक्षये, दिवादिः।
६. बकुरो भास्करो भयंकरो भासमानो द्रवतीति वा। बकुरेण ज्योतिषा वा उदकेन वा —निरु० ६.२६। संहिता में बकुरेणा में दीर्घ छान्दस।
७. धमति वधार्थक, निघं० २.१९।

१७. ज्योतिर्मयी उषा

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात्।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति॥

—ऋ० १.१२४.३

ऋषिः–कक्षीवान् दैर्घतमसः औशिजः॥ देवता–उषाः॥ छन्दः–त्रिष्टुप्॥

(एषा) यह **(दिवः दुहिता)** द्युलोक की पुत्री [उषा] **(प्रत्यदर्शि)** दिखायी दे रही है, **(ज्योतिः)** ज्योति **(वसाना[1])** पहिने हुए, **(समना[2])** प्राणप्रदायिनी **(पुरस्तात्)** पूर्व दिशा में। **(ऋतस्य)** सत्याचरण के **(पन्थाम्)** मार्ग को **(अन्वेति[3])** अनुसरण करती है **(साधु)** साधु प्रकार से। **(प्रजानती इव)** मानो जानती हुई-सी **(न)** नहीं **(दिशः)** दिशाओं को **(मिनाति[4])** उल्लङ्घन करती है।

देखो, सामने पूर्व दिशा में कैसा मनमोहक, प्रेरणादायक दृश्य है। यह द्युलोक की पुत्री उषा देवी ज्योति की साड़ी पहने हुए दिखायी दे रही है। प्रकाश, लालिमा के उज्ज्वल प्रकाश से प्राची दिशा जगमगा उठी है। लालिमा क्रियाशीलता का प्रतीक होती है। शनैः-शनैः उषा की लाली शुभ्रता में परिणत हो जाती है, जो सात्त्विकता का प्रतीक है। उषा रात्रि से जागे हुए नर-नारियों के हृदयों को क्रियाशीलता और सात्त्विकता से परिपूर्ण कर देती है। देखो, द्युलोक की पुत्री भूलोक में अवतीर्ण हुई है। उसका स्वागत करो, अभिनन्दन करो। वह 'समना' है। समना शब्द 'सम्' पूर्वक प्राणन अर्थवाली 'अन' धातु से बनता है। उषा प्राणदायिनी है। उषा का आगमन होते ही तुम्हें क्या ऐसा नहीं लग रहा कि तुम्हारे अन्दर प्राण का स्रोत फूट पड़ा है? उषा से प्राप्त होनेवाली प्राण की धारा ने क्या तुम्हारे प्रत्येक अंग को, प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय को, मन को, बुद्धि को, आत्मा को आप्लावित नहीं कर दिया है? उषा की दिव्य ज्योति से क्या तुम्हारा अङ्ग-अङ्ग थिरक नहीं उठा है?

देखो, यह उषा सदा ऋत के ही पथ का अनुसरण करती है। 'ऋत' का पथ है सत्य नियम का मार्ग। प्रतिदिन रात्रि के पश्चात् उषा के आगमन का नियम अटल है, उसमें कभी व्यवधान नहीं होता, कभी नकार नहीं होता। उषा अपनी दिशाओं का, परमेश्वर द्वारा अपने लिए नियत की हुई मर्यादाओं का कभी उल्लङ्घन नहीं करती, मानो वह कोई ज्ञानवती देवी है। प्राची में छिटकती हुई उषा राष्ट्र की नारी को यह संदेश दे रही है कि वह भी ज्ञान एवं चरित्र की ज्योति से जगमगाये, वह भी प्राणवती एवं प्राणप्रदायिनी हो, वह भी सत्य के मार्ग पर चले, वह भी कभी मर्यादाओं का उल्लङ्घन न करे।

हम चाहते हैं कि गगन में प्राकृतिक उषा के समान हमारे हृदयाकाश में आध्यात्मिक उषा उदित हो। वह प्राण को बखेरती हुई, हमें ऋत के पथ का पथिक बनाती हुई, हमें मर्यादाओं में दृढ़ करती हुई जगमगाये। आओ, हे उषा! तुम्हारा स्वागत है।

---

१. वस आच्छादने, अदादिः, शानच्।
२. सम्-अना। अन प्राणने, अदादिः।
३. अनु-इण् गतौ, अदादिः।
४. मिनाति=गत्यर्थक, वधार्थक, निघं० २.१४, २.१९।

१८. इन्द्र को हव्य प्रदान करो

पूषण्वते मरुत्वते विश्वदेवाय वायवे। स्वाहा गायत्रवेपसे हव्यमिन्द्राय कर्तन॥

—ऋ० १.१४२.१२

ऋषिः—दीर्घतमाः औचथ्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

(**पूषण्वते**) पूषा सूर्य के स्वामी, (**मरुत्वते**) पवनरूप या प्राणरूप मरुतों के स्वामी, (**विश्वदेवाय**) सर्वदेवरूप, (**वायवे**[१]) सर्वव्यापक, (**गायत्रवेपसे**[२]) गान से झूम उठनेवाले (**इन्द्राय**) इन्द्र प्रभु के लिए (**स्वाहा**) स्वाहाकारपूर्वक (**हव्यम्**) हवि (**कर्तन**[३]) करो।

आओ, इन्द्र को स्वाहापूर्वक हव्य प्रदान करें। क्या तुम पूछते हो कि कौन है यह इन्द्र, कैसे उसे हव्य दें, कौन-सा हव्य दें? क्या स्वाहा बोलकर घृत एवं हवन-सामग्री की आहुति इन्द्र के नाम से अग्नि में छोड़ दें, तो वह इन्द्र को पहुँच जाएगी? नहीं, यहाँ वेद उस आहुति की बात नहीं कर रहा है। इन्द्र हैं राजराजेश्वर प्रभु, उन्हें इस स्थूल घृतादि की आवश्यकता नहीं है। प्रभु को तो हमें अपने सर्वस्व का होम देना है। जो कुछ हम कार्य करते हैं, जो कुछ खाते-पीते हैं, जो कुछ हवन-तर्पण आदि करते हैं, जो कुछ दान आदि करते हैं, जो कुछ तपस्या आदि करते हैं उस सबमें से अहङ्कार को निकालकर सब कुछ ईश्वरार्पण-बुद्धि से करना है[४]। जब तक 'मैं' की भावना रहती है, तब तक किया हुआ कोई कार्य, दान किया हुआ कोई पदार्थ इन्द्र के पास नहीं पहुँचता। अतः आओ, आज से हम इन्द्र को हव्य देना आरम्भ करें।

कैसा है इन्द्र? वह 'पूषण्वान्' है, पूषावाला है, पूषा का स्वामी है। पूषा सूर्य का नाम है। 'सूर्यवाले' के रूप में इन्द्र की ख्याति है, क्योंकि वही सूर्य का नियन्त्रण एवं सञ्चालन करता है। इन्द्र 'मरुत्वान्' है, मरुतोंवाला है। मरुत् पवन और प्राण को कहते हैं। पवन और प्राण उसी की प्रेरणा से कार्य करते हैं। पवन जीवन देता है, प्राण अमृत बरसाता है, इन्द्र की ही शक्ति से। इन्द्र विश्वदेवमय है। शरीर के मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय आदि देव तथा बाहर के अग्नि, जल आदि देव सब उसके साथ ऐसे जुड़े हुए हैं, जैसे रथचक्र की नाभि में अरे जुड़े रहते हैं। इन्द्र 'वायु' है, सर्वगत है, सर्वव्यापक है, सर्वान्तर्यामी है, माला में सूत्र के समान सबमें ओत-प्रोत है। इन्द्र 'गायत्रवेपस्' है, उपासक के हृदय से निकले भक्तिगान से कम्पित-तरंगति हो जानेवाला है, झूम उठनेवाला है।

आओ, 'अहम्' को त्यागकर हम इन्द्रार्पण हो जाएँ, इन्द्र के हो जाएँ।

---

१. वाति सर्वत्र गच्छतीति वायुः सर्वव्यापकः, वा गतिगन्धनयोः, अदादिः।
२. गायत्रेण भक्तिगानेन वेपते कम्पते तरंगायते यः स गायत्रवेपाः, तस्मै।
३. कर्तन=कुरुत। डुकृञ् करणे, लोट्, मध्यम बहुवचन, त को तनप् आदेश।
४. यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत् तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्। —गीता ९.२७

१९. अन्धे मामतेय का परित्राण

ये पायवो मामतेयं ते अग्ने पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन्।
ररक्ष तान्त्सुकृतो विश्ववेदा दिप्सन्त इद् रिपवो नाह देभुः॥

—ऋ० १.१४७.३

ऋषिः—दीर्घतमाः औचथ्यः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥

(**अग्ने**) हे तेजस्वी परमात्मन्! (**ते**) तेरे (**ये**) जो (**पायवः**[१]) रक्षक [भक्तजन] (**मामतेयम्**[२]) ममता के मारे हुए को (**अन्धं पश्यन्तः**) अन्धा देखते हुए (**दुरितात्**) दुरित से (**अरक्षन्**) बचाते हैं, (**तान्**) उन (**सुकृतः**) सुकर्मा लोगों की (**विश्ववेदाः**[३]) सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी आप (**ररक्ष**) रक्षा करते हो, अतः (**दिप्सन्तः**[४]) हानि पहुँचाने के इच्छुक (**इत्**) भी (**रिपवः**) रिपुजन (**न अह**) नहीं (**देभुः**[५]) हानि पहुँचा पाते हैं।

हे मेरे परब्रह्म! तुम 'अग्नि' हो, अग्रणी हो, सर्वजनोन्नायक हो, आग के समान तेजस्वी, दुरित-दाहक एवं रक्षक हो। फलतः तुम्हारे भक्त उपासक भी इन गुणों से युक्त हो जाते हैं। तुम्हारे समान वे भी दीन-दुःखियों की रक्षा करने में आनन्द अनुभव करते हैं। वे 'पायु' हो जाते हैं, रक्षक बन जाते हैं।

भाइयो, ममता से सताये हुए एक दीन की कहानी सुनो। वह ममता से अन्धा हो रहा था। यह मेरी प्यारी पत्नी है, यह मेरी प्यारी पुत्री है, यह मेरा प्यारा पुत्र है, इस प्रकार 'मेरी-मेरी' के फेर में पड़ा हुआ था। एक मुनि ने उसे समझाया कि तुम्हारी पत्नी किसी दूसरे की भी तो कुछ है, किसी की वह बेटी है, किसी की माँ है, किसी की बहिन है। तुम्हारे पुत्र और पुत्री भी किसी दूसरे के भी तो कुछ हैं। तुम्हारी पत्नी, तुम्हारे पुत्र, तुम्हारी पुत्री का तुम्हारे अतिरिक्त किसी अन्य के प्रति भी कुछ कर्त्तव्य है। वह भी उन्हें करने दो। मेरी-मेरी करना छोड़ो, ममता और मोह के चक्कर में मत पड़ो। उस मामतेय का, ममतान्ध का अन्धापन दूर हो गया, उसकी आँखें खुल गयीं, उसका दुरित ध्वस्त हो गया। तुम पूछोगे कि ममता आदि से अन्धे हुओं की रक्षा तो सुकर्मा प्रभुभक्त करते हैं, पर उन सुकर्मा प्रभुभक्तों की रक्षा कौन करता है? सुनो, प्रभु के भक्त लोग कु-राह पर तो कभी चलते ही नहीं, हाँ, उन पर विपदाएँ आ सकती हैं। उन विपदाओं से उनकी रक्षा करते हैं स्वयं विश्ववेत्ता, विश्वान्तर्यामी परम प्रभु। इस प्रकार समाज में कुछ की रक्षा स्वयं दयानिधान प्रभु करते हैं, कुछ की रक्षा प्रभु के सिपाही भक्तजन करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि चारों ओर घात लगाकर बैठे हुए काम, क्रोध आदि षड् रिपु तथा मानव रिपु कोई भी आर्यजनों को अपने चङ्गुल में फँसाने एवं उनकी नैतिक या शारीरिक हिंसा करने में समर्थ नहीं होते। फलतः राष्ट्र एवं समाज में आर्यजन एवं आर्य विचार पनपते हैं, उनकी विजय होती है और अनार्य विचार तथा अनार्यजन कहीं अँधेरी कन्दराओं में जा छिपते हैं और मुँह दिखाने योग्य नहीं रहते।

हे पायुजनो, हमारी रक्षार्थ आओ। हे विश्ववेदाः प्रभु, हमारी रक्षार्थ आओ।

---

१. पान्ति रक्षन्तीति पायवः। पा रक्षणे, कृवापा० उ० १.१ से उण्।
२. ममतायाः अयं मामतेयः तम्।
३. विश्वं वेत्ति, विश्वस्मिन् विद्यते इति वा, विद ज्ञाने, विद सत्तायाम्। असुन् प्रत्यय।
४. दम्भु दम्भे, स्वादिः। दम्भितुम् इच्छन्तः दिप्सन्तः। इच्छार्थ में सन्, शतृ।
५. दम्भु दम्भे, लिट्।

२०. आचारहीन विद्वान् बड़ा भयङ्कर होता है

उत वा यः सहस्य प्रविद्वान् मर्तो मर्तं मर्चयति द्वयेन।
अतः पाहि स्तवमान स्तुवन्तमग्ने माकिर्नो दुरिताय धायीः॥

—ऋ० १.१४७.५

ऋषिः—दीर्घतमाः औचथ्यः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥

(उत वा) और **(यः)** जो **(सहस्य[1])** हे बलदायक प्रभु! **(प्रविद्वान्)** प्रकृष्ट विद्वान् **(मर्तः)** मानव **(द्वयेन)** द्विविध आचरण से **(मर्तम्)** मानव को **(मर्चयति[2])** छलता है, हानि पहुँचाता है, **(अतः)** उससे **(पाहि)** बचा, **(स्तवमान[3])** हे स्तुति किये जाते हुए परमात्मन्! **(स्तुवन्तम्)** स्तुति करनेवाले को। **(अग्ने)** हे तेजस्वी जगदीश्वर! **(माकिः)** कभी नहीं **(नः)** हमें **(दुरिताय धायीः[4])** दुरित के लिए धरो, दुरित का पात्र बनाओ।

आचारहीन मूर्ख की अपेक्षा आचारहीन विद्वान् समाज के लिए अधिक भयङ्कर होता है। मूर्ख कोई अभद्र कार्य करता है, तो उसका अनुकरण कोई नहीं करता। यह तो है ही मूर्ख, विपरीत ही कर्म करेगा, यह कहकर सब उसकी उपेक्षा कर देते हैं और कभी-कभी प्रताड़ना भी करते हैं। परन्तु यदि विद्वान् मनुष्य अशोभनीय धर्मविरुद्ध आचरण करता है, तो बहुत से लोग उसका अनुसरण करनेवाले मिल जाते हैं। लोग सोचते हैं कि जब यह शास्त्रज्ञ होकर भी पूजा-पाठ नहीं करता, सन्ध्या-वन्दन नहीं करता, पाप की कमाई करने से नहीं घबराता, तो क्या पूजा-पाठ, सन्ध्या-उपासना, सुकृत-पुण्य सब हमारे ही माथे पर लिखे हैं, हम भी इस शास्त्रज्ञाता का ही अनुकरण क्यों न करें? यदि विद्वान् मनुष्य दुहरी चाल चलता है, दो तरह का व्यवहार करता है, तब तो वह और भी अधिक भयावह हो जाता है। वह कहता कुछ है, करता कुछ है। उसके मन में कुछ और होता है, वाणी में कुछ और। उपदेश देता है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का, आचरण करता है हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का। मंच से बातें कहता है शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान की, स्वयं अपनाता है अशौच, असन्तोष, भोग-विलास, अस्वाध्याय और नास्तिकता के जीवन को। दूसरों को परामर्श देता है योगप्रणिधान का, स्वयं रहता है योगमार्ग से कोसों दूर। इस प्रकार दुहरे व्यवहार से वह समाज को ठगता है, हानि पहुँचाता है।

हे प्रभु! तुम सहस्य हो, बलदायक हो। मुझ स्तोता के आत्मा और मन में ऐसा बल उत्पन्न करो कि मैं इन दुहरी चाल चलनेवालों का शिकार न बनूँ। मेरे अन्दर विवेक का बल उत्पन्न करो, मेरे अन्दर चरित्र का बल उत्पन्न करो, मेरे अन्दर कर्त्तव्याकर्त्तव्य के बोध का बल उत्पन्न करो। मैं विद्वानों का आदर तो करूँ, परन्तु यदि वे दुमुँही नीति अपनाएँ तो उनसे सावधान भी रहूँ और आवश्यकता पड़ने पर नम्रतापूर्वक उनकी दुर्बलता की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करने का सामर्थ्य भी अपने अन्दर जुटा सकूँ। तभी समाज में वैदुष्य सच्चे रूप में पूजित, प्रतिष्ठित और गौरवान्वित होगा।

---

१. सहः बलं, निघं० २.९, तत्र साधुः सहस्यः, यत् प्रत्यय।
२. मर्चयति=बाधते-वेंकटभाष्य।
३. स्तवमान स्तूयमान —सायण।
४. माकिः धायीः मा स्थापय, दुरितभाजनं मा कार्षीः इत्यर्थः। धि धारणे, व्यत्ययेन इट्, सिचि वृद्धिः, न माङ्योगे इति अडभावः —सायण।

२१. चारों आश्रमों का यात्री द्विज

अभि द्विजन्मा त्री रोचनानि विश्वा रजांसि शुशुचानो अस्थात्।
होता यजिष्ठो अपां सधस्थे॥

—ऋ० १.१४९.४

ऋषिः—दीर्घतमाः औचथ्यः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट् अनुष्टुप्॥

(**द्विजन्मा**) [गुरुकुल का स्नातक] द्विज ब्राह्मण (**शुशुचानः**[१]) [विद्या-दीप्ति से] प्रदीप्त होता हुआ (**त्री रोचनानि**) [अगले] तीनों रोचमान आश्रमों में, (**विश्वा रजांसि**[२]) सभी मर्यादाओं में (**अभि अस्थात्**) स्थित होता है। इन आश्रमों में (**अपां सधस्थे**[३]) प्रजाओं के साथ रहने के स्थान में अर्थात् समाज में वह (**होता**[४]) धन, विद्या आदि का दान करनेवाला और (**यजिष्ठः**[५]) अतिशय ईश्वरपूजक [बनता है]।

मनुष्य दो बार जन्म लेता है, एक बार माता के गर्भ से और दूसरी बार आचार्य के गर्भ से। वेद कहता है कि आचार्य ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार करता हुआ उसे अपने गर्भ में धारण करता है[६]। गर्भ में धारण करने का आशय यह है कि गर्भस्थ शिशु का माता के साथ जैसे अत्यन्त निकट सम्बन्ध रहता है, वैसे ही गुरुकुल में ब्रह्मचारी का आचार्य के साथ होता है। निकट रखकर ही आचार्य ब्रह्मचारी की त्रुटियों को दूर करता हुआ उसे विद्यावान् एवं चरित्रवान् बनाने में सफल होता है। जिस ब्रह्मचारी में ब्राह्मणत्व का बीज होता है, उसे आचार्य ब्राह्मण बना देता है। जिसमें क्षत्रियत्व का बीज होता है, उसे आचार्य क्षत्रिय बना देता है। जिसमें वैश्यत्व का बीज होता है, उसे वह वैश्य बना देता है। जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कुछ भी बनने की योग्यता नहीं होती, वह शूद्र घोषित होता है। जब ब्रह्मचारी ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य बनकर गुरुकुल से स्नातक होता है, तब वह आचार्य से दूसरा जन्म पाकर द्विज कहलाता है। शूद्र द्विज नहीं कहाता। द्विज जब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है, तब ब्रह्मचर्य-लोक से गृहस्थ-लोक में पहुँचता है। गृहस्थाश्रम का कर्त्तव्य पालन कर चुकने के पश्चात् वह वानप्रस्थ-लोक में जाता है। शूद्र भी गृहस्थी तो बनता है, पर वानप्रस्थ नहीं। "विद्या पढ़ने, सुशिक्षा लेने और बलवान् होने आदि के लिए ब्रह्मचर्य; सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ गृहस्थ; विचार, ध्यान और विज्ञान बढ़ाने और तपश्चर्या करने के लिए वानप्रस्थ आश्रम है।'[७] द्विजों में जो ब्राह्मण होता है वह संन्यास-लोक में भी जाता है। क्षत्रिय और वैश्य को संन्यास का अधिकार नहीं है। "वेदादि सत्य शास्त्रों के प्रचार, धर्म-व्यवहार के ग्रहण और दुष्ट व्यवहार के त्याग, सत्योपदेश और सबको निःसंदेह करने आदि के लिए संन्यास आश्रम है।"[८]

ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याग्रहण करने के पश्चात् द्विज ब्राह्मण जब गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमों में क्रमशः जाता है, तब वह इनमें अपने सामर्थ्यानुसार धन, विद्या आदि का दान करता है तथा सदा ईश्वर की पूजा करता हुआ उससे शक्ति ग्रहण करता है।

यदि हम भी गुणकर्मानुसार द्विज ब्राह्मण हैं, तो हमें भी यथाशक्ति चारों आश्रमों में क्रमशः प्रविष्ट होकर उनकी मर्यादाओं का पालन करते हुए समाज-सेवा करनी चाहिए।

---

१. शोचति ज्वलतिकर्मा, निघं० १.१६।
२. विश्वा रजांसि=विश्वानि रजांसि। लोका रजांस्युच्यन्ते, निरु० ४.१९। लोकाः अत्र मर्यादाः।
३. आपः प्रजाः इति ऋ० ५.३४.९ भाष्ये दयानन्दः। अपां प्रजानाम्। सह तिष्ठन्ति जना अत्र इति सधस्थः समाजः।
४. हु दानादनयोः, आदाने च, जुहोत्यादिः।
५. अतिशयेन यष्टा यजिष्ठः। यष्टृ से इष्ठन् प्रत्ययः।
६. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। —अथर्व० ११.५.३
७-८. स० प्र०, समु० ५, अन्तिम प्रकरण, यु०मी० संस्करण पृ० २१८।

२२. मोटे वस्त्र पहननेवाले मित्र और वरुण

युवं वस्त्राणि पीवसा वसाथे युवोरच्छिद्रा मन्तवो ह सर्गाः।
अवातिरतमनृतानि विश्व ऋतेन मित्रावरुणा सचेथे॥

—ऋ० १.१५२.१

ऋषिः—दीर्घतमाः औचथ्यः॥ देवता—मित्रावरुणौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**युवम्**[१]) तुम दोनों (**पीवसा**[२] **वस्त्राणि**) मोटे वस्त्र (**वसाथे**[३]) पहनते हो। (**युवोः**[४]) तुम दोनों के (**अच्छिद्रा**[५] **ह**) त्रुटिरहित ही [हों] (**मन्तवः**) मन्तव्य, और (**सर्गाः**) व्यापार। तुम दोनों (**अव-अतिरतम्**[६]) दूर कर दो (**विश्वा अनृतानि**) सब अनृतों को, (**ऋतेन**) ऋत से। (**मित्रावरुणा**) हे मित्र और वरुण अर्थात् जीवात्मा और मन, तुम दोनों (**सचेथे**[७]) परस्पर संयुक्त होते हो।

मनुष्य के जीवात्मा और मन क्रमशः मित्र और वरुण हैं। शरीर में जो भी इन्द्रियाँ, प्राण आदि देव रहते हैं, उन सबके साथ शरीर का सम्राट् आत्मा मित्रता का निर्वाह करने के कारण 'मित्र' कहाता है। मन उन सबको किसी कार्य में प्रवृत्त तथा किसी कार्य से निवृत्त करने के कारण 'वरुण'[८] नाम को पाता है। आत्मा मन को सहायक बनाकर जैसे भी भद्र या अभद्र आचरण करता है, तदनुसार ही वह आगामी जन्म में शरीर पाता है। मृत्यु के उपरान्त स्थूल शरीर तो नष्ट हो जाता है, किन्तु सूक्ष्म शरीर बचा रहता है, जो सत्रह घटकों से बना है। ''पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि इन सत्रह तत्त्वों का समुदाय सूक्ष्म शरीर कहाता है। यह जन्म-मरणादि में भी जीव के साथ रहता है।''[९] इन्हीं सत्रह घटकों में एक मन है, जिसे मन्त्र में वरुण कहा गया है।

हे मित्र और वरुण! हे आत्मा और मन! जब तुम शुभकर्मों के फलस्वरूप मानव-जन्म पाते हो तब मोटे वस्त्र पहनते हो, जो अस्थि, मज्जा, नस-नाड़ी, रक्त, त्वचा आदि से बने होते हैं। उन सुन्दर मोटे वस्त्रों को धारण करके तुम कार्यों में जुट जाते हो। परन्तु याद रखो, तुम्हारे मन्तव्य और व्यापार त्रुटिरहित हों; तुम्हारा आदर्श भी त्रुटिरहित सृष्टि रचने का होना चाहिए। तुम्हारे विचारों की, तुम्हारे रचे वाङ्मय की, तुम्हारे कार्यों की सृष्टि का ताना-बाना त्रुटिरहित एवं पवित्र होना चाहिए।

तुम व्रत लो कि विश्व से अनृत को; असत्य चिन्तन, असत्य कथन और असत्य आचरण को समाप्त करके ही दम लोगे। तुम अपने स्वरूप को पहचानो। तुम तो हो ही ऋत से संयुक्त, अनृत तो तुम्हारे पास बाहर से आता है। उसे स्वयं से मत चिपटने दो, और यदि तुम्हारी असावधानी से वह तुमसे चिपट चुका है तो उसे कचोट कर उतार फैंको। तब निश्चय ही विश्व को ऋतमय बनाने के वैदिक स्वप्न के साकार होने में तुम एक साधन बन सकोगे।

---

१. युवम्=युवाम्।
२. पीवसा=पीवसानि। स्थूलानि इति दयानन्दः। पीवसा पीनानि अच्छिन्नानि —सायण।
३. वस आच्छादने। आच्छादयथः।
४. युवोः=युवयोः।
५. अच्छिद्रा=अच्छिद्राणि।
६. तॄ प्लवनसंतरणयोः, अवपूर्वः दूरीकरणे नाशने वा।
७. सचेथे संगच्छेथे। षच समवाये, भ्वादिः।
८. वृणोति वारयति वा यः स वरुणः। वृञ् वरणे, स्वादिः। वृञ् आवरणे, चुरादिः।
९. स०प्र०, समु० ९, यु०मी० संस्करण पृ० ३८०।

२३. मधुर फल खानेवाले पंछी

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद् यः पितरं न वेद॥

—ऋ० १.१६४.२२

ऋषिः—दीर्घतमाः औचथ्यः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**यस्मिन् वृक्षे**) जिस संसार-रूप वृक्ष पर (**मध्वदः**[1]) मधुभक्षी (**सुपर्णाः**) जीवात्मा-रूप पक्षी (**निविशन्ते**) बैठे हैं, (**च**) और (**विश्वे**) सब (**अधि सुवते**[2]) प्रजनन कर रहे हैं, (**तस्य**) उस वृक्ष के (**अग्रे**) अग्रभाग पर लगे (**पिप्पलम्**) फल को (**इत्**) निश्चय ही (**स्वादु**) स्वादु (**आहुः**) कहते हैं, किन्तु (**तत्**) उस स्वादु फल को (**न उन्नशत्**[3]) वह प्राप्त नहीं कर पाता, (**यः**) जो (**पितरम्**) पिता को (**न वेद**[4]) नहीं जानता।

एक वृक्ष पर बहुत से पक्षी बैठे हुए हैं। उनमें से सब तो इस वृक्ष के फल को खा रहे हैं, केवल एक है जो फलों को नहीं खा रहा है, प्रत्युत केवल साक्षाद्द्रष्टा बना हुआ है। जो फलों को खा रहे हैं, वे सब सजातीय हैं। फल न खानेवाला पक्षी ही विजातीय है। यह वृक्ष है संसार-तरु, फल खानेवाले पक्षी हैं असंख्य देहधारी जीवात्माएँ, और फल न खानेवाला पक्षी है परमात्मा। श्रुति ने इस मन्त्र से पूर्व बीसवें[5] मन्त्र में वृक्ष पर दो ही पक्षियों के बैठे होने की बात कही है, वह सब सजातीय आत्मा-रूप पक्षियों को एक मान कर घटित होती है। प्रस्तुत मन्त्र में अनेक पक्षियों के बैठे होने की चर्चा है, जो सजातीय पक्षियों को अलग-अलग मानकर है। ये अनेक आत्मारूप पक्षी विभिन्न शरीरों को धारण कर संसार-वृक्ष पर बैठे हुए विषय-रूप फलों का आस्वादन कर रहे हैं। इन पक्षियों को 'मध्वदः' इस कारण कहा गया है कि ये विषय-मधु का आस्वादन करते हैं। पर ये केवल मधुभक्षी ही नहीं है, अपितु प्रजनन-क्रिया भी कर रहे हैं, सन्तानोत्पत्ति द्वारा अपने-जैसे बहुत से अन्य शरीरधारी पक्षियों की वृद्धि भी कर रहे हैं। मनुष्य मनुष्यों की, वानर वानरों की, सिंह सिंहों की, कबूतर कबूतरों की, गिलहरी गिलहरियों की, सर्प सर्पों की वृद्धि कर रहे हैं। मनुष्येतर पशु-पक्षी आदि की योनियाँ तो भोग-योनियाँ हैं, पर मनुष्य-योनि भोग-योनि भी, और कर्म-योनि भी। मनुष्येतर योनियाँ तो फलों को भोगेंगी ही। मनुष्य के लिए यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह जगद्वृक्ष के फलों को भोगे या फल-भोग से उपरत हो जाए। जगद्वृक्ष के फल मीठे भी होते हैं और कड़वे भी। कड़वे फलों से कैसे बचा जाए? इसका उत्तर मन्त्र में दिया गया है कि जगद्-वृक्ष के फल उसे मीठे ही लगते हैं, जो पिता परमेश्वर को तथा उसी की व्यवस्था को जानते हुए उनका भोग करता है। कड़वाहट में भी मिठास का अनुभव करने की क्षमता प्रभुभक्तों में ही होती है। 'ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो' यह कहकर दुःखों को भी सुख से सहनेवाले वे ही होते हैं, जो पिता प्रभु में विश्वास रखते हैं। धर्मपूर्वक जगत् के फलों को आस्वादन करने का प्रेयमार्ग अनुपादेय नहीं है। हाँ, यदि मुक्तिमार्ग के राही होने की अभीप्सा हमारे अन्दर है, तो उस मार्ग पर जाना गौरव की बात है।

---

१. मधु अदन्ति इति मध्वदः। अद भक्षणे, अदादिः।
२. षूङ् प्राणिगर्भविमोचने, अदादिः।
३. नशतिः व्याप्तिकर्मा, निघं० २.१८।
४. विद ज्ञाने, अदादिः।
५. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभि चाकशीति॥ —ऋ० १.१६४.२०

२४. सहस्राक्षरा गौरी

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥

—ऋ० १.१६४.४१

ऋषिः-दीर्घतमाः औचथ्यः॥ देवता-वाक् (गौरीः)॥ छन्दः-जगती॥

(**गौरीः**[१]) वेदवाणी (**मिमाय**[२]) शब्द कर रही है, (**सलिलानि**) ज्ञान-जलों को (**तक्षती**[३]) सृजती हुई। (**एकपदी**) एक पदवाली, (**द्विपदी**) दो पदवाली, (**चतुष्पदी**) चार पदवाली, (**अष्टापदी**) आठ पदवाली, और (**नवपदी**) नौ पदवाली (**बभूवुषी**[४]) होना चाहती हुई (**सहस्राक्षरा**) सहस्रों अक्षरोंवाली (**सा**) वह (**परमे व्योमन्**[५]) परम व्योम परमेश्वर में [निवास करती है]।

देखो, वेदवाणी बोल रही है, ज्ञान-सलिलों को बहा रही है, कुछ दिव्य सन्देश दे रही है, कुछ कर्त्तव्योपदेश कर रही है। इसके सन्देश को सुनो, मनन करो, जीवन में चरितार्थ करो। कहीं यह एकपदी है, एक पादवाली है, क्योंकि वेद की बहुत-सी ऋचाओं में केवल एक ही पाद होता है। एक ब्रह्म का प्रतिपादन करने के कारण भी यह एकपदी कहलाती है। कहीं यह द्विपदी है, क्योंकि वेद की बहुत-सी ऋचाओं में दो ही पाद होते हैं। व्यवहार और परमार्थरूप दो प्रतिपाद्य विषयों के कारण भी यह द्विपदी कहाती है। कहीं यह चतुष्पदी है, चार पादोंवाली है, यथा अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् एवं जगती चार-चार पादोंवाले छन्द हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चार विषयों का प्रतिपादन करने के कारण भी यह चतुष्पदी कहलाती है। कहीं यह अष्टापदी है, आठ पादोंवाली है, यतः चार पादोंवाले छन्द प्रत्येक पाद को दो-दो में विभक्त करके आठ पादोंवाले हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त क्वचित् अतिजगत्यादि छन्द सीधे ही आठ पादोंवाले प्रयुक्त हुए हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि इन आठ योगांगों का वर्णन करने के कारण भी वेदवाणी अष्टापदी कहलाती है। कहीं वेदवाणी नवपदी है, यतः अतिजगत्यादि छन्द क्वचित् नवपदोंवाले प्रयुक्त हुए हैं। किन्हीं मन्त्रों में नौ अक्षरोंवाले पाद प्रयुक्त होने के कारण भी यह नवपदी कहलाती है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय या पाँच प्राण एवं मन, बुद्धि, चित्त, अहंकाररूप अन्तःकरण चतुष्टय इन नौ का वर्णन करने के कारण भी वेदवाणी नवपदी कहलाती है।

वेदवाणी सहस्राक्षरा है, इसमें सहस्रों अक्षर हैं। अक्षरों से शब्द बनते हैं, शब्द विभक्ति सहित प्रयुक्त होने पर पद हो जाते हैं, पदों से वाक्य बन जाते हैं। प्रत्येक पद का वाच्य, लक्ष्य या व्यङ्ग्य कुछ अर्थ है। अनेक पद मिलकर वाक्य बनते हैं, जो वाक्यार्थ को देते हैं। पद और वाक्य अध्यात्म, अधिदैवत, अधियज्ञ, अधिराष्ट्र आदि कई प्रकार के अर्थों को देते हैं, जिनसे वेदवाणी बड़ी ही गरिमापूर्ण बनी हुई है। यह परब्रह्मरूप परमव्योम में प्रतिष्ठित है। आओ, इस वेदवाणी का दिव्य सन्देश सुनकर स्वयं को कृतार्थ करें।

---

१. गौरी=वाक्, निघं० १.११।
२. माङ् माने शब्दे च, लिट्।
३. तक्षू तनूकरणे, शतृ। स्त्रियां ङीप्।
४. भू सत्तायाम्, सन्नन्त, स्त्रीलिंग।
५. व्योमन्=व्योम्नि। सुपां सुलुक्० ७.१.३९ से विभक्ति का लुक्।

२५. सरस्वती का स्तन

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।
यो रत्नधा वसुविद् यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः॥ —ऋ० १.१६४.४९

ऋषिः—दीर्घतमाः औचथ्यः॥ देवता—सरस्वती॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**यः**) जो (**ते**) तेरा (**स्तनः**) स्तन (**शशयः**[1]) सुलानेवाला [है], (**यः**) जो (**मयोभूः**) सुख देनेवाला [है], (**येन**) जिससे (**विश्वा**) सब (**वार्याणि**[2]) वरणीय तत्त्वों को (**पुष्यसि**[3]) [तू] परिपुष्ट करती है; (**यः**) जो (**रत्नधाः**[4]) रमणीय बल को देनेवाला, और (**वसुविद्**[5]) ऐश्वर्य प्राप्त करानेवाला [है], (**यः**) जो (**सुदत्रः**[6]) शुभ रस देनेवाला है, (**सरस्वति**) हे सरस्वती! (**तम्**) उस [स्तन] को (**इह**) यहाँ (**धातवे**[7]) [हमारे] पीने के लिए (**कः**[8]) कर।

हे वेदवाणी! तू सरस्वती है, रस से भरी है। हे वेदमाता सरस्वती! तू अपने शब्द-रूप स्तन से वेदार्थ-रूप दूध का पान कराती है। जैसे शिशु माँ का स्तन पीते-पीते सो जाता है, ऐसे ही तू अपने स्तन से ज्ञान-रूप दूध का पान कराकर हम अबोध शिशुओं को पाप-ताप-रहित विश्रान्ति की निद्रा में सुला देनेवाली है। जब हम तन्मय होकर वेदार्थ-रस का पान करते हैं, तब सचमुच समाधि जैसी सुखमयी विश्रान्ति-निद्रा की अनुभूति होती है। वेदमाता हमें अध्यात्म का पयः पान कराती है। वेदमाता हमें ब्राह्मणधर्म का, क्षात्रधर्म का, वैश्यधर्म का पयः पान कराती है। वेदमाता हमें ब्रह्मचर्याश्रम के कर्त्तव्य का, गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्य का, वानप्रस्थाश्रम के कर्त्तव्य का, संन्यासाश्रम के कर्त्तव्य का मधुर दूध पिलाती है। वेदमाता हमें ऊर्ध्वरेतस्त्व का, वीरता का, सौम्यता का, माधुर्य का, पारस्परिक सांमनस्य का, पारिवारिक सद्भावना का, यज्ञ का, अहिंसा का, सत्य का, तपस्या का, स्वाध्याय का, ईश्वर-प्रणिधान का रस पिलाती है। वेदमाता हमें उत्साह का, साहस का, दीक्षा का, शिवसंकल्प का, श्रद्धा का, मेधा का, धर्माचरण का, मातृ-पितृपूजा का, राष्ट्रभक्ति का, बलिदान का स्तन्य-पान कराती है। वेदमाता हमें नम्रता का, सहृदयता का, क्षमाशीलता का, जितेन्द्रियता का, पवित्रता का स्तन्य-पान कराती है। वेदमाता हमें अग्नि-सोम के, ब्रह्म-क्षत्र के और श्रद्धा-मेधा के समन्वय का दूध पिलाती है। वेदमाता का स्तन विश्राम देनेवाला है, सुख देनेवाला है। वेदमाता के दूध में पोषक तत्त्व हैं। जिन आध्यात्मिक, नैतिक या सामाजिक तत्त्वों की मनुष्य को आवश्यकता होती है, वे सब वेदमाता के वेदार्थ-रूप दूध में विद्यमान हैं, जिनसे वह उसका पयः पान करनेवाले हम शिशुओं को परिपुष्ट करती है।

वेदमाता का स्तन 'रत्नधा' है, रमणीय बल, शक्ति और स्फूर्ति को देने वाला है। वह 'वसुविद्' है, सर्वविध ऐश्वर्य प्राप्त करानेवाला है। वह 'सुदत्र' है, बहुत अधिक दान करनेवाला है, बहुत-बहुत लाभ पहुँचानेवाला है। वह मानसिक रोगों को हरता है, मनोबल बढ़ाता है, आत्मबल को समृद्ध करता है, प्राणशक्ति को उन्नत करता है, मनीषा की वृद्धि करता है, ब्रह्मवर्चस को उद्दीप्त करता है।

हे वेदमाता! हमें अपना स्तन्य पान कराओ, हमारी व्याधियाँ हरो, स्वास्थ्य प्रदान करो, दक्षता दो, हमारे योग-क्षेम का वहन करो। हम शिशुओं को अपना प्यार दो।

---

१. अतिशयेन पुनः पुनः शाययति यः सः।
२. वृञ् वरणे, ण्यत्।
३. पुष पुष्टौ, दिवादिः।
४. रत्नानि रमणीयानि बलानि दधाति दत्ते यः सः।
५. वसूनि ऐश्वर्याणि वेदयति लम्भयते यः सः।
६. सुदत्रः शोभनदानः, निरु० ६.१४।
७. धेट् पाने, धातुं पातुम्। तुमुन् अर्थ में तवेन् प्रत्यय।
८. डुकृञ् करणे, लोट् के अर्थ में लुङ्। कः=अकार्षीः=कुरु।

२६. तुम्हीं मनुष्य का रथ आगे बढ़ाते हो

त्वं हि शूरः सनिता चोदयो मनुषो रथम्।
सहावान्दस्युमव्रतमोषः पात्रं न शोचिषा॥

—ऋ० १.१७५.३

ऋषिः—अगस्त्यः मैत्रावरुणिः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥

हे इन्द्र प्रभु! (**त्वम्**) आप (**हि**) निश्चय ही (**शूरः**) शूर [हो], (**सनिता**[1]) भक्त को भजनेवाले [हो]। (**चोदयः**[2]) प्रेरित करते हो, आगे बढ़ाते हो (**मनुषः**) मनुष्य के (**रथम्**) रथ को। (**सहावान्**[3]) बलवान् [आप] (**दस्युम्**) दस्यु को, (**अव्रतम्**[4]) व्रतहीन को, कर्महीन को (**ओषः**[5]) जलाते हो, पकाते हो, (**न**) जैसे (**पात्रम्**) घड़े आदि पात्र को (**शोचिषा**) अग्नि के ताप से [पकाते हैं]।

हे मेरे इन्द्र प्रभु! मैं तुम्हारा नाम जपता हूँ, तुम्हारे उज्ज्वल गुण-कर्म-स्वभाव का वर्णन करता हूँ। तुम शूर हो, संसार के बड़े-से-बड़े बली, वीर, पराक्रमी लोग तुम्हारे बल, वीरत्व और पराक्रम के आगे हार मानते हैं। काव्यशास्त्रियों ने वीररस के सन्दर्भ में वीर चार प्रकार के माने हैं—दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर। तुम्हारी दानवीरता अतिशय श्लाघ्य है। तुमने सागर की सीपियों में मोती भरे हैं, खानों में अनेक प्रकार के खनिज संजोये हैं। वन-पर्वत, वृक्ष-लता, ओषधि-वनस्पति, फूल-फल, खेत-खलिहान, अन्न-जल आदि दिए हैं। तुम्हारी धर्मवीरता भी स्तुत्य है। अन्याय, पक्षपात आदि से पृथक् रहकर सदा धर्म से अविरुद्ध ही कार्य करते हो। तुम युद्धवीर भी अद्वितीय हो। पापियों एवं पापों को युद्ध में निर्मूल करके पुण्यशालियों एवं पुण्यों की विजयपताका फहराते हो। तुम दयावीर ऐसे हो कि सबको उनके कर्मों के अनुसार फल देकर उन्हें पुरस्कृत करने एवं सुधारने की दया दिखाते हो।

हे प्रभु! तुम 'सनिता' हो, भक्तों को भजनेवाले हो। जो तुम्हारी भक्ति में लीन होकर तुम्हारी स्तुति, प्रार्थना, उपासना करता है, वह कभी खाली हाथ नहीं लौटता। तुम्हारा स्तोता तुम्हें भजता है, तुम उसे भजते हो। तुम मनुष्य के रथ को प्रेरित करते हो, उसके सारथि बन जाते हो। रथ यहाँ आगे बढ़ने के समस्त साधनों का प्रतीक है। मनुष्य अपनी उन्नति के लिए जिन साधनों का भी प्रयोग करता है, वे साधन तुम्हारी कृपा से मानों स्वयं ही प्रवृत्त होते चलते हैं। स्वयं ही रथ का पहिया घूमता चलता है, रथ आगे बढ़ता है, और मनुष्य लक्ष्य पर पहुँच जाता है।

हे मेरे प्रभु! तुम सहावान् हो, बलियों में बली हो। जो दस्यु है, अकर्मा है, व्रतहीन है उसे पुण्यात्मा, सक्रिय और व्रतनिष्ठ बना देने की शक्ति तुम्हारे अन्दर है। दस्यु और व्रतहीन को तुम दाह पहुँचाते हो, जलाते हो, कष्ट देते हो, और अपनी सत्प्रेरणा के प्रकाश की एक शुभ्र किरण उस पर छोड़ देते हो। तब जैसे स्वर्णपात्र अग्नि में दग्ध होकर कञ्चन बन जाता है, वैसे ही वह दस्यु मनुष्य पुण्यात्मा, सुव्रती, कर्मठ के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

हे प्रभु! मेरे रथ को भी तुम आगे बढ़ाते चलो। मुझमें यदि किसी भी अंश में दस्युता या व्रतहीनता है, तो उसे दग्ध करके मुझे उज्ज्वल बना दो।

---

१. षण संभक्तौ, भ्वादिः, तृन्।
२. चुद संचोदने (प्रेरणे), लडर्थे लेट्।
३. सहः बलं तद्वान्। 'सहा' में दीर्घ छान्दस।
४. व्रत=कर्म, निघं० २.१।
५. उष दाहे, भ्वादि। लडर्थे लेट्।

२७. सविता देव की वाणियों का जादू

आ न इळाभिर्विदथे सुशस्ति विश्वानरः सविता देव एतु।
अपि यथा युवानो मत्सथा नो विश्वं जगदभिपित्वे मनीषा॥

—ऋ० १.१८६.१

ऋषिः—अगस्त्यः मैत्रावरुणिः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(नः विदथे) हमारे जीवन-यज्ञ में **(सुशस्ति)** सुन्दर परामर्शपूर्वक **(इडाभिः)** वाणियों के साथ, प्रेरणाओं के साथ **(विश्वानरः[१])** सबका नेता **(सविता[२] देवः)** प्रेरक सविता प्रभु **(आ एतु)** आये; **(अपि यथा)** जिससे **(युवानः)** हे युवा प्राण रूप मरुतो! तूम **(मनीषा[३])** बुद्धि से **(विश्वं जगत्)** सम्पूर्ण जगत् को **(अभिपित्वे[४])** प्राप्त कर लेने के लिए **(नः मत्सथ[५])** हमें मस्त कर दो।

मानव को प्रेरणा की आवश्यकता होती है। उसे वह अपने से बड़े अनुभवी माता, पिता, आचार्य, विद्वज्जन, संन्यासी आदि से प्राप्त करके जीवन में उन्नति करने का प्रयास करता है। परन्तु प्रेरणा के सबसे बड़े स्रोत तो 'सविता प्रभु' हैं। वे हमारे अन्तरात्मा में बैठे हुए वाणी बोलते रहते हैं तथा हमें उद्बोधन देते रहते हैं। प्रभु की वाणियाँ प्रेरणा-रूप ही होती हैं, क्योंकि वे मुख आदि अवयवों से रहित होने के कारण हमारे समान शब्द नहीं बोलते हैं। हम सविता देव तथा अपने बीच के द्वार खोले रहें, तो हमें उनके परामर्श निरन्तर प्राप्त होते रहते हैं, उनकी वाणियाँ सतत रूप से सुनायी देती रहती हैं। सविता देव हमारे जीवन-यज्ञ में उतर कर हमारे मन और आत्मा को सुप्रकाशित कर देते हैं।

'सविता' सूर्य का भी नाम है। 'सविता' परमेश्वर कहते हैं—देखो, मेरे बनाये सूर्य को देखो। प्रकाश का पुञ्ज है यह सूर्य और सबको प्रकाशित करता है। ऐसे ही तुम भी प्रकाशमान और प्रकाशक बनो। सूर्य अपने प्रकाश से सारे भूमण्डल में छा जाता है। तुम भी अपने प्रभाव से क्या सारे भूमण्डल में नहीं छा सकते? सविता प्रभु हमें उद्बोधन देते हैं—उठो, जागो, नींद को त्यागो, आलस्य और प्रमाद को छोड़ो। देखो, प्राची में सूर्योदय हो रहा है, प्रभात खिल रहा है। तुम भी अभ्युदय प्राप्त करो, जीवन में नव प्रभात लाओ। तदनन्तर मध्याह्नकालीन सूर्य की उज्ज्वल ज्योति के समान प्रखर तेज से भासित हो जाओ। उद्बुद्ध होवो; संसार से अविद्या, अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, हिंसा, द्वेष, असहिष्णुता, अधर्म, अविश्वास मिटाने के लिए तत्पर हो जाओ। गुण-कर्म-स्वभाव से आर्य बनो, आर्यत्व का प्रसार करो, आर्य साम्राज्य बनाओ, चक्रवर्ती आर्य राज्य की स्थापना करो। सब राष्ट्रों को एक मानवता के ध्वज के नीचे ले आओ। बोलो, वैदिकधर्म की जय।

सविता परमेश्वर की इसप्रकार की उद्बोधक वाणियाँ यदि हमें सुनायी देती रहेंगी, तो हमारे तरुण प्राण जाग उठेंगे, मनीषा लहरें उठाने लगेगी, मन और आत्मा छलाँगे लगाने के लिए कटिबद्ध हो जाएँगे। सम्पूर्ण जगत् पर मानवता का अधिकार कराने के लिए हमारे कदम उठ जाएँगे। हमारे अन्दर मस्ती छा जाएगी समस्त विश्व को एक झण्डे के तले लाने के लिए। तब संसार से रोष और हाहाकार मिट जाएँगे। 'हम सब एक ईश्वर के अमृत पुत्र-पुत्रियाँ हैं' यह भावना सबके हृदयों में घर कर लेगी। हे सविता देव! अपनी जादूभरी वाणियाँ हमें सुनाते रहो।

---

१. विश्वानरः कस्मात्? विश्वान् नरान् नयति —निरु ७.२
२. सुवति प्रेरयतीति सविता। षू प्रेरणे, तुदादिः।
३. मनीषा=मनीषया। विभक्ति का लुक् अथवा पूर्वसवर्णदीर्घ।
४. अभिपित्व=अभिप्राप्ति, निरु० ३.१४।
५. मदी हर्षे, लेट्, मध्यमपुरुष बहुवचन।

२८. तेरे स्तोता को भय प्राप्त न हो

पाहि नो अग्ने पायुभिरजस्त्रैरुत प्रिये सदन आ शुशुक्वान्।
मा ते भयं जरितारं यविष्ठ नूनं विदन्मापरं सहस्वः॥

—ऋ० १.१८९.४

ऋषिः—अगस्त्यः मैत्रावरुणिः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(पाहि) पालित करो **(नः)** हमें **(अग्ने)** हे तेजस्वी उन्नायक जगदीश्वर! **(अजस्त्रैः)** अक्षय **(पायुभिः)** पालनप्रकारों से। **(उत)** और **(प्रिये सदने)** हमारे प्रिय हृदय-सदन में **(आ शुशुक्वान्[1])** आकर दीप्यमान [हो जाओ]। **(मा)** न **(ते जरितारम्[2])** तेरे स्तोता को **(यविष्ठ)** हे तरुणतम! **(सहस्वः[3])** हे बलवन्! **(भयम्)** भय **(नूनम्[4])** निश्चय ही आज **(विदत्[5])** प्राप्त हो, **(मा)** ना ही **(अपरम्)** अन्य किसी समय।

हे ईश! तुम अग्नि हो, अग्रगन्ता हो, मार्गदर्शक हो, उन्नायक हो, अग्नि के समान प्रकाशमय एवं प्रकाशक हो। तुम्हारे सैंकड़ों पालन-प्रकार हैं। तुम गिरते को उठा लेते हो, तुम ठोकर खाते को सँभाल लेते हो, तुम पतित को उबार लेते हो, तुम डूबते को बचा लेते हो, तुम पाप-पंक में फँसे को निस्तार लेते हो। जिसके तुम राखनहार हो वह पर्वत या वायुयान से गिरकर भी बच जाता है। जिसके तुम खिवैया हो वह समुद्र की लहरों को भी पार कर लेता है। जिसके तुम त्राता हो वह आग की लपटों में घिरा हुआ भी बाहर निकल आता है। जिसके तुम शरणदाता हो वह भूकम्प से गिरे विशाल भवन के मल्वे में दबा हुआ भी जीवित रहता है। हे परमेश! तुम हमें भी अपनी दिव्य पालना में ले लो, हमें भी अपनी सन्ताप-हारिणी छाया में ले लो, हमें भी अपनी कलुष-निवारिणी निर्झरिणी में नहला दो, हमें भी अपनी विपद्-विदारिणी शरण का पात्र बना लो। हे तेजस्विता के देव! तुम हमारे हृदय-मन्दिर में दीपक बनकर आ विराजो। तुम्हारे दिव्य आलोक से हमारे मानस का सब तमोभाव विदीर्ण हो जाए।

हे परमेश! तुम यविष्ठ हो, सर्वाधिक युवा हो, तरुणतम हो। तुम जैसी तरुणाई, तुम जैसा बाँकापन, तुम जैसी बहादुरी किसी में नहीं है, तुम सदा युवा हो। तुम सहस्वान् हो, बलियों में बली हो। तुम जिसके सहायक बन जाते हो वह निर्भय हो जाता है। तुम ऐसी कृपा करो कि मुझ तुम्हारे स्तोता को न आज कहीं से भय प्राप्त हो, न भविष्य में किसी से भय हो। निःसन्देह ऐसा निर्भय होना कठिन है। पर तुम्हारे तरुणता के स्वरूप को तथा तुम्हारे बलवत्ता के स्वरूप को जो हृदयंगम कर लेता है, उसके सम्मुख भय का कोई कारण अवशिष्ट नहीं रहता। भय तो उसे हो, जिसका सहायक निर्बल है। तुम भयनिर्मूलक को सहायक के रूप में पाकर हम सर्वथा अभय हो जाएँ।

---

१. शोचति ज्वलतिकर्मा, निघं० १.१६। लिट्, क्वसु।
२. जरिता=स्तोता, निघं० ३.१६। जरति, जरते अर्चतिकर्मा, निघं० ३.१४।
३. सहस्=बल, निघं० २.९, मतुप्। सहस्वत्। सम्बोधन में 'मतुवसो रु संबुद्धौ छन्दसि', पा० ८.३.१ से नकार को रु, विसर्ग।
४. नूनम्=अद्य, निरु० १.६। नूनम् का अर्थ अद्य नहीं है, किन्तु वाक्य में श्वः, अपरम् आदि के साथ प्रयुक्त होने पर 'निश्चय ही आज' अर्थ द्योतित हो जाता है।
५. विद्लृ लाभे, तुदादिः। लेट् लकार, तिप्।

२९. श्रुति के बन्द द्वार खोल दो

दा नो अग्ने बृहतो दाः सहस्रिणो दुरो न वाजं श्रुत्या अपा वृधि।
प्राची द्यावापृथिवी ब्रह्मणा कृधि स्व१र्ण शुक्रमुषसो वि दिद्युतुः॥

—ऋ० २.२.७

ऋषिः—गृत्समदः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—जगती॥

(**दाः**[1]) प्रदान करो (**नः**) हमें (**अग्ने**) हे उन्नायक प्रभु! (**बृहतः**) महान् ऐश्वर्य। (**दाः**) प्रदान करो (**सहस्रिणः**) सहस्रसंख्यक ऐश्वर्य। (**दुरः**[2] **न**) द्वारों के समान (**श्रुत्याः**) श्रुति के, वेद के (**वाजम्**[3]) ज्ञान को (**अपा वृधि**[4]) उद्घाटित करो। (**प्राची**) प्रोन्नत (**कृधि**[5]) कर दो (**द्यावापृथिवी**) आत्मलोक और देहलोक को (**ब्रह्मणा**) वृद्धत्व से। (**स्वः न शुक्रम्**) जिससे चमकीला सूर्य [उदित हो इस हेतु से] (**उषसः**) उषाएँ (**विदिद्युतुः**[6]) चमकें।

हे प्रभु! तुम अग्नि हो, हम निस्तेज हैं। तुम ऐश्वर्य, ज्ञान, बल आदि से परिपूर्ण हो, हम रीते हैं। तुम धनाधीश हो, हम अकिंचन हैं। तुम दाता हो, हम भिक्षुक हैं। दो, हे प्रभु, तुम हमें महान् ऐश्वर्य दो। सोना-चाँदी, दूध-अन्न, धन-धरती आदि स्थूल सम्पत्ति हम तुमसे नहीं माँगते, तुम तो हमारे सम्मुख महान् दिव्य ऐश्वर्य का भण्डार बखेर दो, हमें सहस्रों दिव्य सम्पदाओं का स्वामी बना दो। तुम हमें सत्य, अहिंसा आदि की दिव्य दौलत प्रदान कर दो। तुममें जो असंख्य गुण हैं, उनमें से ही कुछ का अधिकारी हमें बना दो। दूसरी वस्तु हम तुमसे यह माँगते हैं कि हमारे आगे श्रुति का ज्ञान ऐसे उद्घाटित कर दो, जैसे कोई किसी भवन के द्वार उद्घाटित करता है। भवन के द्वार बन्द पड़े रहने पर जैसे भवन में कोई प्रवेश नहीं कर सकता, ऐसे ही श्रुति के द्वार बन्द रहने पर श्रुति के गम्भीर अर्थों में प्रवेश कर पाना सम्भव नहीं होता। यही कारण है कि अनेक वेदप्रेमी जन वेदों के स्थूल अर्थों को ही अन्तिम मान बैठते हैं। वेद-मन्त्रों में अध्यात्म के जो रहस्यमय अर्थ छिपे पड़े हैं, उन तक पहुँच ही नहीं पाते। हे प्रभु! तुम हमें ऐसे सद्गुरु प्रदान करो जो वेदों के गुप्त से गुप्त अर्थों का परिज्ञान करा सकें। यास्क, पतञ्जलि, दयानन्द सरीखे अनोखे गुरु ही श्रुति के बन्द द्वारों को खोल सकते हैं।

तीसरी वस्तु जिसके लिए हम तुम्हारे सामने हाथ पसार रहे हैं, यह है कि हमारे द्यावापृथिवी को प्रोन्नत कर दो। बाहर के समान हमारे अपने अन्दर भी द्यावापृथिवी रहते हैं। हमारा आत्मलोक द्यौ है, और देहलोक पृथिवी है। जैसे बाहर के द्यौ और पृथिवी को तुमने अपने ब्रह्मत्व या वृद्धत्व से संवृद्ध कर रखा है, ऐसे ही हमारे अन्दर के भी द्यौ और पृथिवी को अर्थात् आत्मलोक एवं देहलोक को संवृद्ध कर दो। तुम हमारे आत्मा, प्राण, इन्द्रियाँ, देह के बाह्य आवरण आदि सबको शक्ति से भरपूर कर दो। चौथी प्रार्थना, हे तेजोमय देव तुमसे यह है कि हमारे सम्मुख आन्तरिक उषाएँ खिलें, जिससे चमकते हुए दिव्य सूर्य का दर्शन हमें हो सके।

---

१. डुदाञ् दाने, लोडर्थ में लुङ्। अडागमाभाव छान्दस।
२. दुरः द्वाराणि। रेफान्त द्वार् शब्द का द्वितीया-बहुवचन।
३. वाजम् ज्ञानम् —दयानन्द।
४. अपा वृधि=अपवृणु। अपा में निपात को दीर्घ 'निपातस्य च' पा० ६.३.१३६। वृञ् वरणे, स्वादि। हि को धि 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' पा० ६.४.१०२।
५. कृधि=कुरु। डुकृञ् करणे, लोट्, छान्दस रूप।
६. वि द्युत दीप्तौ, लिडर्थ में लिट्।

३०. भौतिक तथा दिव्य वृष्टि बरसानेवाला

स नो॑ वृष्टिं दि॒वस्परि॒ स नो॒ वाज॑मन॒र्वाण॑म्।
स नः॑ सह॒स्रिणी॒रिषः॑॥ —ऋ० २.६.५

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥

(सः) वह [अग्नि नामक प्रभु] **(नः)** हमारे लिए **(दिवः परि)** आकाश से **(वृष्टिम्)** वृष्टि को [देता है]। **(सः)** वही **(नः)** हमारे लिए **(अनर्वाणम्[1])** अहिंसक **(वाजम्[2])** बल [देता है]। **(सः)** वही **(नः)** हमारे लिए **(सहस्रिणीः)** हजारों दानों से भरी **(इषः)** अन्न की बालियाँ [देता है]।

प्रचण्ड ग्रीष्म के ताप से भूमि झुलसी जा रही है। ताल-तलैया-सरोवर सब सूख गये हैं। दुर्भिक्ष का आतंक छा रहा है। सहसा आकाश में बादल छा जाते हैं। मानसून पवन बहने लगता है। काले मेघों के बीच बिजली कौंधने लगती है। यह लो, प्यासी धरती पर वर्षा की फुहार गिर कर सोंधी-सोंधी महक उठाने लगी है। अब देखो, मूसलाधार वर्षा होने लगी, सूखे ताल फिर से भर गये। किसानों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी है। ओषधियाँ, वनस्पतियाँ हरी-भरी एवं सप्राण हो गयी हैं। यह आकाश से वृष्टि करनेवाला कौन है? अग्नि नामक प्रभु ही तो है। प्रभु केवल बाह्य वृष्टि का ही नहीं, दिव्य वृष्टि का भी कर्त्ता है। वही हमारे आत्मा में आनन्द की वर्षा करता है, वही आत्मा, मन, प्राण, ज्ञानेन्द्रिय आदि को दिव्य वृष्टि से पुलकित एवं सरस करता है।

देश में सर्वत्र हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा है। आक्रान्ता लोग निर्दोष लोगों पर गोलियाँ बरसा रहे हैं। आतंकवाद का बोलबाला हो रहा है। ऐसे समय में स्नेह की मुस्कान मुख पर लिये, सन्तप्त लोगों को सान्त्वना देता हुआ, अहिंसक बल का धनी यह कौन मुहल्ले-मुहल्ले, ग्राम-ग्राम, नगर-नगर घूम रहा है। इससे प्रभावित होकर आतंकवादी अपने-अपने हथियार डालकर आत्मसमर्पण करने लगे हैं। किसने अहिंसा में ऐसी विलक्षण शक्ति उत्पन्न की है? किसने इस निर्भय वीर में अहिंसक बल भरा है? परम प्रभु की ही यह लीला है। उसी का यह जादू है।

गेहूँ का एक दाना बोने पर जो पौधा निकलता है, वह कितने अधिक दाने उत्पन्न कर देता है। आम की गुठली बोने पर जो पेड़ बनता है, वह अपनी सारी आयु में असंख्य आम दे देता है। सभी अन्नों, शाक-सब्जियों एवं फलों के विषय में यह बात चरितार्थ होती है। यह अद्भुत व्यवस्था किसकी है? यह आश्चर्य-भरा खेल किसका है? उस प्रभु की ही यह व्यवस्था है, उस प्रभु का ही यह खेल है।

आओ, हम उस अग्नि प्रभु के प्रति नतमस्तक हों, उसका महिमागान करें, उसके उज्ज्वल कार्यों से कुछ शिक्षा ग्रहण करें, उसे अपना गुरु बनायें। हम भी दीन-दुःखियों पर परोपकार की वर्षा करें, हम भी अहिंसक बल के धनी बनें, हम भी एक से सहस्रों उत्पन्न करें।

---

१. अर्वा, हिंसकः। ऋ हिंसायाम्, स्वादिः। अनर्वा अहिंसकः।
२. वाज=बल, निघं० २.९।

३१. हमें अपनी नाव में बैठा लो

विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्याइव। अति गाहेमहि द्विषः॥

—ऋ० २.७.३

ऋषिः—सोमाहुतिः भार्गवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥

हे अग्नि! हे तेजस्वी जगदीश्वर! **(उत)** और **(त्वया)** आपके द्वारा, आपकी सहायता से **(वयम्)** हम **(विश्वाः)** सब **(द्विषः)** द्वेषी शत्रुओं को तथा द्वेषभावों को **(अति गाहेमहि[१])** पार कर लें, **(धाराः उदन्याः[२] इव)** जैसे जल की धाराओं को [पार करते हैं]।

बरसात का मौसम है, नदी उफनकर बह रही है। धार पूरे यौवन पर है। फैलकर नदी का पाट चौगुना हो गया है। पार का किनारा कुछ ही दूर तक नाव के लगने योग्य है। आगे नदी इतनी फैल गयी है कि उधर नाव चली गयी तो संकट में पड़ने के अतिरिक्त कुछ हाथ न लगेगा। बीच नदी में भयानक भंवरें भी हैं, जगह-जगह चट्टानें भी हैं। नैया भँवर में पड़ गयी या चट्टान से टकरा गयी, तो भगवान् ही का भरोसा है। पार पहुँचना भी आवश्यक है। ऐसी विकट स्थिति में कोई कुशल मल्लाह ही पार उतार सकता है। यह लो, आ गया चतुर खिवैया, नाव लहरों से टक्कर लेती हुई, भँवरों से जूझती हुई, चट्टानों से बचती हुई पार लग गयी है।

भाइयो! यह तो किस्सा है पानी की नदी का। पानी की नदी को पार करना तो फिर भी आसान है, परन्तु पारस्परिक विद्वेष की नदी बड़ी भयङ्कर होती है। उसमें लोहू का जल बहता है, शत्रुता की लहरें उठती हैं, हिंसा की भँवरें रहती हैं, हथियारों की चट्टानें होती हैं, कलह और प्रतिशोध के मगरमच्छ छिपे रहते हैं, मारो-काटो की दहाड़ होती है। विद्वेष जब मुँह लग जाता है, तब भाई भाई के रक्त का प्यासा हो जाता है, पुत्र पिता का वैरी बन जाता है, मित्र मित्र की उन्नति में बाधक हो जाता है, शिष्य गुरु का प्राणहर्त्ता बन जाता है, प्यारे आपस में शत्रु बन जाते हैं, सगे आपस में पराये हो जाते हैं, सम्बन्धी आपस में बेगाने हो जाते हैं।

हे परम प्रभु! तुम्हीं विद्वेष की नदी को पार कराने के लिए हमारे खिवैया बन जाओ। पारस्परिक प्रेम, सद्भावना और शान्ति की अपनी नाव में बैठा कर हमें कलह की विकट नदी से पार उतार दो। तुम सुदक्ष नाविक को पाकर हम मानव शत्रुओं से, काम-क्रोध आदि षड् रिपुओं से, विद्वेषों से, पारस्परिक दुर्भावनाओं से, पैशाचिकताओं से ऐसे ही पार हो जाएँ, जैसे नाव द्वारा उमड़ती नदी को पार करते हैं। आओ, हे प्यारे प्रभु! हमें अपनी नाव में बैठा लो।

---

१. गाहू विलोडने, भ्वादि। अति-गाह=विलोडन करते हुए पार हो जाना।

२. उदकस्य इमाः उदन्याः उदकसंबन्धिन्यः। उदक-यत्, उदक को उदन् आदेश।

३२. जग में शुभ्र बल बढ़े

शुभ्रं नु ते शुष्मं वर्धयन्तः शुभ्रं वज्रं बाह्वोर्दधानाः।
शुभ्रस्त्वमिन्द्र वावृधानो अस्मे दासीर्विशः सूर्येण सह्याः॥

—ऋ० २.११.४

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट्स्थाना पङ्क्तिः॥

(**नु**[१]) शीघ्र ही (**ते**) आपके (**शुभ्रं शुष्मम्**[२]) शुभ्र बल को (**वर्धयन्तः**) बढ़ाते हुए, (**शुभ्रं वज्रम्**) शुभ्र वज्र को (**बाह्वोः**) भुजाओं में (**दधानाः**) धारण करते हुए [हम होवें]। (**इन्द्र**) हे पवित्र ऐश्वर्य वाले प्रभु! (**अस्मे**) हमारे अन्दर (**वावृधानः**[३]) अतिशय बढ़ते हुए (**शुभ्रः त्वम्**) शुभ्र आप (**दासीः**[४] **विशः**) हिंसक प्रजाओं को (**सूर्येण**) सूर्य से (**सह्याः**[५]) परास्त कर दो।

बल दो प्रकार का होता है, एक शुभ्र बल और दूसरा अशुभ्र या काला बल। शुभ्र बल वह सात्त्विक बल है जो बिना हथियार के प्रतिपक्षी को अपने चरणों में झुका लेता है। क्या तुमने शुभ्र बल के धनी उन महापुरुषों को नहीं देखा है, जिनका संकेत पाते ही कोटि-कोटि जन उनके पीछे चल पड़ते हैं, कोटि-कोटि जन उनके एक वाक्य पर मर मिटने को उद्यत हो जाते हैं। परमेश्वर का बल शुभ्र बल का ही प्रतिनिधित्व करता है। परमेश्वर ने अपने शुभ्र बल से ही पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, तारों को धारा हुआ है, भूगोल-खगोल को मापा हुआ है। परमेश्वर का शुभ्र बल ही योग-साधकों को सिद्धि प्रदान करता है, मुमुक्षुओं को मुक्ति प्रदान करता है। शुभ्र बल शान्ति लाता है। काला बल हाहाकार मचाता है। शुभ्रबल व्यक्ति को व्यक्ति से, राष्ट्र को राष्ट्र से मिलाता है, काला बल व्यक्ति को व्यक्ति से, राष्ट्र को राष्ट्र से लड़ाता है। शुभ्र बल भगवान् का है। काला बल राक्षसी है। आओ, हम भगवान् के शुभ्र बल की ही संसार में वृद्धि करें। आओ, हम शुभ्र वज्र को भुजाओं में धारण कर लें। शुभ्र वज्र प्रेम का हथियार है, अशुभ्र वज्र द्रोह का हथिहार है।

हे इन्द्र प्रभु! जब तुम अपने शुभ्र, सौम्य, मंजुल रूप में हमारे अन्दर प्रकट होते हो, अपनी महिमा का विस्तार करते हो, तब तुम्हारी शुभ्रता से हम भी शुभ्र हो जाते हैं, तुम्हारी सौम्यता से हम भी सौम्य हो जाते हैं, तुम्हारी मंजुलता से हम भी मंजुल हो जाते हैं। हे प्रभु! तुम हमारे अन्दर अधिक से अधिक वृद्धि पाकर हमारे प्राण, मन, आत्मा को अपनी शुभ्रता से आप्लावित कर दो।

हे इन्द्र! जहाँ हमारे प्रति तुम अपना शुभ्र स्वरूप दर्शाते हो, वहाँ संसार में जो 'दासीः विशः' हैं, घात-पात-उपद्रव मचाने वाली राक्षसी प्रजाएँ हैं, उनके प्रति तुम अपना सूर्य जैसा दाहक रूप प्रकट करो। 'दासीः विशः' बाह्य जगत् और आन्तरिक जगत् दोनों में फैली हुई हैं। बाहर वे तस्कर, डाकू, लुटेरे, आततायी, आतंकवादी आदियों के रूप में हैं और अन्दर दम्भ, दर्प, अभिमान, ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ आदि की आसुरी सेनाओं के रूप में हैं। हे इन्द्र! इन्हें अपनी सूर्य-ज्वालाओं से दग्ध करके हमारे राष्ट्रलोक और आत्मलोक को निष्कंटक कर दो।

---

१. नु=क्षिप्रम्, निघं० २.१५। निरु० ११.४६।
२. शुष्म=बल, निघं० २.९।
३. वृधु वृद्धौ, भ्वादिः। यङ्लुगन्त, शानच्। अतिशयेन पुनः पुनः वर्धमानः।
४. दसु उपक्षये, दिवादिः।
५. षह मर्षणे, अभिभवे च। लिङ्।

३३. ईश्वरीय कौशल

अवंशे द्यामस्तभायद् बृहन्तमा रोदसी अपृणदन्तरिक्षम्।
स धारयत्पृथिवीं पप्रथच्च सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥

—ऋ० २.१५.२

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**अवंशे**) बिना बाँस के (**बृहन्तम्**) विशाल (**द्याम्**) द्युलोक को, द्युलोकवर्ती सूर्य, नक्षत्र आदि को (**अस्तभायत्**[1]) थामा है। (**रोदसी**) द्यावापृथिवी को, (**अन्तरिक्षम्**) अन्तरिक्ष को (**अपृणत्**[2]) [बहुमूल्य वस्तुओं से] भरा है। (**सः**) उसने (**धारयत्**[3]) धारण किया है (**पृथिवीम्**) पृथिवी को (**पप्रथत्**[4] **च**) और विस्तीर्ण किया है। (**सोमस्य मदे**) परोपकार-रूप सोम के मद में (**ता**) उन कार्यों को (**इन्द्रः**) इन्द्र ने (**चकार**) किया है।

ऊपर का संसार बड़ा निराला है। भूलोक में हम निवास करते हैं। इससे ऊपर अन्तरिक्षलोक है, जहाँ बादल रहते हैं, जहाँ चन्द्रमा यात्रा करता है और जहाँ मंगल, बुध आदि ग्रह तथा उनके उपग्रह हैं। उसके भी ऊपर द्युलोक है, जहाँ तेज का एक गोला-सा दिखाई देने वाला आदित्य चमकता है। इस द्युलोक को स्वर्लोक भी कहते हैं। इससे भी ऊपर महः, जनः, तपः और सत्यम् लोक हैं, कुछ तारे महःलोक में और कुछ उससे भी ऊपर के लोकों में हो सकते हैं। सूर्य यद्यपि छोटा-सा दिखायी देता है, तो भी वह पृथिवी से लाखों गुणा बड़ा है। तारे सूर्य से छोटे प्रतीत होते हैं, पर असल में वे सूर्य से लाखों, करोड़ों गुना बड़े हैं। वे बिन्दु जैसे तो दूर होने के कारण लगते हैं। आसमान में सप्तर्षि-तारामण्डल हैं, मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक आदि १२ राशियों का राशिचक्र है, अश्विनी भरणी, कृत्तिका, रोहिणी आदि नक्षत्रपुंज हैं, ब्रह्ममण्डल है, रोहिणी शकट है, हंस है, नौका है, प्रकृति है, पुरुष है, तक्षक है, वासुकि है, उच्चैःश्रवाः अश्व है, आकाशगंगा है। ये सब बिना आधार के ही आकाश में टँगे हुए हैं, इनकी एक-दूसरे से दूरी भी प्रायः नियत है और ये एक-दूसरे से टकराते नहीं हैं। यह सब प्रभु की लीला बड़ी ही रोमांचक है।

यह भी इन्द्र प्रभु की ही महिमा है कि उसने द्युलोक, भूलोक और अन्तरिक्ष को अनेक बहुमूल्य वस्तुओं से भरपूर किया हुआ है। द्युलोकवर्ती सूर्य और तारों में असीम ताप है, रश्मियाँ है, नाना प्रकार की गैसे हैं। अन्तरिक्ष में प्राणदायक बादल हैं तथा अन्तरिक्षवर्ती ग्रह-उपग्रहों में अनेक प्रकार की उपयोगी धातुएँ और खनिज विद्यमान हैं। भूलोक में बहुविध खनिज, मणि-माणिक्य, ओषधि-वनस्पति, वायु, जल आदि उपयोगी पदार्थ हैं।

हम सबसे अधिक परिचित अपनी पृथिवी से हैं। अन्य लोक-लोकान्तरों को छोड़ भी दें तो अकेली पृथिवी भी इन्द्र प्रभु की महिमा को उजागर करने के लिये बहुत है। इस सुविशाल पृथिवी को उत्पन्न करना, विस्तीर्ण करना, धारण करना, रक्षित करना, व्यवस्थित करना क्या कम महत्त्व की बात है?

इन्द्र प्रभु उपर्युक्त सभी कार्यों को परोपकाररूप सोम के मद में कर रहा है। आओ, इन्द्र प्रभु का हम शतशः धन्यवाद कर उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करें।

१. स्तम्भु स्तम्भनार्थः, णिच्, लङ्।
२. पृण प्रीणने, तुदादिः, पूरणार्थोऽपि दृश्यते।
३. धृञ् धारणे, भ्वादि, क्वाचित्कः चुरादिरपि। लेट्, धारयत्। यद्वा, लङि अडभावः।
४. प्रथ प्रख्याने, विस्तारार्थेऽपि। चुरादिः, लुङ् अडभावः।

३४. हे नर! अपनी शक्ति को पहचान

न क्षोणीभ्यां परिभ्वे त इन्द्रियं न समुद्रैः पर्वतैरिन्द्र ते रथः।
न ते वज्रमन्वश्नोति कश्चन यदाशुभिः पतसि योजना पुरु॥

—ऋ० २.१६.३

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—जगती॥

(इन्द्र) हे नरतनधारी जीवात्मा! **(न)** न तो **(क्षोणीभ्याम्**[1]**)** द्यावापृथिवी से **(परिभ्वे**[2]**)** तिरस्करणीय होता है **(ते)** तेरा **(इन्द्रियम्)** बल और **(न)** न ही **(समुद्रैः)** समुद्रों से, तथा **(पर्वतैः)** पर्वतों से **(परिभ्वे)** रोका जाने योग्य होता है **(ते)** तेरा **(रथः)** रथ। **(न)** न **(ते वज्रम्)** तेरे वज्र को **(अन्वश्नोति**[3]**)** झेल सकता है **(कश्चन)** कोई भी, **(यत्)** जब **(आशुभिः)** वेगवान् यानों से, तू **(पतसि)** उड़ान भरता है **(पुरु योजना**[4]**)** अनेक योजनों तक।

हे इन्द्र! हे नरतनधारी जीवात्मा! क्या तू अपने-आप को तुच्छ समझ रहा है? क्या तू इस बात से निराश है कि तुझे तो छोटे-छोटे जीव मच्छर, ततैये, बिच्छू, साँप भी उद्वेजित कर देते हैं; सिंह, व्याघ्र, चीते, रीछ, भेड़िये आदि पशु भी थर-थर कँपा देते हैं? क्या तू सोचता है कि तुझसे तो बन्दर ही अच्छे हैं, जो जल-स्थल में और वृक्ष-शाखाओं पर कूदते फिरते हैं? क्या तेरे मन में यह विचार आता है कि तुझसे तो पँछी ही बाजी मार ले गये हैं, ज़ो भूमि पर तथा पेड़ों की टहनियों पर फुदकते फिरते हैं और जब जी चाहता है आस्मान में उड़ान भरने लगते हैं? यदि ऐसे निराशा के विचार तेरे मन में आते हैं, तो तू गल्ती पर है। तू तो ईश्वर की सबसे निराली कृति है। तेरे जैसा मनोबल और बुद्धिबल भला किसके पास है? तेरी जैसी व्यक्त वाणी का भला और कौन धनी है! याद रख, तू संसारभर के प्राणियों में सबसे अधिक महिमाशाली है। तू सब पर शासन कर सकता है। तू विशाल डील-डौल वाले भयानक जङ्गली हाथी को वश में कर सकता है, नरभक्षी क्रूर सिंह को पिंजरे में बन्द कर सकता है।

ये द्यावापृथिवी बहुत विशाल हैं। द्युलोक की महिमा ही निराली है। वहाँ के सूर्य और तारों की दुनियाँ किसे अचरज से पूर्ण नहीं कर देती? भूमि की विस्तीर्णता और अनोखी संपदा पर कौन मुग्ध नहीं हो जाता? परन्तु हे इन्द्र! हे नरदेहधारी जीवात्मा! तेरा बल इन द्यावापृथिवी से भी महान् है। ये धरती-आकाश तेरे इन्द्रत्व के आगे, तेरे बल के सम्मुख हार मानते हैं। तू चाहे तो सूर्य को भी अङ्गुलि पर नचा सकता है। तू चाहे तो आकाश में कृत्रिम काले बादल लाकर दिन में रात कर सकता है। तू चाहे तो कृत्रिम सूर्य बनाकर रात्रि को दिन में परिणत कर सकता है। जब तू वेगगामी यानों पर सवार होकर अनेकों योजनों की उड़ान भरता है, तब तेरे रथ को न समुद्र रोक सकते हैं, न पहाड़ रोक सकते हैं। तू पहाड़ों के अन्दर भी सुरंगें बना सकता है, तू जलपोतों से समुद्र की डरावनी लहरों को भी चीर सकता है। तू पनडुब्बियों से सागर की गहराई में भी चिरकाल तक गोता लगाये रह सकता है। तेरे वज्रप्रहार को सहन करने की किसी में शक्ति नहीं है। तू अपने वज्र से हिमालय को कँपा सकता है, धरती को हिला सकता है, शत्रुओं पर गाज गिरा सकता है।

हे नर! अपनी शक्ति को पहचान। जिसके आगे झुकना चाहिए, उसके आगे झुक। जिसके सम्मुख अड़ना चाहिए, उसके सम्मुख अड़। तू जग का राजा बन जा। तेरे विराट् बल की सब पूजा करेंगे।

---

१. क्षोणी=द्यावापृथिवी, निघं० ३.३०।
२. परिभ्वे परिभवनीयं, तिरस्करणीयम्। परिभू-केन् (ए) प्रत्यय।
३. अनु-अशूङ् व्याप्तौ, स्वादिः। परस्मैपद छान्दस।
४. योजना पुरु=योजनानि पुरूणि।

३५. सब उसी की महिमा है

स प्राचीनान् पर्वतान् दृंहदोजसाधराचीनमकृणोदपामपः।
अधारयत्पृथिवीं विश्वधायसमस्तभ्नान्मायया द्यामवस्रसः॥ —ऋ० २.१६.५

ऋषिः—गृत्समदः शौनकः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—जगती॥

(**सः**) उस इन्द्र ने (**प्राचीनान्**[1]) ऊपर उठे हुए (**पर्वतान्**) पहाड़ों को (**दृंहत्**[2]) दृढ़ किया (**ओजसा**) बल से, (**अधराचीनम्**[3]) नीचे की ओर गति में प्रवृत्त (**अकृणोत्**[4]) किया (**अपाम्**) नदियों के (**अपः**) जलों को। (**अधारयत्**) धारा (**पृथिवीम्**) पृथिवी को (**विश्वधायसम्**[5]) जो सबको दूध पिलाने वाली तथा धारण करने वाली है। (**अस्तभ्नात्**) थामा (**मायया**) बुद्धि-कौशल से (**द्याम्**) सूर्य को (**अवस्रसः**[6]) नीचे गिरने से।

क्या तुम जगत्पति इन्द्र की महिमा सुनना चाहते हो? ये जो ऊँचे-ऊँचे पर्वत सिर उठाए खड़े हैं, इन्हें किसने अपने स्थान पर दृढ़ किया है? कथा प्रचलित है कि पहले पर्वतों के पङ्ख होते थे और वे उड़े-उड़े फिरते थे। उड़ते-उड़ते जहाँ बैठ जाते थे, वहाँ संहार मचा देते थे। देवताओं की प्रार्थना पर इन्द्र ने उनके पङ्ख काट दिये और उन्हें एक स्थान पर स्थिर कर दिया। सचमुच पहले पर्वत उड़ते थे, पर उड़ने का अभिप्रायः पक्षियों या विमानों की तरह उड़ना नहीं है। पहले जब धरती अभी बसने योग्य नहीं हुई थी, सभी पहाड़ ज्वालामुखी थे। उनके अन्दर से पिघला हुआ पदार्थ वेग से निकलकर इधर-उधर गिरता था। इन्द्र की व्यवस्था से शनैः-शनैः पर्वत ठण्डे होकर स्थिर हो गये। स्थिर पर्वतों पर हिमकिरीट पहनाने वाला कौन है? स्थिर पर्वतों पर हरियाली पैदा करनेवाला कौन है? पर्वतों की चट्टानों में से निर्मल जल-स्रोत बहानेवाला कौन है? जिसने पर्वतों को स्थिर किया है, उस इन्द्र को ही इन सब कार्यों के करने का श्रेय प्राप्त है।

और देखो, वह इन्द्र ही पर्वतों के बर्फ को शनैः शनैः पिघलाकर नदियाँ बहाता है। वही इनके जलों को नीचे की ओर मैदानों में बहाता हुआ सिंचाई द्वारा भूमियों को सरस और हरा-भरा करता है। वही नदियों के जल को समुद्र में पहुँचाता है। वही सूर्य-किरणों से समुद्र के जल की भाप उड़ाकर उसे आकाश में ले जाकर बादलों की सृष्टि करता है और वही बादलों से वृष्टि-जल बरसाकर भूमि की प्यास बुझाता है।

इस पृथिवी को भी देखो, जो सब प्राणियों को अपना दूध पिलाकर पाल-पोस रही है। पृथिवी हमारी गाय है, जिससे हम नाना पदार्थों को दुहते हैं। पृथिवी हमारी माता है, जो हमें पवन की लोरियाँ दे-देकर अपने अंक में सुलाती है और प्रभात-रश्मियों के गीत के साथ जगाती है। यह पृथिवी किसी अन्य आकाशीय पिण्ड से टकराकर चूर-चूर क्यों नहीं हो जाती? इसे भी उस इन्द्र प्रभु ने ही धारा हुआ है। जो सबको अपनी गोदी में धारण करती है, वह भी स्वयं धृत न होकर इन्द्र द्वारा धारी जाती है।

और यह आग का गोला सूर्य भी निराधार ऊँचे गगन में कैसे टिका हुआ है? गिरकर विनाश उपस्थित क्यों नहीं कर देता? यह सब भी इन्द्र प्रभु की ही माया है, उसीका निराला कौशल है।

आओ, सब मिलकर उसकी पूजा करें, उसका महिमागान करें।

---

१. प्रकर्षेण उपरि अञ्चन्ति गच्छन्ति ये तान्। प्र-अञ्चु गतौ।
२. दृहि स्थैर्यार्थः। लङ् अडागमाभावः छान्दसः।
३. अधरम् नीचैः अञ्चन्तीति यथा तथा।
४. कृवि हिंसाकरणयोः, लङ्।
५. विश्वानि धाययति दुग्धं पाययति दधाति वा या ताम्। विश्व-धेट् पाने, डुधाञ् धारणपोषणयोः।
६. अव-स्रंसु गतौ, क्विप्, अवस्रस्, तस्माद् अवस्रसः अधः पतनात्।

३६. विश्वजयी भी, भक्त के सोमरस का प्यासा भी

विश्वजिते धनजिते स्वर्जिते सत्राजिते नृजित उर्वराजिते।
अश्वजिते गोजिते अब्जिते भरेन्द्राय सोमं यजताय हर्यतम्॥

—ऋ० २.२१.१

ऋषिः—गृत्समदः शौनकः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—जगती॥

हे मनुष्य! तू (**विश्वजिते**) विश्वजयी, (**धनजिते**) धनजयी, (**स्वर्जिते**) सुखजयी, (**सत्राजिते**[1]) सत्यजयी, (**नृजिते**) नरजयी, (**उर्वराजिते**) उर्वराजयी, (**अश्वजिते**) अश्वजयी, (**गोजिते**) गोजयी, (**अब्जिते**) नदीजयी, (**यजताय**[2]) पूजनीय (**इन्द्राय**) इन्द्र के लिए (**भर**[3]) ला (**हर्यतम्**[4]) कमनीय (**सोमम्**) सोमरस को।

क्या तुमने इन्द्र प्रभु का विजय-कीर्तन सुना है? देखो, वह 'विश्वजित्' है। मनुष्य अपने साम्राज्य का कितना भी विस्तार करे, अधिक से अधिक वह सारी भूमि पर अपना चक्रवर्ती राज्य स्थापित करके भूविजेता बन सकता है। या, और भी अधिक उसकी साम्राज्य-लालसा हो, तो वह किसी ग्रह या उपग्रह पर दुनियाँ बसा सकता है। पर प्रभु का सामर्थ्य देखो! उसने सारे विश्व को जीत रखा है। वह 'धनजित्' भी है, सारे विश्व की सम्पदा उसके चरणों में लोटती है। इन्द्र प्रभु 'स्वर्जित्' भी है, सारा सुख उसे अधिगत है। मनुष्य तो सारी धरती का भी सम्राट् क्यों न हो जाए; भरी-पूरी सम्पत्ति भी उसे क्यों न प्राप्त हो जाए, पर यह आवश्यक नहीं है कि वह सुखी भी हो। संसार में बड़े-बड़े धनपति सुख के लिए तरसते देखे गये हैं। पर इन्द्र प्रभु सदा सुखी हैं, सदा ब्रह्मानन्द में मग्न हैं। इन्द्र 'सत्राजित्' भी है, वह सत्यजयी है। वह सत्य-ज्ञान, सत्य-ध्यान और सत्य-कर्म का अधिपति है। जो मन, वचन और कर्म से सच्चे हैं, उनसे वह प्रेम करता है और असत्य के उपासकों का उन्मूलन करता है। वह 'नृजित्' है, महिमा में सब नरों से बढ़ा हुआ है। मनुष्य ने महिमा में अन्य प्राणियों को जीता हुआ है, प्रभु ने मनुष्य को जीता हुआ है। वह 'उर्वराजित्' है, सब उपजाऊ भूमियाँ उसे प्राप्त हैं। वह प्रकृति-रूप उपजाऊ भूमि से सृष्टि रचता है, वनस्पति-रूप उपजाऊ भूमि से अन्न एवं फल उत्पन्न करता है। पृथिवी-रूप उपजाऊ भूमि से नाना धनों को उत्पन्न करता है, समुद्र-रूप उपजाऊ भूमि से रत्न उत्पन्न करता है। वह 'अश्वजित्' और 'गोजित्' भी है, जगत् के सब अश्व, गाय आदि पशु उसी के हैं। 'अश्व' का अर्थ प्राण एवं 'गौ' का अर्थ वाणी लें, तो वह प्राणजयी तथा वाग्जयी भी है; उत्कृष्ट प्राण वाला तथा उत्कृष्ट वाक्शक्ति वाला है। वह 'अप्-जित्' है, नदियों का विजेता है, नदियों का ईशान है। वह 'यजत' है, पूजनीय है।

हे मानव! तू उस विश्वजेता को अपना भक्तिरूप सोमरस अर्पित कर। विश्वविजयी भी तेरे सम्मुख, तेरे प्रेम का भिखारी बना खड़ा है। उसे तू प्रेमरस पिला। पियेगा वह और तृप्त तू होगा। यह सौदा घाटे का नहीं है।

---

१. सत्रा=सत्य, निघं० ३.१०।
२. यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु। भृमृदृशियजि० उ० ३.११० से अतच् प्रत्यय।
३. भर=हर। हृञ् हरणे, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' वा० से ह को भ।
४. हर्य गतिकान्त्योः, उ० ३.११० से अतच्।

३७. बृहस्पति का सखित्व

त्वया वयमुत्तमं धीमहे वयो बृहस्पते पप्रिणा सस्निना युजा।
मा नो दुःशंसो अभिदिप्सुरीशत प्र सुशंसा मतिभिस्तारिषीमहि॥

—ऋ० २.२३.१०

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—बृहस्पतिः॥ छन्दः—जगती॥

(**त्वया**) तुझ (**पप्रिणा**[१]) पालन-पूरण करने वाले, (**सस्निना**[२]) शुद्ध (**युजा**[३]) सखा की सहायता से (**बृहस्पते**) हे बृहस्पति! (**वयम्**) हम (**उत्तमम्**) उत्कृष्टतम (**वयः**[४]) जीवन (**धीमहे**[५]) धारण करते हैं। (**मा**) मत (**नः**) हमें (**दुःशंसः**) बुरे शंसन करनेवाला, (**अभिदिप्सुः**[६]) हिंसा का इच्छुक मनुष्य (**ईशत**) वश में करे। (**सुशंसाः**) शुभ शंसन करनेवाले [हम] (**मतिभिः**) बुद्धियों द्वारा (**प्र तारिषीमहि**[७]) बढ़ें, उन्नति प्राप्त करें।

हे परमेश! तुम बृहस्पति हो, बृहती वेदवाणी के अधिपति हो, ज्ञान के अधीश्वर हो। तुम सबके हृदयों में बैठे हुए कर्त्तव्याकर्त्तव्य की ज्ञानधारा बहाते रहते हो, जिससे अनुकूल सत्कर्म करके तुम्हारे भक्तजन अपना जीवन उत्तम कर लेते हैं। हमें भी तुम उत्कृष्टतम जीवन प्रदान करो। तुम 'पप्रि' हो, जीवन में पूर्णता लाने वाले हो। तुम 'सस्नि' हो स्वयं शुद्ध-पवित्र होते हुए अपने सम्पर्क में आने वाले अन्यों को भी शुद्धता-पवित्रता प्रदान करते हो। 'पप्रि' और 'सस्नि' तुम जिसके सहयोगी एवं सखा बन जाते हो उसके व्यवहार में पूर्णता और शुद्धता लाकर उसके जीवन को प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय बना देते हो। हे प्रभु! हमारे भी सखा बन जाओ, हमारे भी हृदय में बस जाओ, हमारे भी जीवन को पूर्ण, प्रशस्त, श्लाघ्य, शुद्ध, पवित्र बना दो। पूर्ण वे होते हैं, जिनके छिद्र भर जाते हैं। हमारे भी आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि के छिद्र भर दो। शुद्ध वे होते हैं जिनके मन, वचन, कर्म किसी में भी कालुष्य का कलङ्क नहीं होता। हमें भी निष्कलुष बनाकर निर्मल कर दो।

संसार में बहुत-से 'दुःशंस' और 'दिप्सु' लोग हमें अपने शिकंजे में कसने के लिये घात लगाये बैठे हैं। दुशंस लोग हमें बुरी-बुरी सलाहें देते हैं, हमारे प्रति दुश्चिन्तन करते हैं, दुर्भावनाएँ रखते हैं, हमारा बुरा चेतते हैं, हमें बुरा कहते हैं, हमारी अपकीर्ति चाहते हैं, हमारे विषय में बुरा प्रचार करते हैं, हमें भी दुःशंसों की श्रेणी में लाना चाहते हैं। 'अभिदिप्सु' लोग हमारी नैतिक और सामाजिक हिंसा करना चाहते हैं, हमें कुराह पर डालकर हमें पापपंक में लिप्त करके हमारी नैतिक एवं सामाजिक मान-मर्यादा नष्ट कर देना चाहते हैं। हे बृहस्पति प्रभु! तुम हमें इनके चङ्गुल से बचाओ। हम दुशंस नहीं, सुशंस बनें। शुभचिन्तन करें, शुभ वाणी बोलें, शुभ चर्चा करें, शुभ कामना करें, शुभ बधाई दें, शुभ मंगल गायें, शुभ प्रेरणा करें, शुभ स्वागत करें, शुभ अभिनन्दन करें, शुभ कीर्तन करें। सुशंस होकर हम अपनी 'मतियों' के बल से प्रवृद्ध हो जाएँ, शीर्षस्थ हो जाएँ। हे बृहस्पति प्रभु! हमें बल दो, हमें आशीर्वाद दो।

१,२. पृ पालनपूरणयोः, ष्णा शौचे, 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च' पा० ३.३.१७५ से किन् प्रत्यय।
३. युजिर योगे, क्विप्, युज्=सहायक। युजा, तृतीया-एकवचन।
४. वयः=जीवनम्—दयानन्द।
५. धीङ् आधारे, दिवादिः। धीमहे=धारयामः।
६. अभि-दिप्सुः। दम्भितुमिच्छुः। सन्नन्त। 'सनाशंसभिक्ष उः' पा० ३.२.१६८ से उ प्रत्यय।
७. प्र पूर्वक तृ धातु वृद्धि अर्थ में होती है।

३८. वरिष्ठ विद्वान् का कर्तृत्व

तद् देवानां देवतमाय कर्त्वमश्रथ्नन् दृळ्हाव्रदन्त वीळिता।
उद् गा आजदभिनद् ब्रह्मणा वलमगूहत् तमो व्यचक्षयत्स्वः॥

—ऋ० २.२४.३

ऋषिः—गृत्समदः शौनकः॥ **देवता**—ब्रह्मणस्पतिः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥

(तत्) वह **(देवानां देवतमाय)** विद्वानों में वरिष्ठ विद्वान् के लिए **(कर्त्वम्[1])** कर्त्तव्य कर्म है, [कर्तृत्व है, कि उसके द्वारा] **(अश्रथ्नन्[2])** टूट जाते हैं **(दृढा)** [काम, क्रोध आदि के] दृढ़ दुर्ग, **(अव्रदन्त[3])** ढीले पड़ जाते हैं **(वीडिता[4])** [अहिंसा, असत्य, तस्करी आदि के] कठोर हथकण्डे। [वह वरिष्ठ विद्वान्] **(उद् आजत्[5])** उद्गत कर देता है, प्रचारित कर देता है **(गाः)** वेदवाणियों को, **(अभिनद्[6])** छिन्न-भिन्न कर देता है **(ब्रह्मणा)** ब्रह्मबल से **(वलम्)** [नास्तिकता के] वलासुर को, **(अगूहत्[7])** छिपा देता है **(तमः)** अविद्या-रूप तम को, **(व्यचक्षयत्[8])** प्रकट कर देता है **(स्वः)** विद्या के प्रकाश को।

क्या तुम जानते हो कि ब्रह्मणस्पति की अर्थात् वरिष्ठ विद्वान् की पहचान क्या है? वह न केवल विद्या में, अपितु विद्याप्रचार की लगन में, सच्चरित्रता में, दिव्य गुणों में, कर्मयोग में तथा आध्यात्मिकता में भी अन्यों की अपेक्षा बढ़ा-चढ़ा होता है। वह निकल पड़ता है गुरुदक्षिणा चुकाने हेतु जगत् को देव बनाने के लिए। जब वह देखता है कि लोगों के मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर अच्छेद्य दुर्ग बनाकर बैठे हुए हैं, तब प्रहार कर देता है वह उन पर; तोड़ देता है उनकी मजबूत किलेबन्दियों को; जीत लेता है उन्हें अपने तपोबल से। काम के स्थान पर महत्त्वाकांक्षा को, क्रोध के स्थान पर शान्तचित्तता को, लोभ के स्थान पर सन्तोष को, मोह के स्थान पर विवेक को, मद के स्थान पर निरभिमानिता को, और मत्सर के स्थान पर सौहार्द को प्रतिष्ठित कर देता है। ढीले कर देता है हिंसा, असत्य, तस्करी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह के सांसारिक हथकण्डों को। वह वेदविद्या के प्रचार-प्रसार में लग जाता है। वैदिक-संस्कृति का शङ्खनाद करता है, वर्णाश्रमों के वेदोक्त कर्त्तव्यों का सूत्रपात करता है, राजधर्मों को ज्ञापित कराता है। वह जब देखता है कि संसार में नास्तिकता का वलासुर छाया हुआ है, तब अपने ब्रह्मबल से उस असुर को छिन्न-भिन्न कर देता है, लोगों के मनों में ईश्वर-विश्वास का बीज-वपन करता है।

वरिष्ठ विद्वान् अविद्या के अन्धकार को दूर करता है। योगदर्शन के अनुसार अविद्या पंचक्लेशों में आती है। अनित्य को नित्य समझना, अशुचि को शुचि समझना, दुःख को सुख समझना, अनात्मा को आत्मा समझना ही अविद्या है। लौकिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान के अभाव को भी अविद्या कहते हैं। इन अविद्याओं के गहन तम को दूर करके वह विद्या या यथार्थ ज्ञान के प्रकाश को प्रकट करता है।

आओ, हम अपने समाज में वरिष्ठ विद्वानों को उत्पन्न करें और उनके मार्गदर्शन में चलकर अपना जन्म सफल करें।

---

१. कर्त्वम्=कर्म, निघं० २.१। डुकृञ् करणे, कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः पा० ३.४.१४ से त्वन् प्रत्यय।
२. अश्रथ्नन्=अश्रथ्यन्त। श्रथि दौर्बल्ये, भ्वादिः। व्यत्यय से कर्म अर्थ में श्रा।
३. व्रद मृदूभावार्थः। अव्रदन्त=मृदूनि भवन्ति क्रियन्ते वा।
४. वीडयतिश्च व्रीडयतिश्च संस्तभकर्माणौ, निरु० ५.१६। ५. अज गतिक्षेपणयोः, भ्वादिः। लडर्थ में लङ्।
६. भिदिर विदारणे, रधादिः। ७. गुहू संवरणे, भ्वादिः।
८. चष्टे पश्यति, निघं० ३.११। वि चक्ष णिच्, लङ्, व्यचक्षयत्=विशेषेण अदर्शयत्। लडर्थे लङ्।

३९. आदित्यों के मार्गदर्शन में

शुचिर॒पः सू॒यव॑सा॒ अद॑ब्ध॒ उप॑ क्षेति वृ॒द्धव॑याः सु॒वीरः॑।
नकि॒ष्टं घ्न॒न्त्यन्ति॑तो॒ न दू॒राद् य आ॑दि॒त्याना॒ं भव॑ति॒ प्रणी॑तौ॥

—ऋ० २.२७.१३

ऋषिः—कूर्मः गार्त्समदः, गृत्समदो वा॥ देवता—आदित्याः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(शुचिः) पवित्र, **(अदब्धः[१])** अपराजित, अहिंसित **(वृद्धवयाः[२])** समृद्ध जीवन वाला, **(सुवीरः)** सुन्दर वीर भावों वाला एवं उत्तम वीर पुत्रों वाला होकर **(सूयवसाः[३] अपः)** अच्छी खेती पैदा करने वाले जलों के **(उप क्षेति[४])** समीप निवास करता है, **(नकिः)** कोई नहीं **(तम्)** उसे **(घ्नन्ति[५])** विनष्ट कर पाते हैं **(अन्तितः)** समीप से, **(न दूरात्)** ना ही दूर से, **(यः)** जो **(आदित्यानाम्)** आदित्य महापुरुषों की **(प्रणीतौ[६])** उत्तम नीति में, उत्कृष्ट नेतृत्व में **(भवति)** होता है।

यदि तुमने आदित्यों को अपना पथप्रदर्शक बना लिया है, तो समझ लो तुम्हारा उद्धार संनिकट है। आदित्य वे महापुरुष होते हैं, जो अपनी विद्या, सत्यनिष्ठा, सच्चरित्रता, कर्मण्यता, परोपकारिता से सूर्य के समान चमकते हैं। जैसे नभ में नक्षत्रों के रूप में अनेक आदित्य जगमगा रहे हैं, या जैसे आदित्य-रश्मियाँ भासमान होती हैं, वैसे ही समाज में वे यश से जगमगाते हैं। अपने हित को तिलांजलि देकर वे परहित के साधन में संलग्न होते हैं, अपनी सम्पदा को स्वाहा करके दूसरों की सम्पदा जुटाते हैं। ईश्वर-विश्वास ही उनका प्राण होता है, धर्म ही उनका धन होता है, तप ही उनका तेज होता है, त्याग ही उनका बल होता है, क्षमा ही उनका शस्त्र होता है। वे गिरे हुओं को ऊपर उठाते हैं, रोतों को हँसाते हैं, असमर्थों को समर्थ करते हैं, अविद्वानों को विद्वान् बनाते हैं, निष्प्राणों में प्राण फूँकते हैं। वे देश एवं जाति की कुप्रथाओं को मिटाते हैं, बिगड़ी स्थिति को सुधारते हैं, अन्याय का उन्मूलन करते हैं, अत्याचार को विदा करते हैं, भ्रष्टाचार को समाप्त करते हैं। जो इन आदित्य महापुरुषों की बतायी हुई नीति पर चलता है, वह शुचि हो जाता है, उसका अन्तःकरण पवित्र हो जाता है और उसके वचन और क्रियाकलाप भी पवित्र हो जाते हैं। उसका दूसरों के साथ व्यवहार भी पवित्र हो जाता है। वह 'अदब्ध' अर्थात् अपराजित और अहिंसित हो जाता है। वह 'वृद्धवयाः' बन जाता है, अर्थात् उसका जीवन समृद्ध और समुन्नत हो जाता है। वह 'सुवीर' अर्थात् वीर भावों से युक्त तथा वीर सन्तानों से युक्त हो जाता है। नदियों, नहरों, जलाशयों के निकट उसके भव्य निवासभवन शोभायमान होते हैं। उसके खेतों में खेती लहलहाती है। न उसे कोई समीप से हानि पहुँचा पाता है, न दूर से। न समीप से उसका कोई विनाश कर सकता है, न दूर से।

आओ, हम भी इन आदित्यों के पगचिह्नों पर चलें, इनकी उत्कृष्ट नीति को अपनाएँ तथा सुख के भागी हों।

---

१. दम्भु दम्भने, क्त, दब्धः। न दब्धः अदब्धः।
२. वृद्धं वयो जीवनं यस्य स वृद्धवयाः —दयानन्द।
३. शोभनानि यवसानि याभ्यः ताः। अत्र संहितायामिति दीर्घः —दयानन्द।
४. क्षि निवासगत्योः, तुदादिः। क्षेति=क्षयति निवसति।
५. हन् हिंसागत्योः, अदादिः।
६. प्र-णीतौ=प्र-नीतौ।

४०. हम पूषा, सोम और अदिति का प्यार पायें

धियं पूषा जिन्वतु विश्वमिन्वो रयिं सोमो रयिपतिर्दधातु।

अवतु देव्यदितिरनर्वा बृहद् वदेम विदथे सुवीराः॥ –ऋ० २.४०.६

ऋषिः–गृत्समदः॥ **देवता**–सोमः, पूषा, अदितिः॥ **छन्दः**–त्रिष्टुप्॥

(**धियम्**[१]) बुद्धि और कर्म को (**पूषा**) पूषा प्रभु (**जिन्वतु**[२]) संतृप्त करे (**विश्वम्-इन्वः**[३]) विश्व को गति देने वाला। (**रयिम्**) धन को (**रयिपतिः**) धनपति (**सोमः**) सोम प्रभु (**दधातु**) प्रदान करे। (**अवतु**) रक्षा करे (**अनर्वा**[४]) अपराश्रित (**देवी अदितिः**) देवी अदिति। (**बृहद्**) उच्च (**वदेम**) बोलें (**विदथे**[५]) यज्ञ या संग्राम में (**सुवीराः**[६]) श्रेष्ठ वीरों वाले [हम]।

मनुष्य को चाहिए कि वह महत्वाकांक्षी हो; भूत उसका कैसा भी रहा हो, वह भविष्य को उज्ज्वल करने का प्रयास करे। तदनुसार हम अपने जीवन को उच्च बनाने के लिए सर्वप्रथम पूषा प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वह हमारी 'धी' को संतृप्त, आप्यायित, समुन्नत एवं परिपूर्ण कर देवे। बुद्धिवाचक शब्द वेद में कर्मवाचक भी होते हैं। अतः जब हम 'धी' के समुन्नत होने की प्रार्थना करते हैं, तब 'धी' में बुद्धि और कर्म दोनों सम्मिलित हैं। हमारी प्रज्ञा भी पूर्ण विकसित हो और हमारे कर्म भी आदर्श हों। पूषा प्रभु सब जग की पुष्टि करने वाले हैं, विश्व को गति देने वाले हैं। वे हमारी बुद्धि और क्रिया की भी पुष्टि करें, हमारी बुद्धि और क्रिया को भी गति देवें। बुद्धि-कौशलपूर्वक कर्म करके मानव ने बड़ी-बड़ी सफलताएँ प्राप्त की हैं। हम भी उसी श्रेणी में आ जाएँ।

दूसरी प्रार्थना हम सोम प्रभु से करते हैं। 'रयिपति' सोम हमें 'रयि' प्रदान करे। सोम शब्द उत्पत्ति और ऐश्वर्य अर्थ वाली षु (सु[७]) धातु से बनता है। रयि धन का वाचक है। सोम परमात्मा रयिपति इसलिए है, क्योंकि उसने संसार के सब धनों को उत्पन्न किया है तथा वह उनका स्वामी भी है। वह हमें भी धन-सम्पदा से भरपूर करे। रयि शब्द दानार्थक 'रा' धातु से बनता है[८]। प्रभु की कृपा से परिश्रम करके हमने धन अर्जित किया है, तो वह केवल अपने उपयोग के लिये या कोठों में भरे रहने के लिये नहीं है, अपितु वह प्रवाह में आकर सार्वजनिक हित के काम भी आना चाहिए, यह 'रयि' शब्द से सूचित होता है। सांसारिक धन-दौलत से अतिरिक्त एक धन अध्यात्म का धन भी है, जिसके आगे सब लौकिक धन फीके पड़ जाते हैं। सोम प्रभु उस धन के भी धनी हैं। सोम परिपूर्ण चन्द्र को भी कहते हैं। परिपूर्ण चाँद के सदृश अध्यात्म-धन से परिपूर्ण प्रभु हमें अध्यात्म-धन का भी अधीश्वर बना देवें।

तीसरी प्रार्थना हम अदिति देवी से करते हैं। अदिति वह जगन्माता है जो कभी खण्डित नहीं होती[९]। वह 'अनर्वा' है, अपराश्रित है, स्वात्मनिर्भर है। हम स्वयं को उस अदिति माता के सुपुर्द करते हैं कि वह हमारा रक्षण और मार्गदर्शन करती रहे।

इस प्रकार पूषा, सोम और अदिति का प्यार पाकर श्रेष्ठ वीरों सहित हम जीवन-यज्ञ या जीवन-संग्राम में सदा महान् वचन ही बोलें, कभी दीनता न दिखायें।

---

१. धीः कर्म च प्रज्ञा च, निघं० २.१, ३.९। २. जिवि प्रीणने, भ्वादि, लोट्।
३. विश्वम् इन्वयति गमयति यः सः। विश्वम् में द्वितीया विभक्ति का अलुक्। इन्वति गतिकर्मा, निघं० २.१४।
४. अनर्वम् अप्रत्यृतम् अन्यस्मिन्, निरु० ४.२७। इयर्ति पराश्रयं गच्छतीति अर्वा, न अर्वा अनर्वा, अपराश्रिता।
५. विदथ=यज्ञ, निघं० ३.१७। यज्ञवाचक वैदिक शब्द संग्रामवाची भी होते हैं।
६. शोभनाः वीराः येषां ते सुवीराः। ७. षु प्रसवैश्वर्ययोः, भ्वादिः।
८. रयिरिति धननाम, रातेर्दानकर्मणः, निरु० ४.२७।
८. दितिः अवखण्डनं विनाशः, दो अवखण्डने। न विद्यते दितिः विनाशो यस्याः सा अदितिः।

४१. हे माँ सरस्वती!

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ताइव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि॥

—ऋ० २.४१.१६

॥ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—सरस्वती॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

(**अम्बितमे**) हे सबसे बड़ी माँ! (**नदीतमे**) हे सबसे बड़ी नदी! (**देवितमे**) हे सबसे बड़ी देवी! (**सरस्वति**) हे सरस्वती! (**अप्रशस्ताः इव**) अप्रशस्तों के समान (**स्मसि**[1]) हो गये हैं [हम]। (**प्रशस्तिम्**) प्रशस्ति (**अम्ब**) हे माँ! (**नः**) हमारी (**कृधि**) करो।

हमने आज आत्मनिरीक्षण किया है, तो हमें लग रहा है कि हम अप्रशस्तों-जैसे हो गये हैं। हमारा ज्ञान अप्रशस्त है, हम अनार्ष ग्रन्थों के सहारे जी रहे हैं। अनार्ष ग्रन्थों में जो असम्भव बातें, प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरुद्ध बातें, ईश्वरीय नियमों के विपरीत बातें लिखी हैं, उन्हें हम प्रमाण मान बैठे हैं और उन अतर्कसंगत बातों का प्रचार भी करते रहते हैं। हमारे कर्म भी अप्रशस्त हैं। जब ज्ञान ही अप्रशस्त है, तब उसका प्रभाव कर्मों पर पड़ना स्वाभाविक ही है। न हम ब्राह्मणोचित कर्म करते हैं, न क्षत्रियोचित, न वैश्योचित, न ही शूद्र के सेवाव्रत को अपनाते हैं। हमारी उपासना-पद्धति भी सदोष है। हम मूर्ति को भगवान् मान बैठे हैं, या किन्हीं वृक्ष-वनस्पतियों को ईश्वर के रूप में पूजते हैं, या किन्हीं मनुष्यों को हमने परमेश्वर मान लिया है। हम अपनी इस अप्रशस्त स्थिति से तंग आ चुके हैं और अब प्रशस्त बनना चाहते हैं। इसके लिए हम माँ सरस्वती को पुकारते हैं।

सरस्वती है भागवत चेतना या ईश्वरीय प्रेरणा। भागवत चेतना का अवतरण जब मानव चेतना पर हो जाता है, तब मानव देव बन जाता है। ईश्वरीय प्रेरणा की धारा जब मानव के अन्तरात्मा को आप्लावित कर देती है, तब भी मानव देव बन जाता है। इसके विपरीत जब मानव चेतना को पाशविक चेतना या आसुरी चेतना प्रभावित कर ले, तब मानव पशु या असुर बन जाता है। भागवत चेतना या ईश्वरीय प्रेरणा हमारी 'अम्बा' है, माँ है, सबसे बड़ी माँ है। वह माँ के समान हमें कुसंस्कारों से बचाकर हमारे अन्तःकरण में सुसंस्कारों का बीज-वपन करने वाली है। यह भागवत चेतना या ईश्वरीय प्रेरणा धारारूप में हमारी मनोभूमि पर बहने के कारण नदी है, सब भौतिक नदियों से बड़ी नदी है। हमारा मरुस्थल बना हुआ मन और आत्मा इस धारा से सरस हो उठता है। यह भागवत चेतना या ईश्वरीय प्रेरणा दिव्य होने के कारण देवी है, सबसे बड़ी देवी है।

इस सरस्वती से हम याचना करते हैं कि हे माँ! अपने पयोधरों से सरस, दिव्य, अमृतमयी धारा बहाकर तुम हमें अप्रशस्त से प्रशस्त बना दो, मानव से देव बना दो, पशुता से ऊपर उठाकर दिव्यता से सरसा दो।

---

१. स्मसि=स्मः। इदन्तो मसि पा० ७.१.४६ से मस् इदन्त।

४२. धर्मयज्ञ-प्रवर्तन

प्राञ्चं यज्ञं चकृम वर्धतां गीः समिद्भिरग्निं नमसा दुवस्यन्।
दिवः शशासुर्विदथा कवीनां गृत्साय चित् तवसे गातुमीषुः॥

—ऋ० ३.१.२

ऋषिः—गाथिनः विश्वामित्रः॥ **देवता**—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

हमने (**यज्ञम्**) धर्म-यज्ञ को (**प्राञ्चम्**[१]) प्रवृत्त (**चकृम**) कर दिया है। (**गीः**) वाणी (**वर्धताम्**) बढ़ती रहे। सब लोग (**समिद्भिः**) समिधाओं से (**अग्निम्**) धर्म की अग्नि को (**नमसा**) श्रद्धापूर्वक (**दुवस्यन्**[२]) पूजें। (**दिवः**) द्युलोक से, समाज के उच्च वर्ग से (**शशासुः**[३]) अनुशासन कर रहे हैं (**विदथा**[४]) ज्ञानोपदेश (**कवीनाम्**[५]) क्रान्तद्रष्टा विद्वानों के। वे (**तवसे**[६]) बलवान् (**गृत्साय**[७]) मेधावी यज्ञकर्त्ता के लिये (**चित्**) निश्चय ही (**गातुम्**[८]) मार्गदर्शन को (**ईषुः**[९]) चाह रहे हैं।

हमने धर्म-यज्ञ आरम्भ कर दिया है। जिससे समाज का, राष्ट्र का, जगत् का धारण हो उसे धर्म कहते हैं। धर्म के अन्तर्गत वे बातें आती हैं जिनसे अपना तथा मनुष्यमात्र का कल्याण होता है। धृति, क्षमा, आत्मदमन, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या सत्य एवं अक्रोध ये धर्म के लक्षण कहे गये हैं। पर इनके अतिरिक्त भी जो कल्याणकारक बातें हैं वे धर्म कहलाती हैं। हमने राष्ट्र में धर्म-यज्ञ को प्रसारित करने का बीड़ा उठा लिया है। धर्म को फैलाने में वाणी अद्वितीय साधन है। हम तथा हमारे धर्मव्रती साथी अपनी वाणी से, अपने भाषणों से, अपने उपदेशों से मानव-धर्म को फैलायेंगे। लेखनी भी वाणी का ही एक रूप है। अतः धर्म के प्रसार में लेखनी का भी उपयोग करेंगे। हमने धर्म की अग्नि को प्रज्वलित कर लिया है, अब उसमें श्रद्धापूर्वक समिधा डालते रहकर उसे निरन्तर जागरित रखना है। जो भी धर्म-यज्ञ के प्रसार के साधन हैं, वे सब समिधाएँ हैं। धर्म की अग्नि प्रदीप्त बनाये रखने के लिये उन साधनों का प्रयोग करना ही धर्माग्नि में समिधा डालना है। धर्म-प्रचार के साधन हैं पारस्परिक भाई-चारे की भावना उत्पन्न करना, सुख-दुःख में एक-दूसरे के प्रति सौहार्द एवं सहानुभूति प्रदर्शित करना, अशिक्षा, अविद्या, कुरीति, पाखण्ड, वैमनस्य, विद्वेष आदि दूर करके ज्ञान-विज्ञान, वैदिक कर्त्तव्य-बोध, सदाचार, सांमनस्य, राष्ट्रप्रेम, विश्वशान्ति आदि की पताका फहराना, एतदर्थ सामाजिक एवं राजकीय सहयोग प्राप्त करना, धर्म को न्यायाधिकरण द्वारा संमत कराना, विश्व-सुरक्षापरिषद् द्वारा सब राष्ट्रों के लिये मौलिक धर्म के सिद्धान्तों को स्वीकार करवाना।

हर्ष का विषय है कि समाज के उच्चवर्ग के क्रान्तद्रष्टा मनीषी लोग अपने अनुभवों से, अपने ज्ञानोपदेशों से, अपने सत्परामर्श से, इस धर्म-यज्ञ में हमारा अनुशासन कर रहे हैं, हमारा मार्गदर्शन कर रहे हैं। अनुभवी महात्मा लोगों का, संन्यासी-वर्ग का, आशीर्वाद हमारे साथ है। अब हम इस धर्म-ज्योति को घर-घर पहुँचाकर ही रहेंगे। यह धर्म-सन्देश हमारा नहीं, प्रभु का है। प्रभु इस यज्ञ की पूर्णता में हमारे सहायक हों।

---

१. प्रकर्षेण अञ्चति गच्छति प्रवर्तते यः तम्। प्र-अञ्चु गतिपूजनयोः।
२. दुवस्य धातु परिचर्यार्थक है, निघं० ३.५। दुवस्यन्=अदुवस्यन्, विध्यर्थ में लङ्, अडागमनिषेध छान्दस।
३. शासु अनुशिष्टौ, अदादिः, लिट्।
४. विदथा=विदथानि। विद ज्ञाने, अदादिः।
५. मेधावी कविः, क्रान्तदर्शनो भवति, निरु० १२.१२। कवि=मेधावी, निघं० ३.१५।
६. तवाः बलवान्। तवः इति बलत्तम, निघं० २.९।
७. गृत्सः=मेधावी, निघं० ३.१५।
८. गाति गतिकर्मा, निघं० २.१४। गान्ति गच्छन्ति यत्र स गातुः मार्गः।
९. इषु इच्छायाम्, तुदादिः, लिट्।

४३. बरसती हैं मधु और घृत की धारें

बभ्राणः सूनो सहसो व्यद्यौद् दधानः शुक्रा रभसा वपूंषि।
श्चोतन्ति धारा मधुनो घृतस्य वृषा यत्र वावृधे काव्येन॥

—ऋ० ३.१.८

ऋषिः—गाथिनः विश्वामित्रः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**सहसः सूनो**) हे बल के पुत्र तेजस्वी परमात्मन्! (**बभ्राणः**[१]) [आपको हृदय में] धारण करने वाला [मनुष्य], (**वि-अद्यौत्**[२]) विशेषरूप से चमक उठता है, (**दधानः**) धारता हुआ (**शुक्रा**) देदीप्यमान, (**रभसा**) शीघ्रगति से युक्त, क्रियाशील, (**वपूंषि**) शरीरों को। उसके लिये (**श्चोतन्ति**[३]) बरसती हैं (**धाराः**) धाराएँ (**मधुनः**) मधु की और (**घृतस्य**) घृत की या तेज की, (**यत्र**) जहाँ, जिसके हृदय में (**वृषा**) वर्षक प्रभु (**वावृधे**[४]) बढ़ता है (**काव्येन**) अपने काव्य के साथ।

संसार के लोग चाहते हैं कि हम किसी राजपुत्र से मैत्री करें, किसी राजमन्त्री के कृपापात्र बनें, किसी नरेश से सम्बन्ध स्थापित करें। पर हम तो राजराजेश्वर परम तेजस्वी अग्निदेव को हृदय में धारण करते हैं, उसे सखा बनाते हैं। जो उसे सखा बनाता है, उस प्यारे प्रभु की जोत से जोत मिलाता है, वह चमक उठता है, ज्योतिष्मान् हो जाता है, उसकी कीर्ति चहुँ ओर फैल जाती है। उसके अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय शरीर अत्यन्त देदीप्यमान तथा क्रियाशील हो जाते हैं। वह शरीर के अंग-प्रत्यंगों तथा ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों से आलसी न होकर शीघ्रगतिमान् हो जाता है। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तम से उत्तम ज्ञान के अर्जन में साधन बन जाती हैं, उसकी कर्मेन्द्रियाँ श्रेष्ठ कर्मों में संलग्न हो जाती हैं। उसके प्राण उसकी उच्च स्थिति में सहायक हो जाते हैं। उसके मन-बुद्धि उत्कृष्ट संकल्प एवं निश्चय करने लगते हैं, उसका आत्मा प्रभु-मिलन की राह पर चलकर चरम उत्कर्ष प्राप्त कर लेता है।

धन्य है वह जिसके हृदय में आनन्दवर्षक प्रभु आ विराजते हैं, बढ़ने लगते हैं, सागर की लहरों के समान हिलोरें लेने लगते हैं। वे उसके ऊपर मधु की धाराएँ बरसाते हैं, घृत की फुहारें छोड़ते हैं। मधु दिव्य आनन्द का और घृत दिव्य तेज का प्रतीक है। प्रभु से सम्बन्ध जोड़नेवाला उपासक उस दिव्य आनन्द की धारा में स्नान करने लगता है, जो तथाकथित भौतिक आनन्दों की अपेक्षा बहुत उच्च है। प्रभु का साथी उस दिव्य तेज से भासमान हो जाता है, जो भौतिक अग्नि, विद्युत्, सूर्य आदि के तेज से विलक्षण है। कवि प्रभुभक्त के हृदय में आते हैं अपने चिरंतन काव्य के साथ, उस काव्यमाधुरी के साथ जो उपासक को आत्मविभोर कर देती है, उस काव्यरस के साथ जो सहृदय रसिक को परमाह्लादित कर देता है।

हे अग्नि प्रभु! हमें भी अपने रस से तरंगित करो, अपनी लहरों के झूले में झुलाओ।

---

१. डुभृञ् धारणपोषणयोः, लिट् को कानच्।
२. द्यु अभिगमने, अदादिः। ज्वलनार्थोऽपि दृश्यते। लङ्।
३. श्चुतिर क्षरणे, भ्वादिः।
४. वृधु वृद्धौ, लिट्। अभ्यास को दीर्घ, तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य पा० ६.१.७।

४४. देह-रूप राजमहल का अमर राजा

नि दुरोणे अमृतो मर्त्यानां राजा ससाद विदथानि साधन्।
घृतप्रतीक उर्विया व्यद्यौदग्निर्विश्वानि काव्यानि विद्वान्॥

—ऋ० ३.१.१८

ऋषिः-विश्वामित्रः गाथिनः॥ देवता-अग्निः॥ छन्दः-त्रिष्टुप्॥

(**दुरोणे**[१]) देह-रूप राजमहल में (**मर्त्यानाम्**) मरणधर्माओं में (**अमृतः**) अमर (**राजा**) जीवात्मा-रूप राजा (**नि ससाद**) बैठा हुआ है, (**विदथानि**[२]) यज्ञकर्मों को (**साधन्**[३]) सिद्ध करता हुआ। (**घृतप्रतीकः**[४]) तेजःस्वरूप वह (**उर्विया**[५]) बहुत अधिक (**व्यद्यौत्**) चमक रहा है, यशस्वी हो रहा है। (**अग्निः**) वह तेजस्वी जीवात्मा (**विश्वानि काव्यानि**) सब वेद-रूप काव्यों को (**विद्वान्**) जानने वाला [हो]।

हमारा शरीर एक राजमहल है। उसके सब कार्यकर्त्ता आँख, नाक, कान, मस्तिष्क, भुजा, पैर आदि मरणधर्मा हैं। उन मरणधर्माओं के बीच में एक अमर देव आकर बैठा हुआ है, जिसे हम जीवात्मा नाम से पुकारते हैं। शरीर में जितने भी कर्म देखना, सूँघना, सुनना, चिन्तन करना, निश्चय करना, ज्ञान प्राप्त करना आदि हो रहे हैं, उनका कर्त्ता यह अमर जीवात्मा ही है। शरीर से बाहर के भी जो कर्म मनुष्य करता है, उनका कर्त्ता भी यह जीवात्मा-रूप राजा ही है। वही ब्राह्मण बनकर पढ़ता-पढ़ाता है, यज्ञ करता है, उपदेश देता है, ज्ञान का प्रसार करता है। वही क्षत्रिय बनकर समाज की और राष्ट्र की रक्षा करता है। वही वैश्य बनकर कृषि, व्यापार आदि द्वारा धन का संग्रह करता है तथा उस धन को परोपकार-रूप यज्ञ में व्यय करके यज्ञशेष का स्वयं उपभोग करता है। वही शूद्र बनकर सेवाकार्य करता है। इसप्रकार शरीर के अन्दर और बाहर जो भी कर्म मनुष्य कर रहा है, उन सबका साधक जीवात्मा-रूप राजा ही है। इस शरीर से जब यह राजा निकल जाता है, तब शरीर के सब अंग मृत हो जाते हैं। किन्तु यह राजा फिर भी अमर ही रहता है।

यह जीवात्मा अग्नि के समान घृतप्रतीक है, तेजोमुख है। जैसे कभी-कभी अग्नि के राख से ढक जाने पर उसका तेजस्वी रूप छिप जाता है, ऐसे ही आत्मा भी भले ही कभी-कभी निःस्तेज, निरुत्साह, आलसी, अकर्मण्य प्रतीत होने लगता है, पर वस्तुतः वह तेज का भण्डार ही है। जब वह कर्त्तव्योन्मुख होकर यज्ञ के कर्म करता है, तब वह ऐसे ही विशालरूप में उद्भासित होता है, जैसे अग्नि बड़ी-बड़ी ज्वालाओं के साथ प्रज्वलित होता है।

उस आत्माग्नि का कर्त्तव्य है कि वह सब काव्यों का विद्वान् बने। कवि की रचना काव्य कहलाती है। परमेश्वर सबसे बड़ा कवि है। उसे वेद में स्थान-स्थान पर कवि नाम से पुकारा गया है। चारों वेद उसके अमर काव्य हैं—**देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति**, अथर्व० १०.८.३२। उन काव्यों का बोध इस नरतनधारी जीवात्मा को होना चाहिए। इसीप्रकार मानव कवियों के जो वेदों से अविरुद्ध काव्य हैं, उनका भी पाण्डित्य उसे प्राप्त करना चाहिए।

हे आत्मा! तू विद्वान् बनकर, काव्यों का मर्मज्ञ बनकर उनकी शिक्षा का स्वयं पालन कर तथा उसका जग में प्रसार कर। तू स्वयं भी काव्यों की सृष्टि कर। तब तेरा तेजस्वी-रूप और भी अधिक निखर उठेगा।

---

१. दुरोण=गृह, निघं० ३.४। २. विदथ=यज्ञ, निघं० ३.१७।
३. साधन्=साध्नुवन्। साध संसिद्धौ, शतृ।
४. घृतप्रतीकः=प्रदीप्तमुखः=तेजस्विस्वरूपः। घृ क्षरणदीप्त्योः। मुखं प्रतीकम्, श० ब्रा० १४.४.३.७।
५. उर्विया=उरु यथा स्यात् तथा। विभक्ति को इयाच् आदेश

४५. उसके सुमति और सौमनस्य हमें प्राप्त हों

जन्मंजन्मन् निहितो जातवेदा विश्वामित्रेभिरिध्यते अजस्रः ।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥

—ऋ० ३.१.२१

ऋषिः—गाथिनः विश्वामित्रः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**जन्मन्-जन्मन्**[१]) प्रत्येक जन्मधारी में (**निहितः**) निहित है, विराजमान है (**विश्ववेदाः**) सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर। (**विश्वामित्रेभिः**[२]) सबके मित्र हमारे द्वारा (**इध्यते**[३]) प्रदीप्त किया जाता है (**अजस्रः**[४]) [वह] अविनश्वर [प्रभु]। (**वयम्**) हम (**तस्य यज्ञियस्य**[५]) उस पूजायोग्य [अग्नि नामक] प्रभु की (**सुमतौ**) सुमति में, (**अपि**) और (**भद्रे सौमनसे**) भद्र सौमनस्य में (**स्याम**) होवें, रहें।

विश्वान्तर्यामी प्रभु सर्व जन्मधारियों में, सब उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान है। वह हिमालय की बर्फ में है, पर्वतों की चट्टानों में है, नदियों की लहरों में है, सागर में है, बादल में है, बिजली में है, फूलों में है, पत्तियों में है, तरुओं में है, बल्लरियों में है, भूमि में है, आकाश में है, चाँद में है, सूर्य में है, सितारों में है। वह हमारी चक्षुओं में है, श्रोत्रों में है, वाणी में है, मन में है, मस्तिष्क में है, रक्तसंस्थान में है, श्वासप्रणाली में है, प्राणों में है, आत्मा में है। वह 'अजस्र' है, अविनाशी है, नैरन्तर्य के साथ सदा सब पदार्थों में प्रवाहित होते रहने वाला है, उसकी अजस्र-स्राविणी धारा सबके हृदयों में सदा बहती रहती है।

आओ, हम विश्वामित्र बनकर उस यज्ञिय की, उस यज्ञार्ह की, उस पूजनीय की पूजा करें। जो मनुष्य विश्व का शत्रु है, जिसने विश्व की आत्मा के साथ अपनी आत्मा को एक नहीं किया हुआ है, वह प्रभु का पूजक नहीं हो सकता। जिसे प्रभु का प्रेमी बनना है, वह पहले मानव से प्रेम करना सीखता है। जिसे जग में प्रभु की ज्योति जगानी है, वह पहले मानवों में सौहार्द की ज्योति जगाता है। इसलिए हम भी यदि प्रभु के मित्र बनना चाहते हैं, तो पहले हमें विश्वामित्र बनना होगा, जग की मैत्री प्राप्त करनी होगी। इसलिए वेद कह रहा है कि हम विश्वामित्र होकर उस अजस्र प्रभु को अपने हृदय में, जग के कोने-कोने में प्रदीप्त कर दें।

प्रभु का पूजन, प्रभु का प्रदीपन हमें सुमति प्रदान करेगा, हमें भद्र सौमनस्य का पात्र बनायेगा। यदि हम हृदय-मन्दिर में प्रभु की आरती उतारेंगे, प्रभु को अपनी सदाशयता का नैवेद्य अर्पित करेंगे, प्रभु पर अपनी भक्ति के पुष्प चढ़ाएँगे, तो दुर्मति और दौर्मनस्य हमारे समीप से वैसे ही भाग खड़े होंगे, जैसे सूर्योदय होते ही अन्धकार भाग जाता है।

आओ, जयजयकार करें उस विश्वान्तर्यामी का, पूजन करें उस अजस्र प्रभु का।

---

१. जन्मन् जन्मन्=जन्मनि जन्मनि। विभक्ति का लुक्।
२. विश्वामित्रेभिः=विश्वमित्रैः। विश्व के अ को दीर्घ, 'मित्रे चर्षौ' पा० ६.३.१३०। भिस् को ऐस् का अभाव, 'बहुलं छन्दसि' पा० ७.१.१०।
३. इन्धी दीप्तौ, रधादिः। कर्मणि लटि रूपम्।
४. नञ् पूर्वक जसु मोक्षणे दिवादि, जसु हिंसायाम् चुरादि, जसु ताडने चुरादि, र प्रत्यय।
५. यज्ञमर्हति इति यज्ञियः यज्ञार्हः पूजनीयः, घ=इय प्रत्यय।

४६. हम उससे ऐश्वर्य माँगते हैं

मन्द्रं होतारं शुचिमद्वयाविनं दमूनसमुक्थ्यं विश्वचर्षणिम्।
रथं न चित्रं वपुषाय दर्शतं मनुर्हितं सदमिद् राय ईमहे॥

—ऋ० ३.२.१५

ऋषिः–गाथिनः विश्वामित्रः॥ **देवता**–अग्निः वैश्वानरः॥ **छन्दः**–जगती॥

(**मन्द्रम्**[1]) आनन्ददायक, (**होतारम्**) दिव्य गुणों के दाता, (**शुचिम्**) शुद्ध, (**अद्वयाविनम्**[2]) दुहरे आचरण से रहित, (**दमूनसम्**[3]) दुष्टों का दमन करने वाले, (**उक्थ्यम्**[4]) स्तुति करने योग्य, (**विश्व-चर्षणिम्**[5]) विश्वद्रष्टा, (**रथं न चित्रम्**[6]) रथ के समान चाहना करने योग्य, (**वपुषाय**[7]) रूप के लिये (**दर्शतम्**) दर्शनीय, (**मनुर्हितम्**) मनुष्यों के हितकर्त्ता [वैश्वानर अग्नि प्रभु] से (**सदम् इत्**) सदा ही, [हम] (**रायः**) ऐश्वर्य (**ईमहे**[8]) माँगते हैं।

ऐश्वर्यों की किसे चाहना नहीं होती! पर विभिन्न स्तरों के व्यक्तियों के अभीष्ट ऐश्वर्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। भौतिक-स्तर का मनुष्य पैसा, रुपया, सोना-चाँदी, खाद्य-पेय, वस्त्र-बिछौने आदि के ऐश्वर्य को ही असली धन समझता है। पर एक पहुँचे हुए फकीर के लिये यह सांसारिक धन-दौलत कुछ भी महत्त्व नहीं रखती। उसे तो तन पर लपेटने के लिए एक अंगोछा, सोने के लिये जमीन, खाने के लिए सत्तू-चने ही पर्याप्त हैं। उसे मस्ती का या प्रभु-मिलन की राह पर चलने का ही धन चाहिए। एक योगी योगसिद्धि को महत्त्व देता है। पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा इन तीनों एषणाओं के त्यागी संन्यासी के लिये लोकहित ही सर्वोच्च धन है। अध्यात्म-मार्ग के पथिक के लिये आध्यात्मिक संपदा ही सर्वोपरि है।

आओ, हम वैश्वानर प्रभु से उभयविध ऐश्वर्य की याचना करें, भौतिक ऐश्वर्य की भी और आध्यात्मिक ऐश्वर्य की भी। वह प्रभु 'मन्द्र' है, आह्लाददायक है, आनन्द की फुहार को हमारे अन्तरात्मा में छोड़ने वाला है। वह 'होता' है, दिव्य गुणों दाता है। वह शुचि है, सर्वात्मना शुद्ध और पवित्र है। वह 'अद्वयावी' है, 'मन में कुछ, व्यवहार में कुछ' इस दुहरी छल-छद्म की चाल से रहित है। वह अकुटिल है, एकरस है। वह 'दमूनाः' है, दुष्टों का दमन करनेवाला तथा निर्दोषों का त्राण करने वाला है। वह 'उक्थ्य' है, प्रशंसनीय है, स्तुत्य है। वह 'विश्वचर्षणि' है, सर्वद्रष्टा है। कोई निर्जन गुफा में जाकर या द्युलोक के भी परले पार पहुँचकर किसी काम को करता है, उसे भी वह देख लेता है, वह मन की बात को भी जान लेता है। वह रथ के समान चित्र अर्थात् चायनीय या स्पृहणीय है। जैसे गन्तव्य लक्ष्य पर पहुँचने के लिये मनुष्य भूयान, जलयान या अन्तरिक्षयान का सहारा लेता है, वैसे ही उन्नति के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मानव प्रभु का अवलम्ब ग्रहण करता है। वह सुरूप की प्राप्ति के लिये, 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' पाने के लिए भक्त द्वारा दर्शनीय है। वह 'मनुर्हित' है, मनुष्य का हितकर्त्ता है। उस प्रभु के सम्मुख हम ऐश्वर्य के लिए झोली पसारते हैं।

---

१. मदि स्तुतिमोदमदस्वप्रकान्तिगतिषु, भ्वादि, रक् प्रत्यय। यो मन्दयति आनन्दयति स मन्द्रः।
२. यो द्वयोर्विद्यते स द्वयावी। द्वय शब्द से विनि प्रत्यय और पूर्व को दीर्घ। न द्वयावी अद्वयावी तम्।
३. दमूनाः दममना वा, दानमना वा, दान्तमना वा, अपि वा दम इति गृहनाम तन्मनाः स्याद्, निरु० ४.५।
४. उच्यते इति उक्थः, तम् अर्हतीति उक्थ्यः स्तुत्यः।
५. विश्वस्य जगतः चर्षणिः द्रष्टा तम्। कृष धातु से अनि प्रत्यय और कृष् के क् को च्, गुण।
६. चित्रं चायनीयं मंहनीयम्, निरु० १२.६।
७. वपुष्=रूप, निघं० ३.७, स्वार्थ में अश् प्रत्यय।
८. ईमहे याचनार्थक, निघं० ३.१९।

४७. उसकी सब प्रशंसा करते हैं

विश्पतिं यह्वमतिथिं नरः सदा यन्तारं धीनामुशिजं च वाघताम्।
अध्वराणां चेतनं जातवेदसं प्र शंसन्ति नमसा जूतिभिर्वृधे॥

—ऋ० ३.३.८

ऋषिः—गाथिनः विश्वामित्रः॥ देवता—अग्निः वैश्वानरः॥ छन्दः—जगती॥

(**विश्पतिम्**[1]) प्रजाओं के स्वामी, (**यह्वम्**[2]) महान् (**अतिथिम्**) अतिथि, (**धीनां यन्तारम्**) प्रज्ञाओं एवं कर्मों के नियन्त्रणकर्त्ता, (**वाघतां**[3] **च**) और ऋत्विजों के अथवा स्वयं को प्रभु के प्रति ले जाने वाले उपासकों के (**उशिजम्**[4]) प्रेमी, (**अध्वराणां चेतनम्**) अहिंसाओं को जगाने वाले (**जातवेदसम्**[5]) उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान एवं उत्पन्न पदार्थों के ज्ञाता [वैश्वानर अग्नि प्रभु की] (**नरः**) मनुष्य (**सदा**) हमेशा (**वृधे**) वृद्धि के लिये (**नमसा**) नमन के साथ, और (**जूतिभिः**[6]) वेगवती क्रियाओं के साथ (**प्रशंसन्ति**) प्रशंसा करते हैं।

आओ, सब मिलकर प्रभु के गीत गायें। वह प्रभु 'वैश्वानर' है, सब नरों को आगे ले जाने वाला एवं सब नरों का हितकर्त्ता है। वह 'जातवेदाः' है, सर्वान्तर्यामी एवं सर्वज्ञ है। यदि हम अपनी वृद्धि एवं समुन्नति चाहते हैं, तो श्रद्धा और नमन के साथ उसकी प्रशंसा करें, उसकी गुणावलि का गान करें। पर श्रद्धा और नमन के साथ 'जूति' अर्थात् वेगमयी क्रिया भी आवश्यक है। हम हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें और प्रभु-स्तुति करते रहें, तो हमारी वृद्धि नहीं हो सकती। प्रभु से प्रेरणा पाकर हम वृद्धि के लिए सक्रिय हो जायेंगे, तभी हम वृद्धि एवं उत्कर्ष पा सकेंगे।

वह प्रभु 'विश्पति' है, सब प्रजाओं का स्वामी है, अधीश्वर है, राजा है। वह 'यह्व' है, महानों में महान् है, सब जड़चेतन जगत् उसी की महत्ता का गुणगान कर रहा है। वह उपासकों की बुद्धियों का एवं उनके कर्मों का नियन्ता है, उनकी बुद्धियों एवं कर्मों को सही दिशा में चलाने वाला है। जिनके बुद्धि और कर्म गलत दिशा में चलते हैं, वे संसार में उत्पात, उपद्रव और विनाशलीला ही मचाते हैं। पर जिनके बुद्धि और कर्म प्रभुकृपा से सही दिशा में अग्रसर होते हैं, वे सर्वजनोपयोगी नाना अविष्कार करके मानवता की सेवा करते हैं और विश्व में शान्ति स्थापित करते हैं। जो मानवसेवा-रूप यज्ञ के ऋत्विज् या नेता बनते हैं, अथवा जो प्रभु में लौ लगाते हैं, उनका वह सच्चा प्रेमी बन जाता है, उन्हें जी-जान से चाहने लगता है। वह हमारे मनों में अहिंसा के भावों को जगाने वाला है। प्रभु-प्रीति और हिंसा ये दोनों वस्तुएँ एक साथ नहीं रह सकतीं। प्रभु-प्रेम का निश्चित परिणाम है मानवता से प्रेम।

आओ, उक्त गुणगणों से विभूषित महनीय प्रभु का कीर्तिगान करके हम भी कीर्तिमान् बनें।

---

१. विशः प्रजाः तासां पतिः विश्पतिः।
२. यह्व=महान्, निघं० ३.३। यह्व इति महतो नामधेयं, यातश्च हूतश्च भवति, निरु० ८.८।
३. वाघतः=मेधाविनः, ऋत्विजः, निघं० ३.१५,१८। वोढारो मेधाविनो वा, निरु० ११.१३।
४. उशिक् वष्टेः कान्तिकर्मणः, निरु० ६.१०। वश कान्तौ, अदादिः। उशिक्=मेधावी, निघं० ३.१५।
५. जाते जाते विद्यते, यद्वा जातानि वेद, विद सत्तायाम्, विद ज्ञाने। (द्रष्टव्य, निरु० ७.१९)।
६. जुङ् गतौ, भ्वादि। ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्त्तयश्च पा० ३.३.९७ से क्तिन् प्रत्यय, दीर्घ तथा उदात्त स्वर।

४८. किसके शासन में ?

जानन्ति वृष्णो अरुषस्य शेवमुत ब्रध्नस्य शासने रणन्ति।
दिवोरुचः सुरुचो रोचमाना इळा येषां गण्या माहिना गीः॥

—ऋ० ३.७.५

ऋषिः—गाथिनः विश्वामित्रः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥

भक्तजन (**जानन्ति**) जानते हैं (**वृष्णः**) वर्षा करने वाले, (**अरुषस्य**[१]) अहिंसक एवं आरोचमान [अग्नि प्रभु] के (**शेवम्**) सुख को, (**उत**) और, वे (**ब्रध्नस्य**[२]) [उस] महान् के (**शासने**) शासन में (**रणन्ति**[३]) रमते हैं। (**दिवोरुचः**) सूर्य के समान तेजस्वी, (**सुरुचः**) शुभ कीर्ति वाले, और (**रोचमानाः**) गुणों से देदीप्यमान [हो जाते हैं], (**येषाम्**) जिनकी (**इळा**[४]) स्तुतियोग्य (**गीः**) वाणी (**गण्या**) गणनीय, और (**माहिना**) महिमाशालिनी [होती है]।

यदि तुमसे कोई पूछे कि तुम किसके शासन में रहते हो, तो तुम अपने प्रदेश के मुख्यमन्त्री या राज्यपाल का नाम लोगे, अथवा देश के प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति को गौरव प्रदान करोगे। पर विरले होते हैं वे लोग जो कहते हैं कि हम तो शासकों के शासक, महान् जगदीश्वर के शासन में रमते हैं। वे ऐसा क्यों कहते हैं ? इसलिये, क्योंकि वे जानते हैं, अनुभव करते हैं कि उस प्रभु के राज्य में कैसा सुख है। सम्राट् अग्नि प्रभु प्रत्येक प्रजा के ऊपर वर्षा कर रहे हैं। धन-धान्य की वर्षा कर रहे हैं, फूलों-फलों की वर्षा कर रहे हैं, दूध और नवनीत की वर्षा कर रहे हैं और सबसे बढ़कर दिव्य आनन्द की वर्षा कर रहे हैं। वे अपनी प्रजा की हिंसा नहीं करते; दण्ड भी देते हैं, तो कल्याण के लिए देते हैं। विपदा भी लाते हैं, तो वह भी चेताने के लिये लाते हैं, जिससे अग्नि में सुवर्ण के समान विपदा में निखर कर मनुष्य उज्ज्वल रूप में प्रकट हो सके। प्रभु आरोचमान हैं, सूर्य, चन्द्र, विद्युत् एवं नक्षत्रों से अधिक चमकीले हैं, तेजस्वी हैं। उनका दिया हुआ सुख सचमुच दिव्य सुख है।

प्रभु के राज्य में बसने वाले जिन लोगों की वाणी स्तवनीय हो जाती है, जिनकी वाणी गुणिगणगणना में गणनीय हो जाती है, महिमाशालिनी, प्रतापवती, ओजस्विनी हो जाती है, जिनकी वाणी में ऐसा बल आ जाता है कि रोगी को चंगा कर दे, निर्बल को बलवान् बना दे, मरणासन्न को जीवित कर दे, निराश को आशावादी बना दे, दीन-हीन को महत्त्वाकांक्षी कर दे, कर्महीन को कर्मण्य बना दे, वे लोग सूर्य के समान तेजस्वी हो जाते हैं, उनकी शुभ कीर्ति सर्वत्र फैल जाती है, वे सद्गुणों से देदीप्यमान हो जाते हैं।

आओ, हम भी प्रभु के शासन का दिव्य सुख लूटें, हम भी उसके शासन का गुणगान करें, हम भी अपनी वाणी को ओजस्विनी एवं बलवती बनायें, हम भी तेजस्वी और यशस्वी बनें।

---

१. न रोवति रुष्यति वा यः स अरुषः रुष हिंसार्थः, भ्वादिः दिवादिश्च, अहिंसकः। यद्वा, अरुष=आरुच, 'अरुषीः आरोचनात्' निरु० १२.७। अरुष=रूप, निघं० ३.७।
२. ब्रध्न=महान्, निघं० ३.३। बध्नाति यः सर्वान् स्वनियन्त्रणे स ब्रध्नः। बन्ध् धातु से नक् प्रत्यय तथा बन्ध् को ब्रध् आदेश, 'बन्धेर्ब्रधिबुधी च', उ० ३.५।
३. रण शब्दार्थः गत्यर्थश्च, भ्वादिः। वेद में रण धातु रमणार्थक भी है। यथा, रणाय रमणीयाय, निरु० ९.२५।
४. इडा और गीः दोनों वाणी के वाचक हैं, निघं० १.११। ईड्यते स्तूयते इति इडा, ईड स्तुतौ।

४९. वृक्ष उगाओ, प्रदूषण दूर करो

वनस्पते शतवल्शो वि रोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम।
यं त्वामयं स्वधितिस्तेजमानः प्रणिनाय महते सौभगाय॥

—ऋ० ३.८.११

ऋषिः—विश्वामित्रः गाथिनः॥ देवता—व्रश्चनः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**वनस्पते**) हे वनस्पति! तू (**शतवल्शः**[१]) सौ शाखाओं वाली होती हुई (**विरोह**) बढ़। (**सहस्रवल्शाः**) हजार शाखाओं वाले होते हुए (**वयम्**) हम (**वि रुहेम**) विविधरूप में बढ़ें, (**यं त्वाम्**) जिस तुझको (**अयम्**) इस (**तेजमानः**[२]) तीक्ष्णदार वाले (**स्वधितिः**[३]) परशु ने (**प्रनिनाय**[४]) प्रकष्टरूप से संवारा है (**महते सौभगाय**) महान् सौभाग्य के लिए।

आज हमारे देश में पर्यावरण के प्रदूषण की समस्या उग्ररूप में विद्यमान है। घनी आवादी, कल-कारखानों की विषैली गैसों आदि से प्रदूषण चरम सीमा पर पहुँच गया है। न केवल हमारे देश में, अपितु अन्य देशों में भी प्रदूषण की स्थिति चिन्ताजनक हो गयी है। यदि ऐसा ही चलता रहा, तो यह धरती निवासयोग्य नहीं रह जाएगी। प्रदूषण को रोकने के लिए एक कारगर उपाय वृक्ष-वनस्पति उगाना है। वायुमण्डल में कार्बन डाई औक्साइड गैस की वृद्धि प्रदूषण का एक प्रमुख कारण है। यह गैस वृक्ष-वनस्पतियों का भोजन है। इसे अपने अन्दर लेकर वृक्ष बदले में ऑक्सीजन छोड़ते हैं, जो प्राणियों का जीवन है। वृक्ष न केवल वायुमण्डल का शोधन करते हैं, अपितु वर्षा कराने में भी हेतु बनते हैं। वे अपनी जड़ों से पर्वतीय एवं नदी-नालों के समीप की भूमि को भी दृढ़ किये रखते हैं, जिससे भूमि जल-प्रवाह से कटती नहीं। वृक्षों की परम उपयोगिता के कारण वेद का सन्देश है कि वनों में वनस्पतियाँ उगाओ—**वनस्पतिं वन आस्थापयध्वम्**, ऋ० १०.१०१.११।

प्रस्तुत मन्त्र में बताया गया है कि वनस्पतियों को हम समूल न काटें, अपितु इसप्रकार काटें कि वे शतगुणित बढ़ती रहें। वृक्षों के किन अवयवों को कब काटना है, यह वनस्पति-विद्या के विशेषज्ञ लोग भलीभाँति जानते हैं। तीक्ष्ण धार वाले परशु से वनस्पति के बेकार अङ्गों को काट कर हम उसे सजाते-सँवारते हैं, उसके सौभाग्य की वृद्धि करते हैं। स्थान-स्थान पर उसकी नवीन शारवाएँ निकलती हैं और चारों दिशाओं में वृक्ष पहले से सौ गुणा बढ़ जाता है। वृक्षों के सौ गुणा बढ़ने का क्या परिणाम होगा? प्रदूषण दूर होने एवं वृष्टि होने से भूमि सस्यश्यामला बनेगी, रोग दूर होंगे, राष्ट्रवासी शरीर एवं मन से स्वस्थ रहेंगे। इसप्रकार देश की प्रजा सहस्रगुणा वृद्धि एवं उन्नति को प्राप्त होगी।

आओ, हम वृक्ष उगायें, उनकी देखभाल करें, उनकी वृद्धि करें और उससे स्वयं भी वृद्धि को प्राप्त हों।

---

१. शतानि वल्शाः अङ्कुराः यस्य सः।
२. तिज निशाने, भ्वादि, तेज करना।
३. स्वधिति=वज्र, परशु, निघं० २.२०।
४. प्र-णीञ् (नी) प्रापणे, लिट्।

५०. प्राणाग्नि अद्वितीय रथ है

अदाभ्यः पुरएता विशामग्निर्मानुषीणाम्। तूर्णी रथः सदा नवः॥

—ऋ० ३.११.५

ऋषिः—विश्वामित्रः गाथिनः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥

(**अदाभ्यः**[१]) अपराजेय, अहिंसनीय, (**पुरएता**) अग्रगन्ता (**अग्निः**[२]) प्राणाग्नि (**मानुषीणां विशाम्**) मानवी प्रजाओं का (**तूर्णिः**[३]) वेगवान्, (**सदा नवः**) सदा नवीन (**रथः**) रथ [है]।

छान्दोग्य[४] उपनिषद् की कथा है। एक बार देवों और असुरों में लड़ाई छिड़ी। देव नासिका से असुरों को जीतने चले। असुरों ने उसे पाप से विद्ध कर दिया। इसलिए नासिका से मनुष्य सुगन्धि और दुर्गन्धि दोनों प्रकार के पदार्थों को सूँघता है। फिर देवों ने वाणी-रूप अस्त्र निकाला। उसे भी असुरों ने पापविद्ध कर दिया। इसीलिए वाणी से मनुष्य सत्य और अनृत दोनों प्रकार का भाषण करता है। तत्पश्चात् देवों ने चक्षु से असुरों को जीतना चाहा। उसे भी असुरों ने पापविद्ध कर दिया। इसीलिए चक्षु से मनुष्य दर्शनीय और अदर्शनीय दोनों प्रकार के दृश्य देखता है। पुनः देवों ने श्रोत्र-रूप हथियार निकाला। वह भी असुरों द्वारा पापविद्ध कर दिया गया। इसीलिए श्रोत्र से मनुष्य श्रवणीय और अश्रवणीय दोनों प्रकार के शब्द सुनता है। तदनन्तर देवों ने मन-रूप आयुध से असुरों को जीतने का उपक्रम किया। उसे भी असुरों ने पापविद्ध कर दिया। इसीलिए मनुष्य मन से उचित और अनुचित दोनों प्रकार के संकल्प करता है। अन्त में देव मुख्य प्राण के बल से असुरों पर विजय पाने के लिए उद्यत हुए। उसे भी असुर पापविद्ध करने चले। परन्तु प्राण से टकरा कर ऐसे ही चूर-चूर हो गये, जैसे मिट्टी का ढेला पत्थर से टकरा कर चूर हो जाता है। अतएव प्रस्तुत मन्त्र में प्राणाग्नि को 'अदाभ्य' अर्थात् अपराजेय या अहिंसनीय कहा गया है।

प्राणाग्नि अग्रनेता है। वह वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि को शक्ति देता हुआ उनके आगे-आगे चलता है। उस अग्रनेता के बिना वाक्, चक्षु आदि निंस्तेज एवं अकर्मण्य सिद्ध होते हैं। वह मानुषी प्रजाओं का अतिवेगवान् रथ है। जैसे तीव्रगामी रथ पर बैठकर मनुष्य सुदीर्घ मार्ग को भी आसानी से पार कर लेता है और गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है, वैसे ही प्राणाग्नि का अवलम्बन करके अध्यात्म-पथ का राही अपने लम्बे आध्यात्मिक मार्ग को निर्विघ्न पार करके निर्विकल्पक समाधि द्वारा क्लेशों से छूटकर मुक्तिरूप लक्ष्य को पा लेता है। प्राणरूप रथ की एक अद्भुत विशेषता यह है कि वह पुराना नहीं होता, किन्तु सदा नवीन बना रहता है। मृत्यु के उपरान्त भी सूक्ष्म शरीर में अवस्थित होकर आत्मा के साथ रहता है।

आओ, हम भी इस प्राणाग्नि-रूप वेगवान् तथा सदा नवीन रथ पर आरोहण करके लक्ष्य को प्राप्त करें।

---

१. दम्भु दम्भने, कर्म में ण्यत् प्रत्यय।

२. प्राणो वा अग्निः —श० ब्रा० २.२.२.१५; ९.५.१.६८; तै० आ० ५.८.१२। प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति — प्रश्नोप० ४.३।

३. त्वर (ञित्वरा) सम्भ्रमे, नि प्रत्यय। धातु के वकार को ऊठ्=ऊ। प्रत्यय के न् को ण्। रथः का र परे होने पर पूर्व को दीर्घ। तूर्णी रथः।

४. छा० उप० प्रपा० १, खण्ड २।

५१. मेरा नमस्कार स्वीकार करो

अयामि ते नमउक्तिं जुषस्व ऋतावस्तुभ्यं चेतते सहस्वः।
विद्वाँ आ वक्षि विदुषो नि षत्सि मध्य आ बर्हिरूतये यजत्र॥ —ऋ० ३.१४.२

ऋषिः—ऋषभः वैश्वामित्रः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**अयामि**[१]) प्रेरित कर रहा हूँ (**ते**) तेरे लिए (**नमउक्तिम्**) नमस्कारोक्ति को, (**जुषस्व**) सेवन कर, स्वीकार कर। (**ऋतावः**) हे सत्यवान्! (**सहस्वः**) हे बलशाली! (**चेतते**[२]) चेताने वाले (**तुभ्यम्**) तेरे लिए [मैं समर्पित हूँ]। (**विद्वान्**) विद्वान् तू (**आवक्षि**[३]) ला (**विदुषः**) विद्वानों को। (**आ नि षत्सि**[४]) आकर बैठ (**मध्ये बर्हिः**) हृदय-रूप कुशा के मध्य (**ऊतये**) रक्षा के लिए (**यजत्र**) हे पूजनीय!

हे प्रभु! हे मेरे हृदय के अग्निदेव! हे तेजःपुञ्ज! हे मार्गदर्शक! मैं तुम्हें नमस्कार कर रहा हूँ। पर तुम उसे स्वीकार ही नहीं कर रहे। 'नमस्ते' का प्रत्युत्तर न मिले, तो कैसी खीझ उत्पन्न होती है, कैसी लाज लगती है! मैं भी लाज से गड़ा जा रहा हूँ। क्या कहते हो? क्यों नमस्कार कर रहे हो मुझे? क्या तुम्हारे पास और कोई काम करने को नहीं है? भगवन्! तुम्हारा आशीर्वाद पाने के लिए तुम्हें नमन कर रहा हूँ। मेरे सिर पर हाथ फेरो, मुझे छाती से चिपटाओ, आशीष के दो शब्द कहो, तो मैं निहाल हो जाऊँगा। क्या कहते हो? मैं तो अशरीर हूँ, निराकार हूँ, यह सब कैसे कर सकूँगा? प्रभुवर! मैं भी जानता हूँ कि तुम निराकार हो, पर घटघटवासी भी तो हो। क्या मेरे हृदय की बात नहीं जानते हो कि मैं क्या चाहता हूँ? मेरी भाषा पर ध्यान मत दो, देवाधिदेव। निराकार हो, तो भी आशीष तो दे ही सकते हो। मुख से बोलकर न सही, अन्तरात्मा में प्रेरणा करके मुझे उत्साहित तो कर ही सकते हो।

तुम 'ऋतावान्' हो, सत्य के प्रेमी हो। तुम 'सहस्वान्' हो, अपूर्व बलशाली हो। तुम 'चेतत्' हो, चेताने वाले हो, जागरूक करनेवाले हो। मुझे भी सत्यवान्, बलवान् और जागरूक कर दो या ऐसा होने का आशीष दे दो। तुम्हारा आशीर्वाद पारसमणि है, जो लोहे को भी सोना बना देता है। मैं लोहा ही सही, पर तुम्हारे सम्पर्क में आकर सुवर्ण बन जाने की बाट जोह रहा हूँ।

हे प्रियतम! क्या तुम इससे रुष्ट हो कि मैं तुम्हें बैठने को भी नहीं पूछ रहा हूँ। तुम तो सर्वान्तर्यामी हो, सर्वत्र स्वयं विराजे हुए हो, तुम्हें कहाँ बैठाऊँ? अन्य अतिथियों को बैठने के लिए कुशा का आसन देता हूँ, तुम मेरे हृदय-रूप कुशासन पर विराजमान हो जाओ। क्या पूछते हो? बैठकर क्या करूँ? हे यजत्र! हे पूजनीय! हे श्रद्धास्पद! तुम जग के रक्षक हो, मेरी भी रक्षा की बागडोर सँभालो। मुझे पापों से बचाओ, दुर्व्यसनों से बचाओ, अपयश से बचाओ। प्रदान करो पुण्य, सद्‌गुण और अमर यश।

जो मैंने अपने लिए माँगा है, वही जग के लिए भी माँगता हूँ। साथ ही एक याचना और है। तुम विद्वान् हो, मेरे समाज को भी विद्वान् नर-नारी प्रदान करो। मेरा देश निरक्षरों, बुद्धिहीनों, अपण्डितों का देश न होकर साक्षरों, बुद्धिवैभव के धनियों तथा प्रौढ़ पण्डितों का राष्ट्र बने। तब देश की दशा सुधरेगी, बिगड़े काम बनेंगे, उन्नति का सितारा चमकेगा, कीर्ति की पताका फहरायेगी, सुख-सौभाग्य जागेगा, विद्या का सूर्य जगमगायेगा। हे प्रभु! मेरी प्रार्थना पूर्ण करो।

---

१. अयामि प्रेरयामि—वेंकट, सायण। अय गतौ, लुप्तणिच्क प्रयोग।
२. चेतते चेतयित्रे—सायण। चिती संज्ञाने, णिच् का लोप।
३. आवक्षि=आवह। वह प्रापणे, लेट् लकार, छान्दस रूप।
४. नि षत्सि=निषीद। उपवेशनार्थक सद धातु का छान्दस रूप।

५२. काली रातों में प्रकाश देने वाला

त्वं नृचक्षा वृषभानु पूर्वीः कृष्णास्वग्ने अरुषो वि भाहि।
वसो नेषि च पर्षि चात्यंहः कृधी नो राय उशिजो यविष्ठ॥ —ऋ० ३.१५.३

ऋषिः—उत्कीलः कात्यः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥

(त्वम्) तू **(नृचक्षाः[१])** मनुष्यों का द्रष्टा है, **(वृषभ)** हे ज्योति-वर्षक! **(अग्ने)** हे ज्योतिर्मय परमेश! **(कृष्णासु)** काली रातों में **(अरुषः)** आरोचमान तू **(अनु)** अनुक्रम से **(पूर्वीः)** श्रेष्ठ ज्वालाओं को **(वि भाहि)** विभासित कर। **(वसो)** हे बसाने वाले! **(नेषि[२] च)** हमारा नेतृत्व भी कर, **(अति पर्षि[३] च अंहः)** और हमें पाप से भी पार कर। **(कृधि)** कर **(नः)** हमें **(राये)** ऐश्वर्य के लिए **(उशिजः[४])** इच्छुक **(यविष्ठ[५])** हे तरुणतम!

हमारे जीवन में काली अँधियारी रातें प्रायः आती रहती हैं। स्वास्थ्य अचानक बहुत बिगड़ गया है, अपार कष्ट है, न रोग ही जा रहा है, न प्राण ही निकल रहे हैं। यह रोगी के लिए काली रात्रि ही तो है। भूकम्प की विनाशलीला से सारा परिवार काल के कराल गाल में समा गया है, केवल एक देवी बची है, उसका भी सौभाग्य-सिन्दूर पुँछ गया है। यह उसके लिए काली रात्रि ही तो है। करोड़ों की सम्पत्ति अर्जित की थी, आलीशान कोठियाँ खड़ी की थीं, अच्छा-खासा व्यापार चल रहा था। भयङ्कर आग ने सब कुछ स्वाहा कर दिया। अब हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं। यह काली रात्रि ही तो है। किसी का इकलौता जवान बेटा चला गया, किसी का प्यारी पत्नी से बिछोह हो गया, किसी की ममता की पुतली प्यारी बिटिया लाख उपाय करने पर भी न बच सकी, किसी को कारोबार में असह्य घाटा हो गया, किसी की सब जमा पूँजी लुट गयी। ये सब काली रात्रि ही तो हैं। ऐसे अवसरों पर जब निराशा के काले बादल मण्डरा रहे हैं, दुःख और वेदना की अँधियारी निशा छा रही है, क्या कहीं से ज्योति नहीं मिलेगी? हे सब मनुष्यों के द्रष्टा! उनकी सुध लेने वाले आरोचमान अग्नि प्रभु! तुम्हीं ऐसी स्थितियों में असहाय मनुष्य को प्रकाश देने वाले हो। तुम अपनी श्रेष्ठ अर्चियों से भासित करके निराश हृदयों में आशा का सञ्चार करो और कष्ट को सहन करने की शक्ति देकर उज्ज्वल प्रकाश में आगे-आगे बढ़ाओ।

हे प्रभु! तुम उजड़ों को भी बसाने वाले हो। तुम्हीं हमारा नेतृत्व करो। हे तरुणतम देव! यदि हम अपनी दुर्बलताओं के कारण पापों में लिप्त हो गये हैं, तो तुम्हीं उनसे भी हमारा उद्धार करो। यदि हम उदासीन और अकर्मण्य हो गये हैं, तो तुम्हीं हमारे अन्दर ऐश्वर्यों को प्राप्त करने की उत्कट कामना जागरित करो और फिर से हमें ऐश्वर्यवान् होकर जीने योग्य बना दो। तुम्हीं हमारे मनों में सत्य, अहिंसा, सरलता, दयालुता आदि दिव्य ऐश्वर्यों को पाने की लालसा भी उत्पन्न करो। तुम्हीं हमारे अन्दर विवेक एवं वैराग्य जगाओ। तुम्हीं शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान इस षट्क-सम्पत्ति की ओर प्रेरित करो। तुम्हीं हमारे अन्दर मुमुक्षुत्व पैदा करो। तुम्हीं हमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं साक्षात्कार के श्रवणचतुष्टय में रमाओ। तुम्हीं हमें मुक्ति के इन उपायों में लगाकर मुक्तिरूप परम पद का अधिकारी बनाओ।

---

१. नृन् मनुष्यान् चष्टे पश्यति इति नृचक्षाः। चष्टे=पश्यति, निघं० ३.११।
२. णीञ् प्रापणे, भ्वादिः। नेषि=नय, लेट् लकार।
३. पृ पालनपूरणयोः, जुहोत्यादिः। अतिपर्षि=अतिपारय।
४. वश कान्तौ अदादिः। कान्तिः इच्छा। उशन्ति इच्छन्ति ये तान् उशिजः इच्छुकान्।
५. अतिशयेन युवा यविष्ठः। युवन् शब्द से इष्ठन् प्रत्यय।

५३. बरसो, हे प्रभु! बरसो

प्र पीपय वृषभ जिन्व वाजानग्ने त्वं रोदसी नः सुदोघे।
देवेभिर्देव सुरुचा रुचानो मा नो मर्तस्य दुर्मतिः परि ष्ठात्॥ —ऋ० ३.१५.६

ऋषिः—उत्कीलः कात्यः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**प्र पीपय**[1]) खूब बढ़ाओ हमें, (**वृषभ**) हे वर्षा करने वाले! (**जिन्व**[2]) प्रदान करो (**वाजान्**) बल एवं विज्ञानों को। (**अग्ने**) हे अग्रनेता प्रभु! (**त्वम्**) तुमने (**रोदसी**) द्यावापृथिवी को (**नः**) हमारे लिए (**सुदोघे**[3]) सुदोग्ध्री अर्थात् उत्तमोत्तम पदार्थों का दोहन करने वाली [बनाया है]। (**देवेभिः**) [शरीरस्थ] देवों सहित (**देव**) हे देव! [आप] (**सुरुचा**) शुभ कान्ति से (**रुचानः**) [हमारे अन्दर] चमको। (**मा**) मत (**नः**) हमें (**मर्तस्य**) शत्रु मनुष्य की (**दुर्मतिः**) दुर्मति (**परिष्ठात्**[5]) घेरे।

बरसो, हे बरसने वाले प्रभु! बरसो। जैसे बादल बरसकर वृक्ष-वनस्पतियों को बढ़ाता है, वैसे ही तुम बरसकर हमें बढ़ाओ। हमारे अन्दर 'वाज' की वृद्धि करो। वैदिक वाज शब्द खाद्यान्न, देहबल, मनोबल, बुद्धिबल, प्राणबल, आत्मबल, धर्मबल, विज्ञानबल, संघर्ष-सामर्थ्य, ओज, प्रताप, क्षात्रबल, ब्रह्मबल आदि अर्थों को अपने अन्दर समाविष्ट किये हुए है। इन सबकी बढ़ती से हमें समृद्ध करो।

हे जगदीश! तुमने द्यावापृथिवी को 'सुदुघा' बनाया है। जैसे गाय दूध देकर हमें कृतार्थ करती हैं, ऐसे ही ये द्यौ और भूमि हमें अपने लाभों से निरन्तर उपकृत करते रहते हैं। पृथिवी हमारी माता है, वह हमें अन्न, रस, कन्द-मूल, फल, कोयला, लोहा, चाँदी, सोना, मोती, जवाहर, जल, वायु आदि देती है। द्यौ भी हमारी माता है, उसकी गोदी में बैठा हुआ सूर्य-रूप शिशु अपने ताप एवं प्रकाश से तथा अपनी धारण-आकर्षण की शक्ति से सब ग्रह-उपग्रहों को धारित आकर्षित करके बिना ही आधार के उन्हें आकाश के मध्य में टिकाये हुए है। सूर्य वर्षा करता है, ऋतु-चक्र को चलाता है, चाँद में चाँदनी भरता है, मालिन्य हरता है, प्राण देता है।

हे देवाधिदेव! तुम पूरी चमक के साथ मेरे अन्दर चमको। शरीर में जो अन्य आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण, ज्ञानेन्द्रिय आदि देवता बैठे हुए हैं, उन्हें भी अपनी चमक से चमकाओ। तुम्हारे तेज को पाकर मेरा आत्मा तेजस्वी हो उठे, मेरा मन प्रबल संकल्प वाला बन जाए, मेरी बुद्धि अद्वितीय-रूप से निश्चयात्मिका हो जाए, मेरे अन्दर प्राणों का स्रोत फूट पड़े, मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ अपूर्व ज्ञानसंग्राहक हो जाएँ। मेरे अंग-अंग में आप स्फूर्ति भर दो।

हे अग्निदेव! हे अग्रनेता प्रभु! ऐसी कृपा करो कि किसी दुष्ट की दुर्मति का निशाना हम न बनें। दुर्मति बड़ी भयङ्कर वस्तु है। षड्यन्त्रकारी शत्रु की दुर्मति सुख को हाहाकार में परिणत कर देती है, शान्ति को चीत्कार में बदल देती है, ऊँचे उठे को नीचे गिरा देती है, समृद्ध को वैभवहीन कर देती है। बड़े-बड़े उन्नत राष्ट्र विरोधी राष्ट्र की दुर्मति के शिकार होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। हे प्रभु! तुम शत्रु की दुर्मति को सुमति में बदल दो, या फिर हमारे अन्दर ऐसी शक्ति भर दो कि हम उस दुर्मति का साहसपूर्वक मुकाबला कर सकें।

---

१. पीपय=वर्द्धय। ओप्यायी वृद्धौ, णिजन्त, लोट्। धातु को पी आदेश छान्दस।
२. जिन्व पापय। जिन्वति गतिकर्मा, निघं० २.१४।
३. सुदोघे=सुदोहे। दुह प्रपूरणे, भावे घञ्। शोभनः दोहः ययोः ते।
४. रुच दीप्तौ, शानच्। रुचानः दीप्यमानः, भव इति शेषः।
५. परि-स्था गतिनिवृत्तौ। लिङर्थे लुङ्।

५४. हे देव! आसुरी सेनाओं को परास्त करो

अग्ने सहस्व पृतना अभिमातीरपास्य। दुष्टरस्तरन्नरातीर्वर्चो धा यज्ञवाहसे॥

—ऋ० ३.२४.१

ऋषिः—विश्वामित्रः गाथिनः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥

(अग्ने) हे तेजोमय अग्रनायक परमेश्वर! **(सहस्व**[1]**)** परास्त कर **(पृतनाः)** सेनाओं को। **(अभिमातीः)** अभिमानी शत्रुओं को **(अपास्य**[2]**)** दूर फेंक दे। **(दुष्टरः**[3]**)** दुस्तर तू **(तरन्)** तरता हुआ, तिरस्कृत करता हुआ **(अरातीः**[4]**)** अदान की प्रवृत्तियों को **(वर्चः धाः)** तेज प्रदान कर **(यज्ञवाहसे**[5]**)** यज्ञसंचालक के लिए।

मेरे अन्दर विकट देवासुर-संग्राम चल रहा है। एक ओर देवों की सेनाएँ हैं, दूसरी ओर असुरों की। देव कहता है, सत्य बोलो। असुर तुर्रा छोड़ता है, सत्यवादी कौन आस्मान के तारे तोड़ लाये हैं? देव कहता है, अहिंसक बनो। असुर फब्ती कसता है, अहिंसक कौन अमनचैन से रहा है? देव कहता है, तस्करी मत करो। असुर बोल उठता है, तस्करी ही तो मालामाल होने का सरल उपाय है। देव कहता है, चोरबाजारी मत करो। असुर उत्तर देता है, जो चोरबाजारी नहीं करते, वे दूकान पर खाली बैठे मक्खियाँ मारते रहते हैं। देव कहता है, ब्रह्मचारी बनो। असुर उपहास करता है, ब्रह्मचर्य का उपदेश नपुंसक लोगों के दिमाग की उपज है। देव कहता है, सन्तोष करो। असुर कहता है, सन्तोष करना है, तो जङ्गल में जाकर बस आओ। देव कहता है, तपस्या करो। असुर कहता है, कष्ट पहले ही जीवन में क्या कम हैं, जो तप का एक और कष्ट मोल ले लिया जाए? देव कहता है, ईश्वर-भक्ति में रस लो। असुर बोल उठता है, ईश्वर-भक्ति निठल्लों का काम है। देव कहता है, दान करो। असुर कहता है, क्यों दान करके संसार में निष्क्रिय लोगों को बढ़ावा देते हो? देव कहता है, क्षमा करो। असुर बात काटता है, क्षमा वे करते हैं, जो शक्तिहीन होते हैं। देव कहता है, छल मत करो। असुर कहता है, छल के बल पर ही तो संसार टिका हुआ है। देव कहता है, धर्मात्मा बनो। असुर कहता है, धर्म का नाम वे लेते हैं, जो अशक्त होते हैं, अन्यथा सर्वत्र 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की कहावत चरितार्थ न होती। इसप्रकार मन में जो भी दिव्य विचार उठता है, असुर उसकी काट कर देता है। हे ज्योतिर्मय मार्गदर्शक प्रभु! तुम मेरे अन्दर पनप रही आसुरी सेनाओं को परास्त करके दैवी सेनाओं को विजेत्री बनाओ।

हे परमेश! मेरे अन्दर जिन काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि अभिमानी शत्रुओं ने डेरा डाल रखा है, उन्हें तुम ध्वस्त कर दो। इसके विपरीत धृति, क्षमा, दमन, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध आदि मित्रों को मेरे अन्तरात्मा में सरसाओ।

हे दुस्तर! हे अपराजेय अग्नि प्रभु! तुम मुझे अरातियों से, अदान-भावनाओं से, कृपणताओं से पार लगा दो। दुःख से छटपटाते हुए दीन-हीनों को मैं अपना भाई-बहिन समझकर तन, मन, धन से उनकी सहायता में जुट जाऊँ, ऐसी प्रवृत्ति मेरी कर दो। इसप्रकार मुझे 'यज्ञवाहाः' बना दो, यज्ञ का सूत्रधार बना दो, परोपकार में आनन्द लेने वाला बना दो। फिर मुझ 'यज्ञवाहाः' के अन्दर ब्रह्मवर्चस भी निहित कर दो।

---

१. षह मर्षणे। मर्षण=सहन करना, पराजित करना।
२. अप-असु क्षेपणे, दिवादि, लोट्। अपास्य=अपक्षिप।
३. दुःखेन तीर्यते इति दुस्तरः, दुष्टरः। दुस्-तॄ प्लवनसंतरणयोः।
४. रा दाने, राति=दान की प्रवृत्ति। अराति=अदान की प्रवृत्ति।
५. यज्ञं वहतीति यज्ञवाहाः तस्मै। यज्ञ—वह प्रापणे, असुन्।

५५. अग्नि प्रभु को मथो, सम्मुख प्रकट करो

मन्थता नरः कविमद्वयन्तं प्रचेतसममृतं सुप्रतीकम्।
यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरस्तादग्निं नरो जनयता सुशेवम्॥

—ऋ० ३.२९.५

ऋषिः—गाथिनः विश्वामित्रः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**मन्थत**[१]) मथो (**नरः**) हे नरो! (**कविम्**) कवि को, (**अद्वयन्तम्**[२]) दुभाँति न करने वाले को, (**प्रचेतसम्**[३]) प्रकृष्ट चित्त वाले को, (**अमृतम्**) अमर को, सजीव को, (**सुप्रतीकम्**[४]) सुन्दर को। (**यज्ञस्य केतुम्**) यज्ञ के ध्वज, (**प्रथमम्**) श्रेष्ठ, (**सुशेवम्**[५]) सुसुखी एवं सुसुखदाता (**अग्निम्**) अग्रनायक तेजस्वी परमेश्वर को (**नरः**) हे मनुष्यो! (**पुरस्तात्**) सम्मुख (**जनयत**) प्रकट करो।

दधि को मथते हैं, तो माखन पात्र में ऊपर तैर आता है। हे मनुष्यो! तुम अग्रनेता तेजस्वी प्रभु को अपने हृदय के पात्र में मथो। मन-रूप मथानी से मथो, भूरि-भूरि उसका मनन-चिन्तन करो। आत्मा से उसका साक्षात्कार करो। तब ब्रह्मानन्द-रूप नवनीत मिलेगा। वे प्रभु कवि हैं, क्रान्तद्रष्टा हैं, दूर की देखने वाले हैं तथा अपने उपासक को भी क्रान्ददर्शी एवं दूरदर्शी बना देने वाले हैं। वे काव्य-रचयिता भी हैं, उनका वेदकाव्य नीरस को सरस कर देता है, दुःख से कराहते को आनन्द-मग्न कर देता है, भावहीन को भाव-विभोर कर देता है, कर्त्तव्य-विमुख को कर्त्तव्योन्मुख कर देता है। वे 'अद्वयन्' हैं, दुहरी चाल नहीं चलते हैं, दुभाँति नहीं करते हैं। एक-जैसी योग्यता वालों में से किसी को हाथी पर बैठा दें और किसी को दूर-दूर का भिखारी बना दें, ऐसा नहीं करते हैं। अपनी असमान योग्यताओं या अपने असमान कर्मों के कारण ही उनके राज्य में कोई उच्च स्थिति पाता है और कोई ठोकरें खाता है। प्रभु 'प्रचेताः' हैं, प्रकृष्ट चित्त वाले हैं, वे सबका कल्याण ही चाहते हैं। प्रभु 'अमृत' हैं, अमर हैं, सजीव हैं। वे दूसरों को भी अमृत बाँटते हैं, यश से अमर करते हैं, जीवन्त करते हैं। प्रभु सुप्रतीक हैं, सुन्दर हैं। वे अन्यों को भी 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' का प्रसाद बाँटते हैं।

जो प्रभु की मोहिनी छवि को देख लेते हैं, वे उस पर मुग्ध हो जाते हैं। फिर उन्हें लौकिक छवियाँ मोहित नहीं करतीं। प्रभु यज्ञ के केतु हैं, स्वयं यज्ञ का ध्वज बने हुए हैं। उनके ब्रह्माण्ड-सञ्चालन-रूप यज्ञ को देख मनुष्य भी परोपकार-यज्ञ में प्रवृत्त होने की प्रेरणा पाता है। प्रभु 'प्रथम' हैं, श्रेष्ठ ही श्रेष्ठ हैं, उनमें अश्रेष्ठता का कुछ भी अंश नहीं है। प्रभु 'सुशेव' हैं स्वयं सबसे बढ़कर सुखी हैं तथा अन्यों को भी सुख देने वाले हैं।

ऐसे अग्निदेव को, अग्रनेता प्रभु को, हे मनुष्यो! तुम अपने हृदय में प्रकट करो, उसका साक्षात्कार करो, उसे हस्तामलकवत् देखो।

---

१. मन्थ विलोडने, भ्वादि, लोट्।
२. द्वयमिव आचरति द्वयति। शतृ, द्वितीया, एकवचन।
३. प्रकृष्टं चेतो यस्य स प्रचेताः, तम्।
४. सुप्रतीकं सुरूपम्।
५. शोभनं शेवं सुखं यस्य यस्माद् वा स सुशेवः। शेवम्=सुखम्, निघं० ३.६।

५६. जननायक कैसा हो?

पतिर्भव वृत्रहन्त्सूनृतानां गिरां विश्वायुर्वृषभो वयोधाः।
आ नो गहि सख्येभिः शिवेभिर्महान् महीभिरूतिभिः सरण्यन्॥

—ऋ० ३.३१.१८

ऋषिः—कुशिकः ऐषीरथिः, अथवा गाथिनः विश्वामित्रः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥

(पतिः भव) स्वामी बन **(वृत्रहन्)** हे विघ्ननाशक! **(सूनृतानां गिराम्)** सूनृता वाणियों का। **(विश्वायुः[१])** सब मनुष्यों का हितकर्त्ता **(वृषभः)** वर्षक और **(वयोधाः)** जीवनदाता [बन]। **(आ गहि)** आ **(नः)** हमारे पास **(सख्येभिः)** मित्रताओं के साथ **(शिवेभिः)** जो शिव हों। **(महान्)** महान् तू **(महीभिः ऊतिभिः[२])** महती रक्षाओं के साथ **(सरण्यन्[३])** [संकटापन्नों के पास] पहुँचने का इच्छुक हो।

हे इन्द्र! हे वीर! हे जननायक! तुम वृत्रहा हो, मार्ग में आने वाली समस्त विघ्न-बाधाओं का हनन करने वाले हो, बड़े-से-बड़े आततायिओं को विध्वस्त कर सकने वाले हो। तुम्हें हम सब देशवासियों ने मिलकर अपना नेता चुना है। नेतृत्व करने का एक गुर तुम याद कर लो। तुम सूनृता वाणियों के अधिपति बनो। सूनृता वे वाणियाँ कहलाती हैं, जो सत्य होने के साथ-साथ प्रिय एवं मधुर भी हों[४]। जो वाणियाँ माधुर्य-भरी न होकर केवल सत्य होती हैं, वे उन्हें प्रभावित नहीं कर सकेंगी, जिनका तुम्हें नेतृत्व करना है। इसीप्रकार जो वाणियाँ सत्य न होकर केवल मधुर होती हैं, वे कुछ समय के लिए जनता पर अपना प्रभाव भले ही जमा लें, पर अन्ततः वे भी न केवल प्रभावहीन ही सिद्ध होती हैं, अपितु अहितकर भी रहती हैं। तुम 'विश्वायु', 'वृषभ' और 'वयोधाः' भी बनो। आयु मनुष्य का नाम है, अतः विश्वायु का अर्थ है सब मनुष्यों का हितकर्त्ता। 'वृषभ' का आशय है सब पर सुख-शान्ति की वर्षा करने वाला। 'वयः' शब्द जीवन का वाचक होने से 'वयोधाः' का अर्थ है जीवनदाता। तुम्हें मानवों के हितसाधन का व्रती बनना है, तुम्हें देश में अमन-चैन स्थापित करना है, तुम्हें निर्जीवों में जीवन और प्राण फूँकना है। यह मानव-सेवा का व्रत कठिन अवश्य है, पर इससे तुम यशस्वी बनोगे, सच्चे जन-नायक कहलाओगे और तुम्हें आत्मतुष्टि की अनुभूति होगी।

हे हमारे हृदयहार! हे दीन-दुःखियों के सहायक! हे जनोन्नायक! तुम हमारे बीच आओ, मंगलकारी मैत्री-भावों के साथ आओ। तुम प्रजाजनों के मित्र बनो, प्रजाजन तुम्हारे मित्र बनें, तभी तुम सच्चे अर्थों में जनगणमन-अधिनायक तथा देश के भाग्यविधाता बनोगे तथा तुम्हारा जयजयकार होगा।

हे राष्ट्र के कर्णधार! तुम महान् हो, अपनी महती रक्षाओं के साथ हमारे बीच आओ। हमारे साथ हम-जैसे होकर मिलो-जुलो, हमारे सुख-दुःख को देखो, हमारे यश-अपयश की चिन्ता करो, हमारी उन्नति-अवनति का लेखा-जोखा करो, हमें नीचे से ऊपर उठा दो। हम तुम्हारे गीत गायेंगे, जग हमारे गीत गायेगा।

---

१. विश्वे आयवः मनुष्याः यस्य स विश्वायुः। आयु=मनुष्य, निघं० २.३।
२. अव रक्षणादिषु, 'अतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च' पा० ३.३.९७ से क्तिन् तथा उदात्त स्वर। 'ज्वरत्वर०' पा० ६.४.२० से अव् के स्थान पर ऊठ् आदेश।
३. सृ गतौ। सरणं गमनम् इच्छन् सरण्यन्। सरण शब्द से इच्छार्थ में क्यच्, शतृ।
४. सूनृता प्रियसत्यप्रकाशिका वाक् —इति ऋ० १.८.८ भाष्ये दयानन्दः।

५७. सबको भरते हो, हमें भी भरो

गम्भीराँ उदधीँरिव क्रतुं पुष्यसि गाइव।
प्र सुगोपा यवसं धेनवो यथा ह्रदं कुल्याइवाशत॥

—ऋ० ३.४५.३

ऋषिः—गाथिनः विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥

हे इन्द्र परमेश्वर! आप **(गम्भीरान् उदधीन् इव)** जैसे जल के भण्डार अगाध समुद्रों और बादलों को [परिपूर्ण करते हो], **(गाः इव)** जैसे भूमियों को तथा लोक-लोकान्तरों को [परिपूर्ण करते हो], वैसे ही **(क्रतुम्[१])** यज्ञकर्त्ता को **(पुष्यसि)** पुष्ट करते हो, परिपूर्ण करते हो। **(सुगोपाः)** सुरक्षक [पुरुषार्थी जन], आप को **(प्र आशत[२])** प्राप्त करते हैं, **(यवसं धेनवः यथा)** जैसे घास-चारे को गौएँ और **(ह्रदम् कुल्याः इव)** जैसे महा जलाशय को छोटी-छोटी नहरें [प्राप्त होती हैं]।

हे इन्द्र प्रभु! तुम परम ऐश्वर्यवान् हो, तुमने अपने ऐश्वर्यों से सकल ब्रह्माण्ड को परिपूर्ण किया हुआ है। तुम्हीं अगाध समुद्रों को वर्षा-जल से भरते हो, परिपूर्ण करते हो और तुम्हीं समुद्रों की भाप बनाकर बादलों से अन्तरिक्ष को भरते हो। तुम्हीं ने भूमि, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र आदि ग्रहों को, इन ग्रहों के उपग्रह चन्द्रमाओं को एवं सूर्य, नक्षत्र आदि लोकों को नाना पदार्थों से भरपूर किया है। तुम्हीं ने हमारी भूमि पर हरी घास का गलीचा बिछाया है। तुम्हीं ने रंग-बिरंगे कुसुमों से सुगन्धित तरुओं को उगाया है। तुम्हीं ने पुष्पगुच्छ-रूप झुमकों से अलङ्कृत कोमल लताओं को जन्म दिया है। तुम्हीं ने भूमि के वक्ष में चाँदी-सोने, हीरे-जवाहरों की खानें भरी हैं। तुम्हीं ने स्रोत एवं कूपों में जल भरा है। तुम्हीं ने सूर्य में ताप भरा है, तुम्हीं ने चन्द्रमा में चाँदनी भरी है, तुम्हीं ने सितारों में चमक भरी है। तुम यज्ञकर्त्ता को भी नाना समृद्धियों से भरपूर करते हो। यज्ञ करने वाला, स्वार्थत्यागपूर्वक परहित का बीड़ा उठानेवाला कभी रिक्तहस्त नहीं रहता। वह जनता-जनार्दन की सेवा करता है, तुम उसकी सेवा करते हो।

जो 'सुगोपा' लोग हैं, दीनों और विपद्ग्रस्तों के रक्षक जन हैं, वे अर्चना के भावभीने सुमन लेकर हे जगदीश्वर! तुम्हारे पास ही पहुँचते हैं। किसलिए? गौरवान्वित होने के लिए। जैसे धेनुएँ घास पाकर तृप्त हो जाती हैं, वैसे ही तुम्हारे भक्तजन तुम्हें पाकर संतृप्त हो जाते हैं। जैसे पानी की छोटी-छोटी नहरें महान् जलाशय में पहुँचकर जलाशय की हो जाती हैं, वैसे ही दीनों के त्राता उपासक जन तुम्हें पाकर तुम्हारे हो जाते हैं। हे प्रभु! तुम सबको भरते हो, हमें भी भरो।

---

१. क्रियते इति क्रतुः कर्म (निघं० २.१)। करोतीति क्रतुः कर्मकर्ता। 'कृञः कतुः' उ० १.७६, कृ धातु से कतु=अतु प्रत्यय, ऋ को यण् र्।
२. अशू व्याप्तौ संघाते च, स्वादिः। अश्नुते व्याप्तिकर्मा, निघं० २.१८। लट् के अर्थ में लङ्, छान्दस रूप।

५८. मेरी वाणियाँ तो इन्द्र के गीत गा रही हैं

शतक्रतुमर्णवं शाकिनं नरं गिरो म इन्द्रमुप यन्ति विश्वतः।
वाजसनिं पूर्भिदं तूर्णिमप्तुरं धामसाचमभिषाचं स्वर्विदम्॥ —ऋ० ३.५१.२

ऋषिः—गाथिनः विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—जगती॥

(शतक्रतुम्) सैकड़ों प्रज्ञाओं एवं कर्मों से युक्त, **(अर्णवम्)** आनन्द के समुद्र, **(शाकिनम्[१])** शक्तिशाली, **(नरम्[२])** नेता **(इन्द्रम्)** वीर प्रभु के प्रति **(मे गिरः)** मेरी वाणियाँ **(उप यन्ति)** पहुँच रही हैं **(विश्वतः)** सब ओर से। जो इन्द्र **(वाजसनिम्[३])** बल एवं विज्ञान को देने वाला, **(पूर्भिदम्[४])** पुरी का भेदन करने वाला, **(तूर्णिम्[५])** त्वरायुक्त, **(अप्तुरम्[६])** नदियों एवं प्रजाओं को वेग देने वाला, **(धामसाचम्[७])** तेज से समवेत, **(अभिषाचम्[८])** शत्रुओं का पराभव करने वाला और **(स्वर्विदम्[९])** आनन्द प्राप्त कराने वाला [है]।

संसार में कोई किसी के गीत गाता है, कोई किसी के। पर मेरी वाणियाँ तो 'इन्द्र' प्रभु के गीत गा रही हैं। मैंने इन्द्र की महिमा को देख लिया है। अतः क्यों न उसी को अपना अग्रणी बनाऊँ, क्यों न उसी के सम्मुख सिर नवाऊँ, क्यों न उसी की शरण में जाऊँ, क्यों न उसी शक्तिपुंज से शक्ति प्राप्त करूँ? वह इन्द्र 'शतक्रतु' है, अनन्त प्रज्ञाओं और कर्मों से युक्त है। कैसी अद्भुत उसकी प्रज्ञा है? चाँद, सूरज, सितारे, पर्वत, सरिता, समुद्र, बादल, बिजली, भूमि, आकाश, ऋतुएँ, संवत्सर सब उसकी प्रज्ञा की दुहाई दे रहे हैं। कैसे निराले उसके कर्म हैं? यह क्या कम आश्चर्य की बात है कि आकाश के परिव्राजक लोकलोकान्तर गति कर रहे हैं, फिर भी एक-दूसरे से टकराते नहीं? असंख्य तारे आकाश में बिना डोर के टंगे हुए क्या अचरज में नहीं डालते? कैसे पञ्चतत्त्वों से यह सृष्टि बन गयी और कैसे फिर तत्त्वों में विलीन हो जाएगी? कैसे प्राणियों के हाड़-मांस के जीवित शरीर बन गये? क्या मन मुग्ध नहीं हो जाता इन्द्र की इस सब कारीगरी को देखकर?

इन्द्र 'अर्णव' है, सागर है, करुणा का सागर है, आनन्द का सागर है, कृपा का सागर है, समस्त सद्गुणों का सागर है। वह 'शाकी' है, परम शक्तिशाली है। वह 'नर' है, नेता है, सन्मार्ग दर्शाने वाला है, उन्नति के पथ पर अग्रसर करने वाला है। वह 'वाजसनि' है, आत्मबल देने वाला है। वह 'पूर्भिद्' है अपने और उपासक के बीच में जो मिलन का बाधक लोहदुर्ग है, उसे तोड़ने में उपासक की सहायता करता है। वह 'तूर्णि' है, त्वरायुक्त है, शीघ्रकारी है, सच्चे हृदय से प्रार्थना करने पर अविलम्ब संकटमोचन करता है। वह 'अप्-तुर' है, सांधक के प्राणों को वेग देने वाला है, जैसे बाह्य जगत् में उसने नदियों को वेग दिया है। वह 'धामसाच' है, तेज से समवेत है। वह 'अभिषाच' है, आन्तरिक और बाह्य रिपुओं का पराजेता है। वह 'स्वर्विद्' है, दिव्य आनन्द प्राप्त कराने वाला है।

आओ, उस इन्द्र की गुणावलि का गान कर, हम भी वैसे ही बनने का पुरुषार्थ करें।

---

१. शक्नोति समर्थो भवतीति शाकी। शक्लृ शक्तौ, स्वादिः।
२. नृ नये, क्र्यादिः। यो नृणाति नयति स नरः।
३. वाजं बलं विज्ञानं च यः सनोति ददाति स वाजसनिः। षणु दाने, तनादिः।
४. पुरं लोहदुर्गं भिनत्तीति पूर्भित् तम्। पुर्-भिदिर् विदारणे।
५. त्वरा संभ्रमे-नि प्रत्ययः। ज्वरत्वर० पा० ६.४.२० से व को ऊट्=ऊ। तूर्-नि=तूर्णिः।
६. अपः नदीः प्रजा वा तुतोर्ति तुरयति सवेगं गमयति यः सः अप्तूः, तम्। तुर त्वरणे, जुहोत्यादिः।
७. यो धाम्ना तेजसा सचते समवैति स धामसाच् तम्। षच समवाये।
८. यः अभि सचते अभिभवति तम्। षच समवाये।
९. यः स्वः आनन्दं वेदयते लम्भयति तम्। विद्लृ लाभे, णिजन्त।

५९. हे मेरे देवता! मुझे छोड़ो मत

तिष्ठा सु कं मघवन् मा परा गाः सोमस्य नु त्वा सुषुतस्य यक्षि।
पितुर्न पुत्रः सिचमा रभे त इन्द्र स्वादिष्ठया गिरा शचीवः॥

—ऋ० ३.५३.२

ऋषिः—गाथिनः विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(तिष्ठ) ठहरो **(सु)** भलीभाँति **(कम्[१])** सुख से। **(मघवन्)** हे ऐश्वर्यों के राजा! **(मा परा गाः)** छोड़कर मत जाओ। **(नु)** शीघ्र ही **(सुषुतस्य[२])** उत्तम प्रकार निचोड़े हुए **(सोमस्य)** भक्ति-रस से **(त्वा)** तुम्हारा **(यक्षि[३])** पूजन करता हूँ। **(पितुः)** पिता का **(न)** जैसे **(पुत्र)** पुत्र [आँचल पकड़ता है, वैसे ही] **(ते)** तुम्हारे **(सिचम्)** [शरण-रूप] आँचल को, [मैं] **(आरभे[४])** पकड़ता हूँ, **(स्वादिष्ठया)** स्वादुतम, मधुरतम **(गिरा)** स्तुति-वाणी के साथ, **(शचीवः[६] इन्द्र)** हे श्रेष्ठ कर्मों वाले इन्द्र!

हे ऐश्वर्यों के राजा इन्द्र प्रभु! तुम मुझे छोड़कर क्यों जा रहे हो? ठहरो, जाओ मत। क्या कहते हो? मैं तो रस पीने आया था, तुम्हारे पास रस है ही नहीं, रुककर क्या करूँ? सोम-रस पिलाऊँगा तुम्हें, छककर पी लेना, रुको तो सही, सुख से सांस लेकर बैठो तो। मैं भक्ति का ताजा-ताजा सोमरस निचोड़ रहा हूँ, उसे पीना, उससे तुम्हारा पूजन करूँगा। क्या अब भी नहीं मान रहे हो? जाने पर ही उतारू हो? तुम्हें जाने नहीं दूँगा, तुम्हारा वस्त्राञ्चल पकड़कर तुम्हें बैठा लूँगा। आखिर, तुम्हारा पुत्र ही तो हूँ। जैसे पुत्र मचलकर, खुशामद करके, पिता का वस्त्र-छोर पकड़कर उसे बैठने के लिए बाध्य कर देता है, ऐसे ही मैं भी तुम्हारे साथ कर रहा हूँ। अब मुझे छोड़कर जा सकोगे क्या?

देखो, भक्ति का समाँ बँधा है। भक्ति की सोमलता को प्रणव-जप एवं ध्यानरूप सिल-बट्टों से पीस-पीसकर, श्रद्धा की छन्नी से छान-छानकर अहिंसा, सत्त्वसंशुद्धि, त्याग, आर्जव, समर्पण आदि के कटोरों में भर-भर कर सजा रहा हूँ। शुद्ध भाव से विनति कर रहा हूँ, मिठास-भरी वाणी बोल-बोलकर तुम्हें रिझा रहा हूँ। भाव-भरे गीत गा रहा हूँ। वेद की पवित्र ऋचाओं के स्वर में साम का स्वर मिला रहा हूँ। वीणा के तार झंकृत रहा हूँ। खड़ताल मंजीरे बजा रहा हूँ। तुम्हारा प्रसाद पाने के लिए आतुर हो रहा हूँ। क्या अब भी न रुकोगे? क्या कहते हो? मैं तो 'शचीवान्' हूँ, कर्मशूर हूँ, पुरुषार्थ का प्रेमी हूँ, भक्ति के सोम-रस में शची का (कर्मण्यता का) पुट होने पर ही मेरे प्रेम का प्रसाद तुम पा सकोगे। ठीक है, अपना प्रसाद दो भगवन्! आज से हम पुरुषार्थ और कर्मवीरता का भी व्रत लेते हैं। हम भक्ति के संगीत के साथ-साथ कर्म का बिगुल भी बजायेंगे, उपासना के माधुर्य के साथ वीरता का रस भी मिलायेंगे, भक्तियोग की साधना के साथ कर्मयोग की साधना भी करेंगे। अब तो प्रसन्न हो न? हे इन्द्र! हे सोमपायी! हे 'शचीवः'! तुम्हें प्रणाम है।

---

१. कम्=सुखम्, निघं० १.१२।
२. सु-सुतस्य। षुञ् अभिषवे, स्वादि।
३. यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु। लडर्थे में लुङ् छान्दस रूप (पूजयामि।
४. आ-रभ राभस्ये, भ्वादि, आत्मनेपदी।
५. स्वादु से अतिशयार्थ में इष्ठन्, स्वादिष्ठा।
६. शचीवः कर्मवन्, निरु० ५.११। शची=कर्म, प्रज्ञा, निघं० २.१, ३.९, मतुप्। छन्दसीरः पा० ८.२.१४ से मतुप् के म को व।

६०. मनीषा धेनु का दूध

प्र मे विविक्वाँ अविदन्मनीषां धेनुं चरन्तीं प्रयुतामगोपाम्।
सद्यश्चिद् या दुदुहे भूरि धासेरिन्द्रस्तदग्निः पनितारो अस्याः॥ —ऋ० ३.५७.१

ऋषिः—गाथिनः विश्वामित्रः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**विविक्वान्**[1]) विवेकी प्रभु ने (**मे**) मुझे (**मनीषाम्**) मनीषा (**प्र अविदत्**[2]) प्राप्त करायी है, जो (**धेनुं चरन्तीम्**) उस विचरती हुई गाय के समान है, (**प्रयुताम्**[3]) जो अकेली पड़ गयी हो तथा (**अ-गोपाम्**[4]) जिसका कोई रखवाला न हो और (**सद्यः चित्**) शीघ्र ही (**या**) जो (**भूरि दुदुहे**) बहुत अधिक दूध देती हो। (**इन्द्रः**) राष्ट्राध्यक्ष, (**अग्निः**) प्रधानमन्त्री और (**विश्वेदेवाः**) अन्य सभी विद्वान् लोग (**अस्याः**) इसके (**तत् धासेः**[5]) उस दूध के (**पनितारः**[6]) स्तुतिकर्त्ता या प्रशंसक [होते हैं]।

एक गाय जङ्गल में अकेली विचर रही है, उसके साथ कोई रखवाला भी नहीं है। अकेली और बिन रखवाले के है तो क्या? वह दूध तो झट दे देती है और दूध भी कम नहीं, बहुत देती है। जो चाहे उसका दूध निकाल ले। घास, जो जङ्गल में होती है, उसे चर लेती है, खुले जलाशय का पानी पी लेती है। क्या कहते हो? ऐसी गाय तो हम भी पाना चाहते हैं, खिलाने-पिलाने का खर्च कुछ नहीं और दूध घनेरा। तुम्हें तो पहले ही प्रभु ने ऐसी एक गाय दी हुई है। कौन-सी गाय? विवेकी प्रभु ने तुम्हें मनीषा-रूपिणी गाय दी हुई है। मनीषा का अर्थ है बुद्धि, जो मन की संगिनी है। मन किसी दिशा में विचार करता है, मनीषा विवेक द्वारा उसका समर्थन या खण्डन करती है। विवेकी प्रभु ने विवेक के लिए ही हमें मनीषा दी है। जो मनुष्य इसका सही उपयोग करता है वही मनीषी कहाता है। इस मनीषा-रूपिणी धेनु से जो लाभ प्राप्त होते हैं, वे ही इसका दूध हैं। इस मनीषा के बल से मनुष्य ने प्राचीनकाल में कैसी-कैसी उन्नति की थी और आज भी इसी के बल से मनुष्य भूमि और अन्तरिक्ष का स्वामी कहलाने लगा है। मनीषा के बल से मनुष्य ने यहाँ बैठे हुए ही भूमि से सूर्य की दूरी माप ली है, सूर्य का घनफल, सूर्य का आकार, सूर्य की परिधि, सूर्य के घटक जान लिये हैं। प्रकृति कल किस करवट बैठने वाली है, वर्षा या आँधी आने वाली है, भूकम्प के झटके लगने वाले हैं, सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण होने वाला है, समुद्र में तूफान आने वाला है, यह भविष्यवाणी वह आज कर सकता है। कहाँ भूमि के गर्भ में क्या है, कहाँ सोना है, कहाँ चाँदी है, कहाँ लोहा है, कहाँ कोयला है, कहाँ मिट्टी का तेल है, यह जानकारी भी वह दे सकता है। वह आकाश में कृत्रिम ग्रह छोड़ सकता है। वह मंगल आदि उपग्रहों की सैर कर सकता है। वहाँ के विषय में सब जानकारी दे सकता है। मनीषा के बल से ही मानव आज चिकित्साविज्ञान, खगोलविज्ञान, समुद्रविज्ञान, भूगर्भविज्ञान, विषविज्ञान, मन्त्रविज्ञान आदि अनेक ज्ञान-विज्ञानों में चरम उन्नति कर रहा है। इस मनीषा-रूपिणी गाय ने मनुष्य को कितना दूध दिया है, इसकी कोई सीमा और माप-तोल नहीं है। राष्ट्र में राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, विद्वज्जन सभी इसकी स्तुति करते हैं, सभी इसके प्रशंसक बने हुए हैं तथा इससे अधिकाधिक दूध प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। आओ, हम भी विवेकी प्रभु की दी हुई इस मनीषा गाय का दूध प्राप्त करें।

---

१. विवेकवान्। विचिर पृथग्भावे, क्वसु प्रत्यय।
२. विद्लृ लाभे, णिच्, णिलुक्। अविदत्=अवेदयत्=अलम्भयत।
३. प्र-यु मिश्रणामिश्रणयोः, क्त, टाप्। प्रयुतां पृथग्भूताम्।
४. न विद्यते गोपाः रक्षकः यस्य ताम्।
५. धासि=अन्न, निघं० २.७। दधाति धारयति पुण्णाति च यः स धासिः दुग्धम्। तत्=तस्य।
६. पण व्यवहारे स्तुतौ च, तृच्, पनिता।

६१. दृढ़-बद्ध पाप को चूर-चूर कर दो

रक्षा णो अग्ने तव रक्षणेभी रारक्षाणः सुमख प्रीणानः।
प्रति ष्फुर वि रुज वीड्वंहो जहि रक्षो महि चिद् वावृधानम्॥ —ऋ० ४.३.१४

ऋषिः—वामदेवः गौतमः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**रक्ष**) रक्षित कर (**नः**) हमें (**अग्ने**) हे अग्रणी अन्तरात्मा, (**तव**) तेरे अपने (**रक्षणेभिः**) रक्षा-बलों से। (**रारक्षाणः**[१]) पुनः पुनः अतिशय रक्षा करता हुआ तू (**सुमख**) हे सुयज्ञकर्त्ता, (**प्रीणानः**[२]) तृप्ति प्रदान करने वाला [हो]। (**प्रति स्फुर**[३]) ठोकर मार दे, (**वि रुज**[४]) तोड़-फोड़ दे (**वीडु**) बलवान् (**अंहः**) पाप को। (**जहि**) विनष्ट कर दे (**वावृधानम्**[५]) पुनः पुनः अतिशय बढ़ते हुए (**महि चित्**) बहुत बड़े भी (**रक्षः**) राक्षस को।

हे हमारे जीवात्मा! तुम निर्बल नहीं हो, तुम हो देहपुरी के महान् सम्राट्। जब तुम्हारे उज्ज्वल शासन को न मानकर हम कुराह पर चल पड़ते हैं, तभी हमारी दुर्गति होती है। तब सब जीवधारियों में श्रेष्ठ होते हुए भी हम तुमसे अरक्षित होने के कारण छोटे-छोटे शत्रुओं से भी परास्त होते रहते हैं। अतः हे हमारे अन्तरात्मा! तुम हमारे मन, बुद्धि, प्राणों, ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों को अपने नियन्त्रण में रखते हुए तथा अपनी रक्षाएँ प्रदान करते हुए सदा सन्मार्ग पर ही चलाओ। हे आत्मन्! उपनिषद् के ऋषि की दृष्टि में ''तुम हमारे देह-रथ के रथी हो, रथ-स्वामी हो। बुद्धि तुम्हारा सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ रथ में जुते हुए घोड़े हैं, विषय-भोग चरागाह हैं। जो अनात्मवान् होता है तथा जिसका बुद्धि-रूप सारथि असावधान रहता है, उसकी मन-रूप लगाम ढीली पड़ जाती है। परिणामतः उसके इन्द्रिय-रूप घोड़े बेबस हो जाते हैं''।[६] रथारोही सम्राट् के रूप में तुम बुद्धि, मन आदि को सावधान रखते हुए हम यात्रियों को लक्ष्य पर पहुँचाओ।

हे हमारे अन्तरात्मा! तुम 'सुमख' हो, हमारे जीवन-यज्ञ के श्रेष्ठ सञ्चालक हो। तुम संकटों से हमें बचाओ, जितनी बार संकटों में पड़ें उतनी बार बचाओ, पुनः पुनः बचाओ। संकटों, विपत्तियों, शत्रुओं से हमारा त्राण करके हमें आगे बढ़ाते रहो।

हे हमारे अग्रनेता जीवात्मन्! यदि पाप हमारे मन में गहरी जड़ें जमा चुका है, बद्धमूल हो चुका है, तो भी तुम्हारी एक ठोकर से उसकी सब जड़ें उखड़ सकती हैं। मारो ठोकर, चकनाचूर कर दो बली से बली पाप को। हमारे अन्दर बैठा हुआ राक्षस चाहे कितना ही परिवृद्ध हो चुका हो तथा बढ़ता ही जा रहा हो, तो भी तुम उसे अपने वज्रप्रहार से विध्वस्त कर दो। हे देहपुरी के राजा! पाप और काम-क्रोध आदि राक्षसों को विनष्ट करके अपने राज्य में तुम सात्त्विकता का विस्तार करो। इस देहपुरी को देवपुरी बना दो।

---

१. रक्ष पालने, यङ्लुगन्त, शानच्। अतिशयेन पुनः पुनः रक्षन्।
२. प्रीञ् तर्पणे, क्र्यादि, शानच्।
३. स्फुर स्फुरणे, तुदादि।
४. वि-रुजो भङ्गे, तुदादि।
५. अतिशयेन पुनः पुनः वर्धमानम्। वृधु वृद्धौ, यङ्लुगन्त, शानच्।
६. कठोप० ३.३-५।

६२. जिसका दर्शन अति भद्र और चारु है

भद्रा ते अग्ने स्वनीक संदृग् घोरस्य सतो विषुणस्य चारुः।
न यत्ते शोचिस्तमसा वरन्त न ध्वस्मानस्तन्वी३ रेप आ धुः॥

—ऋ० ४.६.६

ऋषिः—वामदेवः गौतमः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**स्वनीक**[1] **अग्ने**) हे उत्तम ज्वालाओं वाले अग्नि! (**भद्रा**) भद्र [है] (**ते संदृक्**) तेरा संदर्शन। तेरे (**घोरस्य**) घोर और (**विषुणस्य**[2]) विषम (**सतः**) होते हुए भी [वह तेरा संदर्शन] (**चारुः**) रमणीय है, (**यत्**) क्योंकि (**ते शोचिः**) तेरी ज्योति को [कोई भी] (**तमसा**) अन्धकार से (**न वरन्त**[3]) आच्छादित नहीं कर सकते, (**न**) न ही (**ध्वस्मानः**[4]) विध्वंसक लोग (**तन्वि**) [तेरे] शरीर में (**रेपः**[5]) दोष को (**आ धुः**[6]) स्थापित कर सकते हैं।

हे सुन्दर ज्वालाओं वाले अग्नि! तेरा दर्शन करना, तुझे एक-टक निहारना हमें बड़ा ही भद्र लगता है। जब कभी तू घोर और विषम होकर भी ऊँची-ऊँची ज्वालाओं से ऊपर उठता है, तब भी तेरा संदर्शन हमें चारु ही प्रतीत होता है। तू ऐसा अद्भुत है कि घोरता और चारुता का विरोध भी तुझ में जाकर शान्त हो जाता है। तेरा दर्शन भद्र और चारु इसीलिए है, क्योंकि तुझ में यह अपूर्व विशेषता है कि तेरी ज्योति को कोई भी अँधेरे से नहीं ढक सकता। बड़े-बड़े विध्वंसक लोग भी अन्यत्र चाहे कितना ही विध्वंस करते रहें, पर तेरे शरीर में मालिन्य, दोष आदि उत्पन्न नहीं कर सकते। हे अग्नि! हम मुग्ध हैं तेरी भद्रता पर, तेरी चारुता पर, तेरी ज्योतिष्मती ज्वाला पर, तेरी निर्दोषता पर।

यह तो है बाह्य अग्नि की बात। पर हमारे अन्दर भी एक अग्नि सुन्दर ज्वालाओं के साथ प्रदीप्त हो रहा है। वह है आत्मा-रूप अग्नि। उसका तेज मन, बुद्धि, प्राण, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों सब पर पड़ रहा है। सब उसके तेज से भासमान हो रहे हैं। मन में जो संकल्प-विकल्प करने का तेज है, वह आत्माग्नि से ही प्राप्त होता है। बुद्धि में जो अध्यवसाय या निश्चय करने का सामर्थ्य है, वह उसे आत्माग्नि से ही मिलता है। प्राणों में जो अंग-अंग को स्फूर्ति तथा जीवन प्रदान करने का गुण है, उसके लिए वे आत्मा के ही ऋणी हैं। चक्षु, श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों में जो ज्ञान के साधन बनने की विशेषता है, वह उन्हें आत्माग्नि से ही धरोहर में मिली है। कर्मेन्द्रियाँ जो कर्म का साधन बनती हैं, वह आत्मा की ही चुम्बकीय शक्ति से बनती हैं। आत्माग्नि जब दुःसंकल्प, अनार्य आचरण, पाप, हिंसा, असत्य आदि के प्रति विकराल और विषम रूप धारण करती है, तब उसकी यह विकरालता और विषमता भी मनोमोहिनी लगती है। आत्माग्नि की ज्योति जब प्रबलता के साथ प्रज्वलित होती है, तब काम, क्रोध, लोभ आदि कोई भी रिपु उसे तामसिकता से आच्छादित नहीं कर सकते।

हे मेरे आत्माग्नि! तुम सदा अपनी ज्योति से जगमगाते रहो।

---

१. शोभनानि अनीकानि ज्वालासैन्यानि यस्य तादृश। 'अनीकं तु रणे सैन्ये' इति कोषः।
२. विषुणः=विषमः, निरु० ४.१९।
३. न वरन्त न वारयन्ति। वृञ् वरणे, स्वादिः, व्यत्यय से श्नु के स्थान पर शप्। लडर्थ में लङ्, अडाभाव।
४. ध्वंसु अवस्रंसने गतौ च, भ्वादि, मनिन् प्रत्यय। ध्वस्मा, ध्वस्मानौ, ध्वस्मानः। विध्वंसकाः।
५. रप व्यक्तायां वाचि, भ्वादिः। रप्यते निन्द्यत्वेन उच्यते इति रेपः दोषो मलं वा। 'रपेरत एच्च' उ० ४.१९१ से असुन् तथा धातु के अ को ए।
६. डुधाञ्=धा धारणपोषणयोः, लडर्थ में लुङ् अडागम का अभाव। धुः=अधुः=दधति।

६३. तीनों आश्रमों का कर्त्तव्य अग्निहोत्र

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे॥ —ऋ० ४.७.१

ऋषिः—वामदेवः गौतमः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—जगती॥

(**अयं प्रथमः**) यह श्रेष्ठ [यज्ञाग्नि] (**इह**) यहाँ, [ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम में] (**धातृभिः**) अग्न्याधान करनेवाले [ब्रह्मचारियों एवं यजमानों से] (**धायि**[1]) आधान किया गया है, जो (**होता**) [आहुति को] ग्रहण एवं भक्षण करनेवाला तथा [सुगन्ध, आरोग्य आदि को] देनेवाला, (**यजिष्ठः**) यज्ञ में साधकतम तथा (**अध्वरेषु**[2]) यज्ञों में (**ईड्यः**[3]) सत्करणीय है, और (**यम्**) जिस (**चित्रम्**) चित्र-विचित्र ज्वालाओंवाले (**विभ्वम्**) व्यापक [अग्नि] को (**अप्नवानः**[4]) कर्मसेवी (**भृगवः**[5]) तपस्वी वानप्रस्थ लोग भी (**विशे-विशे**) प्रत्येक प्रजा के हित के लिए (**वनेषु**) वनों में (**विरुरुचुः**[6]) प्रज्वलित किया करते हैं।

अग्निहोत्र ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ तीनों आश्रमों का सायं-प्रातः दोनों समय का कर्त्तव्य कर्म है। "जो सन्ध्या-सन्ध्याकाल में होम होता है, वह हुतद्रव्य प्रातःकाल तक वायुशुद्धि द्वारा सुखकारी होता है। जो अग्नि में प्रातः-प्रातःकाल में होम किया जाता है वह-वह हुतद्रव्य सायंकाल-पर्यन्त वायु के शुद्धि द्वारा बल, बुद्धि और आरोग्य का कारक होता है। इसलिए दिन और रात्रि की सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और अस्त समय में अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए।"[7] यह यज्ञाग्नि 'होता' है। 'हु' धातु के देना, लेना और भक्षण करना तीन अर्थ होते हैं। तदनुसार 'होता' का यह आशय है कि अग्नि सुगन्धित कस्तूरी, केसर, अगर, तगर, श्वेतचन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि, पुष्टिकारक घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूँ, उड़द आदि, मिष्ट शक्कर, शहद, छुवारे, दाख आदि तथा रोगनाशक सोमलता आदि हुतद्रव्यों को ग्रहण एवं भक्षण करने वाला और सुगन्ध फैलाकर आरोग्यादि का दान करने वाला है। वह यज्ञाग्नि 'यजिष्ठ' है, अर्थात् सबसे अधिक यज्ञ का साधक है, यतः यज्ञ का अन्य सब सामान उपस्थित होने पर भी अग्नि के बिना यज्ञ प्रवृत्त नहीं हो सकता। अग्नि यज्ञों में अतिथि के समान सत्करणीय भी है। उसका सत्कार हुत द्रव्यों से ही होता है। वह अग्नि 'चित्र' अर्थात् चित्र-विचित्र ज्वालाओं वाला भी है, जो ऊपर उठती हुई ज्वालाएँ याज्ञिक जनों को ऊर्ध्वयात्रा का सन्देश देती हैं। अग्नि विभु अर्थात् व्यापक भी है, क्योंकि अग्नितत्त्व सर्वत्र विद्यमान है।

अग्नि को जैसे ब्रह्मचारी और गृहस्थ प्रज्वलित करते हैं, वैसे ही वनों में वानप्रस्थाश्रमी भी करते हैं, जो 'अप्नवानः' अर्थात् कर्मसेवी और 'भृगु' अर्थात् तपस्वी होते हैं।

इस अग्निहोत्र से न केवल यज्ञकर्त्ता को लाभ पहुँचता है, किन्तु प्रजा-प्रजा लाभान्वित होती है, क्योंकि यह वायु एवं वृष्टिजल की शुद्धि करके संसार को आरोग्य और सुख प्राप्त कराता है। संन्यासी अपने अन्दर अग्नियों का समारोप कर लेता है, अतः उसके लिए अग्निहोत्र अनिवार्य नहीं होता।

आओ, हम भी अग्नि प्रज्वलित कर होम द्वारा अनेकानेक आन्तरिक तथा बाह्य लाभ प्राप्त करें।

---

१. डुधाञ्=धा धारणपोषणयोः। कर्मणि लुङि अधायि, अडागमाभावः।
२. अध्वर=यज्ञ, निघं० ३.१७। अध्वर इति यज्ञनाम, ध्वरति हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः, निरु० १.७।
३. ईड स्तुतौ, अदादिः चुरादिश्च। ईडिः अध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा, निरु० ७.१५। ईडते=याचन्ति स्तुवन्ति वर्धयन्ति पूजयन्तीति वा, निरु० ८.१। ईडितुं योग्यः ईड्यः, ण्यत्।
४. अप्नः=कर्म, निघं० २.१। अप्नः करोतीत्यर्थे 'तत्करोति तदाचष्टे' पा० ३.१.२६ इति णिच्, ततो धातुसंज्ञायाम् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' पा० ३.२.७५ इति वनिप्। ततो 'अप्नवन्' शब्दात् अप्नवा, अप्नवानौ, अप्नवानः इति रूपाणि।
५. भृज्जन्ति तपसा शरीरं ये ते भृगवः। भ्रस्ज पाके 'प्रथिम्रदिभ्रस्जां संप्रसारणं सलोपश्च' उ० १.२८ से उण् प्रत्यय, र् को ऋ संप्रसारण, धातु के स् का लोप।
६. रुच दीप्तौ अभिप्रीतौ च, णिगर्भः। लिट्। विरोचयन्ति।
७. स० प्र०, समु० ४, देवयज्ञप्रकरण, यु० मी० संस्करण पृ० १६१।

६४. व्यापार में वचन का महत्त्व

भूयसा वस्नमचरत् कनीयोऽविक्रीतो अकानिषं पुनर्यन्।
स भूयसा कनीयो नारिरेचीद् दीना दक्षा वि दुहन्ति प्र वाणम्॥ —ऋ० ४.२४.९

ऋषिः—वामदेवः गौतमः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

किसी विक्रेता ने (**भूयसा**) अधिक मूल्यवाली वस्तु के बदले (**कनीयः वस्नम्**) कम मूल्य (**अचरत्**) लिया। (**अविक्रीतः**) मैंने माल तुम्हें बेचा नहीं था, अतः (**अकानिषम्**[1]) मैं अपना माल वापिस लेना चाहता हूँ, ऐसा वह (**पुनःयन्**) फिर उसके पास जाकर [कहने लगा]। इस स्थिति में (**सः**) वह विक्रेता (**भूयसा**) अपने अधिक मूल्यवाले माल के बदले (**कनीयः**) ग्राहक के पास से प्राप्त कम मूल्य से (**न अरिरेचीत्**[2]) अधिक प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि (**दीनाः दक्षाः**) अचतुर-चतुर, दुर्बल-बलवान्, गरीब-अमीर [सभी] (**वाणम्**[3]) वचन की (**विप्रदुहन्ति**) दुहाई देते हैं।

एक ग्राहक किसी गायों के विक्रेता के पास गाय खरीदने पहुँचता है। एक अच्छी नस्ल की गाय उसे पसन्द आ जाती है। विक्रेता ने उसका मूल्य दस हजार रुपये बताया है। ग्राहक को गाय भी जँचती है और मूल्य भी जँचता है। पर इतनी राशि वह लगाना नहीं चाहता, अतः वापिस लौटने लगता है। इधर विक्रेता को रुपयों की विशेष आवश्यकता है, अतः विवशता में वह छह हजार में ही देने को तैयार हो जाता है। ग्राहक मूल्य चुकाकर गाय लेकर अपने घर आ जाता है। कुछ दिन में विक्रेता के और भी पशु बिक जाते हैं तथा उसके पास धन पर्याप्त आ जाता है। तब वह पुराने ग्राहक के पास पहुँचता है और कहता है कि या तो शेष चार हजार की राशि दे दो या मेरी गाय लौटा दो। मामला पंचों के पास जाता है। पंच लोग उन दोनों के तथा गवाहों के बयान सुनकर निर्णय देते हैं कि गाय तुमने सचमुच छह हजार में बेच दी थी, इसलिए न तुम गाय वापिस लेने के अधिकारी हो, न ही अतिरिक्त चार हजार रुपये पाने के। वेद कहता है कि व्यापार में वचन का बहुत महत्त्व होता है।

कुछ दिन बाद किसी दूसरी गाय का एक अन्य ग्राहक उसी व्यापारी के पास आता है। व्यापारी कहता है कि यह गाय अभी ब्याही है, अभी इसके दस हजार देने वाले मेरे पास कई आ चुके हैं। पर मैं तो बीस दिन बाद बेचूँगा, जब तुम अपने हाथ से इसका तीन थनों का बीस सेर दूध निकाल लोगे। तब यह पन्द्रह हजार की बिकेगी। ग्राहक को गाय भा जाती है और उसी समय पन्द्रह हजार देने को तैयार हो जाता है। व्यापारी सावधान कर देता है कि तुम्हारे यहाँ बीस सेर दूध न दे, तो मुझे दोष मत देना, जैसी सेवा करोगे वैसा दूध पाओगे। ग्राहक सन्तुष्ट होकर गाय ले जाता है। उसके यहाँ कुछ दिन बाद गाय को कोई बीमारी हो जाती है और उसका दूध बहुत कम हो जाता है। अब ग्राहक सोचे कि गाय लौटा दूँ या व्यापारी से पाँच हजार रुपये वापिस पा लूँ, तो उसका यह सोचना उचित नहीं है। यहाँ भी वेद का यही कहना है कि व्यापार में वचन बड़ी वस्तु है। पर व्यापार में वचन का महत्त्व होते हुए भी धोखा-धड़ी वेद-सम्मत नहीं है।

इन्द्र प्रभु सबसे बड़े व्यापारी हैं। राजा या वाणिज्य-सचिव भी इन्द्र कहलाते हैं। उनका यह आदेश है कि व्यापार में वचन का महत्त्व समझो।

---

१. कनी दीप्तिकान्तिगतिषु, भ्वादि। कनति कान्तिकर्मा, निघं० २.६। लुङ्।
२. रिचिर विरेचने, रुधादि। णिच्, लुङ्।
३. वाण=वाणी, निघं० १.११। वण शब्दे, भ्वादि।

६५. वस्त्र हर लेने वाला चोर

उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु।
नीचायमानं जसुरिं न श्येनं श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्॥ —ऋ० ४.३८.५

ऋषिः—वामदेवः गौतमः॥ देवता—दधिक्राः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**उत स्म**) और (**वस्त्रमथिं**[1] **तायुं न वस्त्रमथिम्**) वस्त्रापहारक चोर के समान प्रजाओं को वस्त्रों से नंगा कर देने वाले, (**जसुरिं**[2] **न श्येनम्**) छूटे हुए बाज पक्षी के समान (**नीचा अयमानम्**[3]) नीचे झपट्टा मारने वाले (**एनम्**) इस 'दधिक्रा'[4] को अर्थात् राज्यभारधारी होकर उद्यम करने वाले राजा को (**भरेषु**[5]) युद्धों के उपस्थित होने पर (**क्षितयः**[6]) प्रजाएँ (**अनुक्रोशन्ति**) कोसती हैं। (**श्रवः**[7] **च अच्छ**) इसकी कीर्ति को लक्षित करके (**पशुमत् च यूथम्**) और पशुओं के समूह को लक्षित करके [कोसती हैं]।

युद्ध कब हो और कब न हो, इसकी भी कुछ मर्यादा है। शत्रु यदि आसुरी प्रवृत्तिवाला है, साम-दान-भेद उपायों से नहीं माननेवाला है, सार्वजनिक रूप से अहित करनेवाला है, संसार में अशान्ति फैलानेवाला है, तभी युद्ध के उपाय का अवलम्बन उचित होता है। देव-वृत्ति के राजा को असुर-वृत्ति के शत्रु से अन्य उपायों के विफल होने पर युद्ध की घोषणा करने का अधिकार वेद देता है और आदेश करता है कि अपनी देवसेनाओं को लेकर शत्रु की आसुरी सेनाओं पर टूट पड़ो। पर यदि कोई राजा या प्रधानमन्त्री अपनी शक्ति के मद में आकर किसी देव राज्य पर अनावश्यक रूप से आक्रमण कर बैठता है, तो उसका परिणाम बर्बादी के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। जिससे युद्ध ठनता है वह देव-राज्य युद्ध की पहल करने वाले असुर राजा को पूरा सबक सिखाकर ही छोड़ता है। दोनों पक्षों के सैनिक बन्दूकों से, तोप के गोलों से, हवाई बमों से एक-दूसरे को भून डालने में प्रवृत्त हो जाते हैं, जिसमें, युद्ध की पहल करने वाले राज्य का ही विनाश होता है। उसकी भूमि छिन जाती है, उसके योद्धा मारे जाते हैं, उसकी युद्ध-सामग्री शत्रु के कब्जे में चली जाती है, उसकी प्रजा के निर्दोष शिशु, युवक, वृद्ध नर-नारी विनाश के शिकार होते हैं और उसे भीषण पराजय का सामना करना पड़ता है। उसकी प्रजा उसे धिक्कारती है—तूने शान्त बैठे हुए हमें अशान्ति की आग में झोंक दिया, तूने हमारी सम्पदा लूट ली, तूने हमारा सुख छीन लिया। तूने व्यर्थ ही शान्ति के इच्छुक पड़ोसी देश से रण क्यों ठाना? तूने राष्ट्र को युद्ध की लपटों में क्यों झोंका?

प्रजा उसे कहती है—तू वस्त्रापहर्त्ता चोर के समान हमारे शरीर से वस्त्र उतारनेवाला है, तू बाज के समान झपट्टा मार कर प्रजा से उसकी सुख-सम्पत्ति छीनने वाला है। प्रजा उसे कोसती है—लानत है तेरी कीर्ति पर, लानत है तेरी धन-दौलत पर, लानत है तेरी गोशालाओं, घुड़सालों और हस्तिशालाओं पर। तूने हमें विनाश के कगार पर खड़ा कर दिया, तूने हमें बर्बाद कर दिया, तूने देश के उज्ज्वल इतिहास पर पानी फेर दिया।

हे राष्ट्रों के कर्णधारो! युद्ध के स्वप्न मत देखो, विश्व-शान्ति के समर्थक बनो।

---

१. वस्त्रमथिं वस्त्रमाथिनम्। निरु० ४.२४। मथि हिंसाक्लेशनयोः, भ्वादिः, यद्वा मथे विलोडने, भ्वादिः। वस्त्राणि मन्थति मथति अपहरति यः तम्। छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् पा० ३.२.२७ से इन् प्रत्यय।
२. जसु मोक्षणे, उरिन् प्रत्यय। जसुरिं जस्तं (मुक्त), निरु० ४.२३।
३. नीचा नीचैः अयमानं गच्छन्तम्, अय गतौ, भ्वादिः, शानच्।
४. दधिः राज्यभारधारणकर्ता सन् क्रामतीति दधिक्राः।
दधिक्रा इत्येतद् दधत् क्रामतीति वा, दधत् क्रन्दतीति वा, दधदाकारी भवतीति वा। निरु० २.२८।
५. भर इति संग्रामनाम, भरतेर्वा हरतेर्वा, निरु० ४.२३।
६. क्षितयः=मनुष्याः, निघं० २.३।
७. श्रवः श्रवणीयं यशः, निरु० ११.७।

६६. हमें सदा के लिए निरपराध कर दो

अचित्ती यच्चकृमा दैव्ये जने दीनैर्दक्षैः प्रभूती पूरुषत्वता।
देवेषु च सवितर्मानुषेषु च त्वं नो अत्र सुवतादनागसः॥

—ऋ० ४.५४.३

ऋषिः—वामदेवः गौतमः॥ देवता—सविता॥ छन्दः—जगती॥

(**अचित्ती**[१]) अज्ञान या असावधानी के कारण, (**दीनैः दक्षैः**[२]) अल्प बलों के कारण, (**प्रभूती**[३]) ऐश्वर्य-मद के कारण (**पूरुषत्वता**) पौरुष-मद के कारण (**दैव्ये**[४] **जने**) राष्ट्र-रूप देव के हितकर्त्ता राज्याधिकारी जनों के प्रति, (**देवेषु**) विद्वानों के प्रति (**मानुषेषु च**) और सामान्य मनुष्यों के प्रति (**यत्**) जो [अपराध] (**चकृम**[५]) हम करते हैं, उससे (**सवितः**) हे प्रेरक सविता प्रभु! (**त्वम्**) आप (**नः**) हमें (**अत्र**) यहाँ (**अनागसः**) निरपराध (**सुवतात्**[६]) कर दो।

हमसे समय-समय पर जाने-अनजाने अपराध होते रहते हैं। कभी हम अज्ञान या असावधानी के कारण अपराध करते हैं। एक देहाती सवारी रेलगाड़ी का टिकट लेकर डाकगाड़ी में बैठ जाता है। उसे यह ज्ञात नहीं है कि उस टिकट से डाकगाड़ी में यात्रा नहीं की जा सकती। पर अपराध तो उससे हो ही गया, जिसके बदले उसे जुर्माना भरना पड़ता है। एक यात्री देहरादून से हावड़ा ऐक्सप्रेस में बरेली का टिकट लेकर बैठता है। पर बरेली में उसकी आँख नहीं खुलती। वह लखनऊ पहुँच जाता है। जुर्माना तो उसे भी देना ही पड़ता है। ये असावधानताजन्य अपराध हैं। कभी हम अल्प बल के कारण अपराध करते हैं। एक गरीब बीमार बूढ़ा सिर पर बोझा उठाये रेलवे स्टेशन की ओर जा रहा है। मेरे सामने ही वह दो-बार लड़खड़ा कर गिर भी चुका है। वह मुझसे अनुनय करता है—बेटा, स्टेशन दो कदम रह गया है, मेरा सामान पहुँचवा दो, नहीं तो मेरी गाड़ी छूट जायेगी। निर्बल होने के कारण मैं उसकी सहायता नहीं कर पाता। इस अपराध में सूझ-बूझ का अभाव भी कारण है। मेरे सामने ही एक दूसरा व्यक्ति उसका सामान रिक्षा पर रखवाता है और स्वयं उस बूढ़े के साथ जाकर टिकट लिवाकर उसे सकुशल गाड़ी पर बैठा आता है और बूढ़े के आशीर्वाद का पात्र बनता है। मैं देखता ही रह जाता हूँ। धनकुबेर के दरबाजे पर बुढ़िया पड़ी हुई है, प्यास से उसकी जीभ बाहर निकल रही है। धनपति कहते हैं—मरने दो, इसे भगवान् ने मरने के लिए ही गरीब बनाया है। यह ऐश्वर्यमद का अपराध है। दो पहलवान एक दीन की कुटिया पर पहुँचते हैं, उसकी झोपड़ी गिरा देते हैं, कहते हैं—कहीं दूसरी जगह अपना छप्पर छालो, यहाँ अखाड़ा बनेगा। यह पौरुषमद है।

जब हम राजनियमों का उल्लङ्घन करते हैं, तब राज्याधिकारियों के प्रति अपराध करते हैं। जब किसी विद्वान् का यथोचित सम्मान नहीं करते या उसके सत्परामर्श की उपेक्षा करते हैं, तब विद्वान् के प्रति अपराध करते हैं। जब सामान्य मनुष्यों को पीड़ित करते हैं, तब उनके प्रति अपराध करते हैं। हे शुभ प्रेरणा करने वाले सविता प्रभु! इन सब अपराधों से तुम हमें छुड़ाकर हमारे जीवन को सदा के लिए निष्पाप कर दो।

---

१. अचित्ती अचित्त्या अविद्यया असावधानतया वा। चिती संज्ञाने भ्वादिः, स्त्रियां क्तिन्। अचित्ति आ (तृतीया एकवचन), पूर्वसवर्णदीर्घ।
२. दक्ष=बल, निघं० २.९।
३. प्रभूती प्रभूत्या ऐश्वर्यमदेन —सायण।
४. देवाय साधुः दैव्यः, यञ् प्रत्यय।
५. चकृमा=चकृम। संहिता में दीर्घ छान्दस।
६. षू प्रेरणे, तुदादिः, लोट्।

६७. हे क्षेत्रपति! हे किसान!

क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु॥

—ऋ० ४.५७.२

ऋषिः–वामदेवः गौतमः॥ देवता–क्षेत्रपतिः॥ छन्दः–त्रिष्टुप्॥

(**क्षेत्रस्य पते**) हे खेत के स्वामी! (**मधुमन्तम्**) मधुभरी (**ऊर्मिम्**) लहर (**अस्मासु**) हमें (**धुक्ष्व**[1]) प्रदान कर, (**धेनुः**) गाय (**इव**) जैसे (**पयः**) दूध [प्रदान करती है]। वह लहर (**मधुश्चुतम्**[2]) मधुस्रावी और (**घृतम् इव**) तपाये हुए घी अथवा वृष्टिजल[3] के समान (**सुपूतम्**) सुपवित्र हो। (**ऋतस्य पतयः**) सत्य के अधिपति (**नः**) हमें (**मृडयन्तु**[4]) सुखी करें।

खेत का स्वामी कोई अन्य हो और खेती किसान करे तो किसान को अपने परिश्रम का पूरा लाभ नहीं मिल पाता, लाभ का अधिकांश भाग भूमिपति के पास चला जाता है। अतः हम तो खेत का स्वामित्व किसान को ही देते हैं। वही क्षेत्रपति है। हे किसान! तुम खेत में प्रचुर अन्न उपजाओ। धान, यव, उड़द, तिल, मूंग, चने, बासमती चावल, किनकी चावल, साठी चावल, साँवक चावल, गेहूँ, मसूर, मटर, सोयाबीन आदि अन्न उगाओ; लौकी, गोभी, भिण्डी, टमाटर, मेथी, पालक, मूली आदि तरह-तरह की शाक-सब्जियाँ पैदा करो; घनी मात्रा में उत्पन्न करो। परीक्षणों द्वारा इनकी अच्छी से अच्छी किस्म उगाओ। बाग-बगीचों में उत्तमोत्तम जाति के सेब, सन्तरे, अनार, अमरूद, अनन्नास आदि रसीले फल उपजाओ। ये अन्न, शाक और फल इतनी अधिक मात्रा में पैदा करो कि खेतों से बाजारों की ओर इनकी लहर चल पड़े। पर ध्यान रखो कि लहर रूप में बाजारों में बिकने आती हुई ये वस्तुएँ मधुर भी हों और मधुस्रावी अर्थात् खाने पर अच्छा परिणाम देने वाली भी। ये वस्तुएँ तपे हुए घी या वर्षाजल के समान शुद्ध-पवित्र हों, हानिकारक खादों के प्रयोग से या कृमि आदि से दूषित न हों। जैसे दुधारु गाय विशुद्ध आरोग्यकारी, बलवर्धक दूध की बाल्टियाँ भर देती है, वैसे ही तुम्हारी भूमि-रूप कामधेनु अपनी स्वास्थ्यवर्धक एवं आयुष्यवर्धक उपज से कोठे और खलिहान भरदे। हे सत्य के अधिपति किसानो! तुम अपने खेती के व्यवसाय से सच्चे वैश्य धर्म का पालन करो, तुम हमें सुखी करो।

यह है बाह्य किसान की कथा। अध्यात्म में हमारे शरीर-रूप क्षेत्र का पति परमात्मा है। वह भोक्ता आत्मा में दिव्य आनन्द की मधुर तरंगे छोड़ता रहता है, जो मधुस्रावी तथा तपे हुए घृत एवं वृष्टिजल के समान पवित्र होती हैं। हे मेरे क्षेत्रपति परमेश! जैसे धेनु प्रचुर दूध की धारें प्रदान करती हैं, वैसे ही तुम आनन्द-रस की धाराएँ मेरे अन्तरात्मा में प्रवाहित करते रहो, जिससे मेरे मन, बुद्धि, प्राण आदि सब देव सत्य के अधिपति बनकर मुझे सदा सुखी करते रहें।

---

१. दुह प्रपूरणे, अदादि, लोट्।
२. मधु श्च्योतति इति मधुश्चुत्। श्चुतिर क्षरणे, भ्वादि।
३. घृत-जल, निघं० १.१२।
४. मृड सुखने, तुदादिः, मृडति। वेद में चुरादि भी प्रयुक्त है। मृडयतिः उपदयाकर्मा पूजाकर्मा वा, निरु० १०.१५।

६८. मर्त्यों की पुकार

आ यस्ते॑ स॒र्पिरासुतेऽग्ने॒ शम॒स्ति धाय॑से।
ऐषु॑ द्यु॒म्नमु॒त श्रव॒ आ चि॒त्तं मर्त्ये॑षु धाः॥

—ऋ० ५.७.९

ऋषिः–इषः आत्रेयः॥ **देवता**–अग्निः॥ **छन्दः**–अनुष्टुप्॥

(यः ते) जो तेरा, **(सर्पिरासुते[1] अग्ने)** हे सर्पिरासुति अग्नि! **(शम् अस्ति)** सुख है **(धायसे[2])** पीने के लिए, [उसे] **(आ)** प्रदान कर। **(एषु मर्त्येषु)** इन मर्त्यों में, मरणधर्मा मनुष्यों में **(द्युम्नम्[3])** तेज **(उत)** और **(श्रवः)** यश **(आ)** प्रदान कर और **(चित्तम्)** चैतन्य एवं ज्ञान **(आ धाः[4])** प्रदान कर।

अग्नि 'सर्पिरासुति' है, घृत से सींचा जाने वाला है, ज्वाला-रूप जिह्वाओं से घृत का पान करने वाला है। जब थोड़ी-थोड़ी देर बाद यज्ञ में स्वाहाकारपूर्वक स्रुवा से अग्नि में घृत की आहुति दी जाती है, तब वह ज्वालाओं को हिलाता हुआ मानो अपनी प्रसन्नता व्यक्त करता है। हम अग्नि में होतव्य द्रव्यों की आहुति देते हैं, वह उसके बदले में हमें 'शम्' देता है, शान्ति, सुख और आरोग्य देता है। अग्नि द्युतिमान् एवं यशस्वी है, वह मर्त्य यजमानों को भी द्युति एवं यश प्रदान करता है। वह चित्तिमान् या जागृतिमान् है, यजमानों को भी चित्ति या जागृति देता है।

अग्नि परमेश्वर का भी नाम है, यतः वह अग्रनेता है तथा आग के समान प्रकाशमय तथा प्रकाशक है। हे परम कारुणिक परमेश! तुम 'सर्पिरासुति' हो, दुःख से कातर हृदयों पर स्नेह का मरहम लगाने वाले हो। हमारे घावों पर भी स्नेह का मरहम लगाओ। तुम्हारे पास 'शम्' है, दिव्य सुख है, शान्ति है। उस दिव्य सुख-शान्ति का हमें भी पान कराओ। तुम दिव्य तेज के धनी हो। ये अग्नि, विद्युत्, सूर्य तेज के लिए तुम्हारे ही ऋणी हैं। बड़े-बड़े सन्त, महात्मा लोग दिव्य तेज का वरदान तुम्हीं से पाते हैं। हमें भी दिव्य तेज की प्राप्ति कराओ। हमारे आत्मा को ऐसा तेजस्वी बना दो कि तामसिकता का अन्धकार उसके पास फटकने भी न पावे। तुम यशोमय हो, यह मन्द-मन्द बहता हुआ पुष्पों से सुरभित पवन तुम्हारे ही यश का गान गा रहा है। ये कल-कल बहती हुई सरिताएँ तुम्हारी ही कीर्ति को गुँजा रही हैं। हमें भी यशस्वी बना दो। तुम चेतना के पुञ्ज हो, ज्ञानी हो, जागरूक हो, हमें भी चेतना, ज्ञान एवं जागरूकता प्रदान कर दो।

हे प्रभु! तुम देव हो, हम मर्त्य हैं। तुम अमर हो, हम मरणधर्मा हैं। तुम निर्दोष हो, हम अनेक दोषों से कलुषित हैं। तुम प्रकाशमय हो, हम तमोग्रस्त हैं। तुम वैभवसंपन्न हो, हम वैभवहीन हैं। तुम बलवान् हो, हम दुर्बल हैं। तुम हमें भी सर्वांगसुन्दर कर दो। हे देव! हम तुम्हें बारम्बार प्रणाम करते हैं।

---

१. सर्पिः घृतम् आसूयते आसिच्यते यस्मिन् स सर्पिरासुतिः। यद्वा सर्पिः स्नेहम् आसुनोति आसिञ्चति यः।
२. धेट् पाने, तुमर्थ में असे प्रत्यय, पातुम्।
३. द्युम्नं द्योततेः, द्युत दीप्तौ। न प्रत्यय, धातु के त् को म्।
४. धाः=अधाः, डुधाञ् धारणपोषणयोः, लुङ्, अडागम का अभाव।

६९. मित्र प्रभु से याचना

तवाहमग्न ऊतिभिर्मित्रस्य च प्रशस्तिभिः। द्वेषोयुतो न दुरिता तुर्याम मर्त्यानाम्॥

—ऋ० ५.९.६

ऋषिः—गयः आत्रेयः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥

(तव) तेरी **(अहम्)** मैं **(अग्ने)** हे तेजस्वी प्रभु! **(ऊतिभिः)** रक्षाओं से **(मित्रस्य च)** और [तुझ] मित्र की **(प्रशस्तिभिः)** प्रशस्तियों से [युक्त रहूँ]। [हम सभी तेरी रक्षाओं और प्रशतियों को पाकर] **(द्वेषोयुतः न)** द्वेषयुक्त शत्रुओं को जैसे [हम विध्वस्त करें वैसे ही] **(मर्त्यानां दुरिता[२])** मर्त्यों के दुरितों को **(तुर्याम[३])** विध्वस्त कर दें।

मनुष्य चारों ओर संकटों से घिरा हुआ है। प्राकृतिक विपदाएँ ही इतनी अधिक हैं कि मानो उसे निगलने के लिए तैयार खड़ी हैं। कभी अतिवृष्टि है, कभी अनावृष्टि है, कभी नदियों की बाढ़ है, कभी भूकम्प है, कभी ज्वालामुखी का प्रकोप है, कभी भीषण आग की तबाही है। हिंसक जन्तु भी हमें अपना ग्रास बनाने को उद्यत रहते हैं। कहीं सिंह, व्याघ्र, चीते, रीछ आदि का भय है, कहीं साँप-बिच्छू आदि का त्रास है, कहीं मगरमच्छ आदि जलजन्तुओं का उपद्रव है, कहीं विषैले कीटों से होने वाला संहार है। मानवी शत्रुओं के हिंसा-उपद्रव, मार-काट आदि भी कम नहीं हैं। इनसे बचने के लिए किया गया पुरुषार्थ तो काम आता ही है, परन्तु साथ ही प्रभु की अपार कृपा और रक्षा भी विपदा से उद्धार के लिए परम आवश्यक होती है। अतः हे अशरणशरण प्रभु! तुम अपनी रक्षा का वरद हस्त मुझ पर तथा सभी अन्य जनों पर सदा रखे रहो।

हे अग्निदेव! हे अग्रनायक! हे तेजों के निधि! हे प्रकाशक! तुम सबके मित्र हो, परम सखा हो। अनेक सुप्रशस्तिओं के धनी तुम्हें सखा पाकर हम गौरव अनुभव करते हैं। पर तुम्हारा सखा होने के लाभ हम तभी उठा सकते हैं, जब तुम्हारी जैसी प्रशस्तियों से हम भी समन्वित हो जाएँ। तुम शक्तिशाली हो, हम भी शक्तिशाली बन जाएँ। तुम न्यायकारी, निर्विकार, परोपकारक, निर्बलों के रक्षक, दुरितध्वंसक, सद्गुणप्रचारक, दुःखविनाशक, सर्वानन्दप्रद, परमैश्वर्यदायक, साम्राज्यप्रसारक, अधर्मोद्धारक, पतितपावन, सदुपदेशक, दीनदयाकर, दारिद्र्यविनाशक, निर्वैरविधायक, सुनीतिवर्धक, शत्रुसंहारक, दुर्गुणनाशक हो। हे मित्र! तुम हमें भी इन प्रशस्तियों से युक्त कर दो।

हमें अनेक द्वेषी भयङ्कर शत्रुजन अपने द्वेष का निशाना बनाते हैं, वे हमारा अस्तित्व समाप्त करना चाहते हैं। भगवन्! हमें शक्ति दो कि हम उनसे लोहा ले सकें। कई बार हमारे साथी मनुष्य भी हमें दुरितों में लिप्त करना चाहते हैं। हमें कुमार्ग पर ले जाने के लिए हमारे सम्मुख अनेक प्रलोभन उपस्थित करते हैं। हे सखा जगदीश्वर! तुम हमें उनकी दुरित की कुचालों से बचाओ। हमें बल दो कि हम कभी पाप के पथ पर न चलें। हमें अपनी पवित्र रक्षाओं एवं प्रशस्तियों का वरदान देकर कृतार्थ कर दो।

---

१. द्वेषांसि द्वेषान् युवन्ति मिश्रयन्ति ये ते द्वेषोयुतः, तान्। द्वेषस्-यु मिश्रणे अमिश्रणे च, क्विप्, तुक्।

२. दुरिता=दुरितानि। शिलोप।

३. तूरी गतित्वरणहिंसनयोः, दिवादिः, लिङ्। ह्रस्व तथा परस्मैपद छान्दस।

७०. वह हमें विपदाओं की भट्ठी में झोंके

तं नो॑ अग्ने अ॒भी नरो॑ र॒यिं स॑हस्व॒ आ भ॑र।
स क्षे॑पय॒त् स पो॑षय॒द् भुव॒द् वाज॑स्य सा॒तय॑ उ॒तैधि॑ पृ॒त्सु नो॑ वृ॒धे॥

—ऋ० ५.९.७

ऋषिः—गयः आत्रेयः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—पङ्क्तिः॥

(सहस्वः अग्ने) हे बलवान् तेजस्वी प्रभु! **(नरः)** नेतृत्व करने वाले आप **(नः अभि)** हमारे प्रति **(तं रयिम्)** उस प्रसिद्ध धन को **(आ भर)** लाओ। **(सः)** वह अग्नि प्रभु **(क्षेपयत्[१])** हमें आपदा में फेंके, **(सः)** वह अग्नि प्रभु **(पोषयत्[२])** हमें पुष्टि दे और **(भुवत्[३])** होवे **(वाजस्य सातये[४])** बल के प्रदानार्थ। **(उत)** और, हे प्रभु! आप **(एधि)** होवो **(पृत्सु[५])** संग्रामों में **(नः वृधे)** हमारी वृद्धि के लिए।

जो बलवान् होता है वही जन-साधारण का नेतृत्व कर सकता है और वही उन्हें सम्पदा भी प्राप्त करा सकता है। बल से शारीरिक बल और मनोबल दोनों अभिप्रेत हैं। परम प्रभु महाबली हैं, अतएव हम सबके नेता भी हैं और जिन्हें धन की आवश्यकता है उन्हें धन प्रदान करने में भी समर्थ हैं। धन की सभी याचना करते हैं और धन पाने के लिए पुरुषार्थ भी करते हैं। धन-समृद्धि वैदिक दृष्टि से त्याज्य नहीं है, प्रत्युत स्वागत के योग्य है। परन्तु इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि धन साधन है, साध्य नहीं है। धन से हम प्रेय मार्ग की चरम सीमा पर पहुँच सकते हैं, पर वही धन कभी-कभी मनुष्य को गिराने वाला भी हो जाता है। अतः जब हम धन की प्रार्थना करते हैं, तब उसके साथ धर्म जुड़ा हुआ समझना चाहिए। हे अग्नि प्रभु! तुम हमें भरपूर धन दो, जिससे हम उन्नत हो सकें।

हे प्रभु! तुम हमें विपदाओं की भट्ठी में झोंको, संकटों में डालो, जिससे हममें विपदाओं को झेलने का और संकटों से मुकाबला करने का सामर्थ्य आये। सुवर्ण को जब आग की भट्ठी में तपाया जाता है, तब वह निर्मल होकर निकलता है। हम भी जब विपदाओं में से निकलेंगे, तब खरे, निर्मल, सशक्त और परिपुष्ट होकर निकलेंगे। धीरे-धीरे हमें ऐसा अभ्यास हो जाएगा कि बड़ी-से-बड़ी विपदाओं को शरीर पर वायु के झोंके का आघात लग जाना जैसी साधारण बात समझने लगेंगे। अतः हे परमेश! तुम हमें संकटों में डालकर शरीर और मन से परिपुष्ट करो।

तुम हमें 'वाज' या बल प्रदान करो। तुम हमें ऐसा बना दो कि जीवन में आने वाले संग्रामों से हम भयभीत न हों, प्रत्युत उनका स्वागत करें। जीवन में पग-पग पर हमें संग्रामों से जूझना पड़ता है। कभी रोगों से संग्राम करना पड़ता है, कभी हिंसक जन्तुओं से संग्राम करना पड़ता है, कभी दैवी विपत्तियों से संग्राम करना पड़ता है, कभी मानव शत्रुओं से संग्राम करना पड़ता है और कभी काम, क्रोध आदि आन्तरिक रिपुओं से संग्राम करना पड़ता है। हमारे अन्दर ऐसी शक्ति उत्पन्न करो कि हम इन समस्त संग्रामों में विजयी हों। इन संग्रामों को पार करके हम पहले से भी अधिक प्रफुल्ल, बलवान्, समृद्धिशाली और समुन्नत दीखें।

---

१. क्षिप प्रेरणे, भ्वादिः, स्वार्थ में णिच्, लेट्। क्षेपयत्=क्षिपतु।
२. पुष पुष्टौ, दिवादिः, क्र्यादिः, णिच्, लेट्। पोषयत्=पुष्यतु, पुष्णातु वा।
३. भुवत्=भवतु। भू सत्तायाम्, लेट्।
४. षण सम्भक्तौ, भ्वादिः, षणु दाने, तनादिः। क्तिन्।
५. पृतना को पृत् आदेश, सप्तमी बहुवचन।

७१. अग्नि को घर-घर में पहुँचायें

अग्निर्नो यज्ञमुप वेतु साधुयाग्निं नरो वि भरन्ते गृहेगृहे।
अग्निर्दूतो अभवद्धव्यवाहनोऽग्निं वृणाना वृणते कविक्रतुम्॥

—ऋ० ५.११.४

ऋषिः—सुतंभरः आत्रेयः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—जगती॥

(अग्निः) अग्नि **(यज्ञम्)** यज्ञ में **(उप वेतु[१])** पहुँचे **(साधुया)** साधु प्रकार से। **(अग्निम्)** अग्नि को **(नरः[२])** मनुष्य **(वि भरन्ते[३])** ले जाते हैं **(गृहे गृहे)** घर-घर में। **(अग्निः)** अग्नि **(दूतः)** दूत **(अभवत्)** होता है **(हव्यवाहनः[४])** हवि को स्थानान्तर में पहुँचाने वाला। **(अग्निम्)** अग्नि को **(वृणानाः)** वरण करते हुए **(वृणते[५])** वरण करते हैं **(कविक्रतुम्[६])** क्रान्तद्रष्टा कर्मशील परमेश्वर को।

अग्नि सभी मनुष्यों के घर में पहुँचता है, क्योंकि भोजन पकाने के लिए चूल्हे में तो सभी उसे जलाते ही हैं। पर यह अग्नि का पहुँचना वास्तविक पहुँचना नहीं है। वास्तविक पहुँचना तो तब होता है जब अग्नि को हम यज्ञभावना के साथ साधु प्रकार से अपने घर में लाते हैं। जब मनुष्य विवाह के पश्चात् अग्नि को स्थिर-रूप से घर में लाता है, तब वह आहिताग्नि कहलाता है। एक अग्नि अंगीठी में स्थायीरूप से बनी रहती है, जो गार्हपत्य अग्नि कहलाती है। यज्ञ करने के लिए उसी में से अग्नि लाकर, वह यज्ञकुण्ड में प्रदीप्त करता है, जो आहवनीय अग्नि कहलाती है। भोजन पकाने के लिए भी उसी गार्हपत्याग्नि में से अग्नि ली जाती है, जो दक्षिणाग्नि कहलाती है। अग्नि को घर में स्थिर रखने के पीछे भावना है कि गृहस्थ के कर्त्तव्य की अग्नि को तथा पारस्परिक स्नेह एवं सद्भाव की अग्नि को न बुझने देना। अतः आओ, हम अग्नि को न केवल अपने घर में लायें, अपितु घर-घर में पहुँचा दें। घर-घर में अग्निहोत्र हो, घर-घर में बलिवैश्वदेव यज्ञ हो, घर-घर में वेदपाठ हो, घर-घर में विशेष यज्ञों का आयोजन हो। यज्ञाग्नि हमारे दूत का कार्य करता है, क्योंकि वह हव्यवाहन है। यज्ञ करते हैं हम घर में और उसकी सुगन्ध पहुँच जाती हैं दूर-दूर तक। यह अग्नि तथा उसके सखा वायु का चमत्कार है। इसीलिए अग्नि और वायु दोनों दूत हैं।

मन्त्र में अन्तिम बात यह कही गयी है कि जो यजमान अग्निहोत्र की अग्नि का वरण करते हैं, वे कविक्रतु परमात्मा का ही वरण करते हैं। परमात्मा क्रान्तद्रष्टा एवं सबसे अधिक मेधावी होने के कारण कवि है और शिवसंकल्प वाला, कर्मयोगी एवं यज्ञशील होने के कारण वह क्रतु कहलाता है। अग्नि की ज्योति को देखकर परमेश्वर का स्मरण हो आना स्वाभाविक है, जैसे सुन्दर चित्र को देखकर चित्रकार का स्मरण होता है। सच तो यह है कि अग्निहोत्र करके भी जो परमेश्वर को याद नहीं करते, उनका अग्निहोत्र अधूरा है। अतः आओ, हम अग्नि का भी वरण करें और परमेश्वर का भी वरण करें तथा परमेश्वर के कविक्रतु रूप का ध्यान करके स्वयं भी कविक्रतु बनें।

---

१. वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु, अदादि, लोट्।
२. साधुया=साधुना प्रकारेण। तृतीया-एकवचन के स्थान पर सुपां सुलुक्० पा० ७.१.३९ से याच्=या। अथवा प्रथमा-एकवचन के स्थान पर याच्। साधुया=साधु यथा स्यात् तथा।
३. हृञ् हरणे, भरन्ते=हरन्ते। हृग्रहोर्भश्छन्दसि (वा०) से ह को भ।
४. हव्यं वहति स्थानान्तरं प्रापयतीति हव्यवाहनः। हव्येऽनन्तः पादम् पा० ३.२.६६ से ञ्युट् प्रत्यय।
५. वृञ् वरणे, स्वादिः, आत्मनेपदी, प्रथमपुरुष, बहुवचन।
६. कविश्चासौ क्रतुश्च कविक्रतुः। कवि=मेधावी, क्रान्तदर्शी, क्रतु=कर्मशील, संकल्पशील।

७२. जिसे तुम धन समझते हो, वही मुझे दे दो

यमग्ने वाजसातम त्वं चिन्मन्यसे रयिम्।
तं नो गीर्भिः श्रवाय्यं देवत्रा पनया युजम्॥

—ऋ० ५.२०.१

ऋषयः—प्रयस्वन्तः आत्रेयाः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

(वाजसातम[1] अग्ने) हे ऐश्वर्य के अधिकाधिक दाता प्रभु! **(त्वम्)** आप **(यं चित्)** जिसको भी **(रयिम्)** धन **(मन्यसे)** मानते हो, **(गीर्भिः)** वाणियों से **(देवत्रा[2])** विद्वानों में **(श्रवाय्यम्[3])** प्रशंसनीय **(तम्)** उस धन को **(नः)** हमारा **(युजम्)** साथी **(पनय[4])** बना दो।

हे दाता प्रभु! तुम कहते हो, कुछ माँगो। पर मैं तुमसे क्या माँगू? मैं अबोध स्वयं क्या समझूँ कि मेरे लिए क्या हितकर है। मुझे एक कहानी याद आ रही है। एक महात्मा ने किसी भक्त किसान की सेवा से प्रसन्न होकर उसे वर माँगने को कहा। उसने अपार धनी बनने की लालसा से यह वर माँग लिया कि मैं जिस वस्तु को स्पर्श करूँ वह सोना बन जाए। जब घर पहुँचा तब पत्नी ने पूछा कि आज इतना प्रसन्न क्यों लग रहे हो? प्रत्युत्तर में उसने पत्नी के कन्धे पर हाथ रखकर कहा—अरी आज मैं संसार का सबसे अधिक धनी व्यक्ति बनने वाला हूँ। पत्नी के कन्धे पर उसके हाथ का ज्यों ही स्पर्श हुआ तत्काल वह सोने की मूर्त्ति में बदल गयी। तभी उसकी छोटी बिटिया दौड़ी-दौड़ी आयी और उससे लिपट गयी। तत्क्षण उसकी भी काया सोने की हो गयी। तब तो किसान सिर पीट-पीटकर रोने लगा। दौड़ता-दौड़ता महात्मा के पास पहुँचा और बोला—भगवन्! यह वर वापिस ले लो, मेरी पत्नी और बिटिया को जिला दो। मुझे नहीं चाहिए सुवर्ण की दौलत। महात्मा बोले—बदले में कुछ और माँगे बिना अब वरदान वापिस नहीं हो सकता। किसान ने कहा—मैं नहीं जानता, मुझे क्या माँगना चाहिए, एक बार धोखा खा चुका, अब कुछ न माँगूँगा। आप स्वयं ही जिसमें मेरा कल्याण हो वह दे दो। महात्मा ने कहा—तुझे पुरुषार्थ का मन्त्र देता हूँ, मेहनत कर, तेरी बञ्जर भूमि सोना उगलने लगेगी।

वही गति, हे करुणाकर प्रभु! मेरी भी है। स्वयं माँगूँगा, तो संकट में पड़ूँगा। जो देना हो, स्वयं ही दे दो। मैं तो नहीं जानता कि सच्चा धन क्या है? मुझे वह धन दे दो जिसकी बड़े-से-बड़े विद्वान् लोग भी सराहना करते हों, जिस धन का नाम सुनकर वे भी झूम उठते हों। पर, नहीं मैं भूल करता हूँ। विद्वानों का प्रमाण भी मैं क्यों धरूँ। मैं तो पूर्णतः तुम्हें ही समर्पित होता हूँ। हे ऐश्वर्यों के दानी! जिसे तुम मेरे लिए ऐश्वर्य समझते हो, वही मुझे दे दो। दिव्य प्रकाश दे दो, दिव्य श्रद्धा दे दो, दिव्य प्रज्ञा दे दो, दिव्य आनन्द दे दो, दिव्य पुरुषार्थ दे दो। नहीं, मैं फिर भटकने लगा। क्या दे दो, यह गिनाना तुम पर अविश्वास करना है। तुम्हीं जिसमें मेरा कल्याण समझते हो, वह धन मुझे दे दो। हे ईश! तुम महान् हो।

---

१. वाजं धनं सनति संभजति सनोति ददातीति वा वाजसाः। वाज-षण संभक्तौ भ्वादिः, यद्वा षणु दाने तनादिः। अतिशयेन वाजसाः वाजसातमः।
२. देवत्रा=देवेषु। देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्, पा० ५.४.५६ से सप्तमी के अर्थ में त्रा प्रत्यय।
३. श्रवाय्यम् श्रोतुमर्हम्। श्रु श्रवणे, उणादि आय्य प्रत्यय।
४. पण व्यहारे स्तुतौ च, पन च, भ्वादिः। पनय व्यवहारेण कुरु इत्यर्थः। संहिता में 'पनया' में दीर्घ छान्दस।

७३. हमारे धन चमकें

स नो धीती वरिष्ठया श्रेष्ठया च सुमत्या।
अग्ने रायो दिदीहि नः सुवृक्तिभिर्वरेण्य॥

—ऋ० ५.२५.३

ऋषयः—वसूयवः आत्रेयाः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥

(सः) वह आप **(वरिष्ठया[1])** वरिष्ठ **(धीती)** क्रिया से **(श्रेष्ठया च)** और श्रेष्ठ **(सुमत्या)** सुमति से, हे **(नः सुवृक्तिभिः[2])** हमारी उत्तम स्तुतियों एवं क्रियाओं से **(वरेण्य)** वरणीय **(अग्ने)** विद्वन्! **(नः रायः)** हमारे धनों को **(दिदीहि[3])** चमकाओ।

जो चेतन मनुष्य, पशु आदि तथा जड़-पदार्थ हमें लाभ पहुँचाते हैं, वे सब हमारे धन हैं। माता, पिता, पुत्र, पुत्री, राजा, सेनापति, भाई, बन्धु आदि हमारे गौरव-धन हैं। गाय, अश्व, हाथी आदि उपयोगी पशु हमारे धन हैं। रुपया-पैसा, सोना-चाँदी आदि हमारे धन हैं। तरह-तरह के खाद्य-पेय हमारे धन हैं। अनेक प्रकार के परिधान हमारे धन हैं। घड़ी, रेडियो, ट्रांजिस्टर, टी०वी०, फ्रिज, स्थलयान, जलपोत, वायुयान आदि हमारे धन हैं। विभिन्न प्रकार के रक्षोपयोगी एवं युद्धोपयोगी शस्त्रास्त्र हमारे धन हैं। हमें चाहिए कि विद्वान् वैज्ञानिकों को आदर देकर तथा उनका सहयोग करके इन धनों को चमकायें।

तुम पूछोगे कि इन धनों को चमकाने का उपाय क्या है? धनों को चमकाने का उपाय है श्रेष्ठ सुमति और श्रेष्ठ कर्म। राष्ट्र के विद्वान् वैज्ञानिक लोग अपनी श्रेष्ठ प्रज्ञा तथा कर्मों के बल से प्रत्येक क्षेत्र में तरह-तरह के आविष्कार करें। वे चिकित्सा के क्षेत्र में ऐसी ओषधियों का आविष्कार करें जो शरीर पर किसी प्रकार की घातक प्रतिक्रिया किये बिना रोगों को दूर कर सकें, जिससे हमारा, हमारे सम्बन्धी जनों का एवं हमारे पशुओं का स्वास्थ्य उत्तम हो। वे कृषि के अच्छे-से-अच्छे साधनों का आविष्कार करें, जिससे प्रचुर मात्रा में परिपुष्ट एवं स्वास्थ्यप्रद अन्नों, फलों आदि की जातियाँ विकसित हों। वे सुखप्रद, सुरक्षित यात्रा के लिए विविध यानों का आविष्कार एवं परिष्कार करें, जिससे कम-से-कम समय में और अधिक-से-अधिक आराम के साथ बड़ी-से-बड़ी दूरी तय की जा सके। वे समाचार-प्रेषण के लिए एवं मुद्रणालयों के लिए उत्तम-से-उत्तम साधनों का आविष्कार करें। वे विविध उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन के लिए नयी-नयी मशीनों का निर्माण करें। वे मनोरञ्जन, शिक्षा आदि के लिए चलचित्र, कम्प्यूटर आदि विविध यन्त्रों का परिष्कार करें। वे आत्मरक्षा एवं शत्रुसंहार के लिए ऐसे शस्त्रास्त्र आविष्कृत करें, जिनका कोई व्यापक घातक प्रभाव न हो। वे दूरवीक्षण एवं सूक्ष्मवीक्षण के यन्त्रों का निर्माण करें। वे विभिन्न विज्ञानों के विकास के लिए अपेक्षित साधनों का आविष्कार करें। वे विश्व की शान्ति को लक्ष्य करके अपनी प्रज्ञा और क्रिया का अधिकाधिक उपयोग करें। इसप्रकार हमारे धन चमकेंगे, हम चमकेंगे, हमारा राष्ट्र और विश्व चमकेगा।

---

१. अतिशयेन उरुः वरिष्ठा तया। उरु-इष्ठन्। प्रियस्थिर० पा० ६.४.१५७ से उरु को वर् आदेश।
२. सुवृक्तिभिः सुप्रवृत्ताभिः शोभनाभिः स्तुतिभिः, निरु० २.२४। यद्वा, शोभना वृक्तयो दुःखवर्जनानि याभिः ताभिः क्रियाभिः। (द्र० दयानन्दभाष्य, ऋ० १.५२.१)।
३. दीदयति ज्वलतिकर्मा, निघं० १.१६, लोट् में छान्दस रूप।

७४. आओ, प्रभु का आतिथ्य करें

समिध्यमानो अमृतस्य राजसि हविष्कृण्वन्तं सचसे स्वस्तये।
विश्वं स धत्ते द्रविणं यमिन्वस्यातिथ्यमग्ने नि च धत्त इत्पुरः॥

—ऋ० ५.२८.२

ऋषिका—विश्ववारा आत्रेयी॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—जगती॥

(समिध्यमानः[1]**)** हृदय में प्रदीप्त किये जाते हुए [आप] **(अमृतस्य)** अमर जीवात्मा के **(राजसि**[2]**)** राजा बन जाते हो। **(हविः कृण्वन्तम्)** हवि देनेवाले को **(सचसे)** प्राप्त होते हो **(स्वस्तये)** कल्याण के लिए। **(सः)** वह **(विश्वं द्रविणम्)** समस्त धन को **(धत्ते)** धारण कर लेता है **(यम्)** जिसके पास [आप] **(इन्वसि**[3]**)** पहुँच जाते हो, **(च)** और [वह] **(आतिथ्यम्)** आतिथ्य के द्रव्य को **(अग्ने)** हे अग्रनेता परमेश! **(निधत्ते)** रख देता है **(इत्)** अवश्य ही **(पुरः)** आपके समक्ष।

आओ, अग्रनायक परमेश को हृदय में प्रदीप्त करें, जैसे अग्नि को यज्ञकुण्ड में प्रज्वलित करते हैं। तुम पूछते हो, उसे कैसे प्रदीप्त किया जाए, वह तो निरवयव है, निराकार है। सुनो, जैसे भौतिक अग्नि को दो अरणियों या दीपशलाकाओं की रगड़ से प्रज्वलित किया जाता है, ऐसे ही परम प्रभु प्रणव-जप एवं ध्यान से प्रदीप्त होते हैं। प्रदीप्त होकर क्या करते हैं? मनुष्य के अमर जीवात्मा के राजा बन बैठते हैं और जैसे कोई राजा प्रजा को कर्त्तव्य-मार्ग पर चलाता है, वैसे ही वे जीवात्मा को चलाने लगते हैं। वे जीवात्मा को कहते हैं कि मेरी तरह तू भी अजर-अमर है, आगे बढ़, उन्नति की दिशा में अग्रसर हो। जैसे हव्य-पदार्थों की आहुति देने से अग्नि यजमान का कल्याण करता है, जल-वायु को सुगन्धित एवं कृमिहीन करके आरोग्य प्रदान करता है, ऐसे ही प्रभु को जब जीवात्मा आत्मसमर्पण की हवि अर्पित करता है, तब प्रभु उसके हो जाते हैं, उसका कल्याण कर देते हैं, उसे तमस् के दूतों काम, क्रोध आदियों से लड़ने और उन पर विजय पाने की शक्ति दे देते हैं।

अग्नि प्रभु जिसे प्राप्त हो जाते हैं, वह सकल सम्पदाओं को हस्तगत कर लेता है। मुण्डक उपनिषद् में शौनक महाशाल ने अङ्गिरा ऋषि से पूछा था कि ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसे जान लेने पर सब कुछ विज्ञात हो जाता है। उसने उसे परब्रह्म का ही उपदेश दिया था। जैसे ब्रह्म को जान लेने से सब कुछ विज्ञात हो जाता है, ऐसे ही ब्रह्म को पा लेने से सब कुछ प्राप्त भी हो जाता है, क्योंकि अन्य सम्पदाओं के पाने से जिस सुख की उपलब्धि होती है, उससे बढ़कर सुख प्रभु-मिलन से अधिगत हो जाता है। जिसे प्रभु मिल जाते हैं, वह फिर प्रभु को छोड़ता नहीं, सर्वात्मना उनके आतिथ्य में जुट जाता है। प्रभु को दूध, दही, घृत, फूल, फल, मेवे, मिष्टान्न आदि का आतिथ्य नहीं चाहिए, उन्हें तो यह चाहिए कि भक्त अपने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, न्याय, दयालुता आदि सद्गुणों का नैवेद्य अर्पित करे। उसी से प्रभु प्रसन्न होते हैं और बदले में अपने आशीर्वाद का प्रसाद उसे देते हैं।

---

१. इन्धी दीप्तौ, कर्म में यक्, शानच्।
२. राजृ दीप्तौ, भ्वादि, आत्मनेपदी। परस्मैपद छान्दस।
३. इन्वति गतिकर्मा, व्याप्तिकर्मा, निघं० २.१४, २.१८।

७५. मेरे स्तोत्र, मेरे गीत

इन्द्र ब्रह्म क्रियमाणा जुषस्व या ते शविष्ठ नव्या अकर्म।
वस्त्रेव भद्रा सुकृता वसूयू रथं न धीरः स्वपा अतक्षम्॥

—ऋ० ५.२९.१५

ऋषिः—गौरिवीतिः शाक्त्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(इन्द्र) हे इन्द्र! हे परमेश! **(क्रियमाणा ब्रह्म**[1]**)** किये जाते हुए स्तोत्रों को **(जुषस्व)** स्वीकार करो, **(या**[2]**)** जिन [स्तोत्रों] को **(ते)** आपके लिए, **(शविष्ठ)** हे बलिष्ठ! हमने **(नव्या)** नवीन **(अकर्म)** रचा है। **(वस्त्रा**[3] **इव)** [उपहार के] वस्त्रों के समान **(भद्रा)** भद्र और **(सुकृता)** सुन्दर बनाये हुए [जिन स्तोत्रों को] **(वसूयुः**[4]**)** ऐश्वर्य के इच्छुक, **(धीरः)** धीर **(स्वपाः**[5]**)** सुकर्मा मैंने **(रथं न)** रथ की तरह **(अतक्षम्**[6]**)** रचा है, परिष्कृत किया है।

हे परमेश! मेरे स्तोत्र, मेरे गीत सुनो, सराहो, स्वीकार करो। क्या कहते हो? वर्षों से तुम्हारे गीत सुनता चला आया हूँ, अब उनमें क्या रस बचा है? नहीं, हे बलिष्ठ देव! मैंने नवीन स्तोत्र बनाये हैं, नवीन गीत रचे हैं। सुनकर तो देखो। मैं अबोध शिशु तुम्हारे गीतों के समान भला क्या काव्यरचना कर सकता हूँ। तुम्हारे वेदकाव्य के गीत तो अजर-अमर हैं, पुराने होते हुए भी नित नये हैं। जितना सुनो, उतना ही अधिक उनसे रस मिलता है। मेरे गीत वैसे न सही, पर कुछ तो काव्य-रस उनमें सँजोने का प्रयास मैंने किया ही है। भाव-विभोर होकर उनमें मैंने भक्ति का समाँ बाँधा है, तुम्हारे उपकारों का स्मरण किया है, तुम पर श्रद्धा के पुष्प चढ़ाये है, तुम्हारी कीर्ति का गान किया है, हृदय-वीणा की झँकार भरी है, स्नेहसिक्त भाव से तुम्हारी आराधना की है, प्रणव-जप का स्वर निनादित किया है, अध्यात्मिकता की तरंग उठायी हैं, समर्पण की गुंजार की है, 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' का राग अलापा है। मेरे गीत भद्र हैं। जैसे कोई किसी को उपहार देने के लिए सुन्दर-सुन्दर वस्त्र रचता है, वैसे ही मैंने तुम्हें उपहार में देने के लिए इन गीतों की रचना की है। जैसे कोई सुदीर्घ मार्ग को निर्विघ्न पार करने के लिए सुडौल रथ बनाता है, वैसे ही जीवन-यात्रा को निर्बाध पूर्ण करने की उमङ्ग और स्फूर्ति तुमसे पाने के लिए मैंने तुम्हें लक्ष्य करके गीत बनाये हैं। मैं धीर हूँ, गम्भीर हूँ, प्रज्ञावान् हूँ। उथले गीत नहीं घड़ता, गम्भीर गीतों की सृष्टि करता हूँ। मैं 'स्वपाः' हूँ, सुकर्मा हूँ। गीत भी रचता हूँ, कर्म भी करता हूँ। तुम पूछोगे, मैं गीत क्यों रचता हूँ? तुम्हें रिझाने के लिए। मैं 'वसूयु' हूँ, ऐश्वर्य की चाह मुझे है। तुम्हें रिझा-रिझाकर तुमसे ऐश्वर्य पाना चाहता हूँ। संसार को सुनाऊँ तो एक-एक गीत की सहस्र-सहस्र मुद्राएँ पा सकता हूँ। पर मुझे तो दिव्य ऐश्वर्य चाहिए, जो तुम्हीं से मिल सकता है। मैं अपने गीतों का कुछ मूल्य नहीं लगाता। तुम मेरे सब गीतों के बदले रत्तीभर भी दिव्यता दे दोगे, तो मैं निहाल हो जाऊँगा। हे मेरे प्रभु! मेरे गीतों की ओर उन्मुख होकर मुझे धन्य करो, तुम्हारा चिर ऋणी रहूँगा।

---

१. क्रियमाणा ब्रह्म=क्रियमाणानि ब्रह्माणि। शेश्छन्दसि बहुलम्, पा० ६.१.७० से शस् के शि का लोप।
२. या नव्या=यानि नव्यानि।
३. वस्त्रा इव भद्रा सुकृता=वस्त्राणि इव भद्राणि सुकृतानि।
४. वसूनि कामयते इति वसूयुः, क्यच्, उ प्रत्यय। वसूयुः-रथम्=वसूयुर्-रथम्=वसूयू रथम्। 'रो रि' पा० ८.३.१४ से र् का लोप, 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' पा० ६.३.११ से यु के उ को दीर्घ।
५. शोभनानि अपांसि कर्माणि यस्य स स्वपाः।
६. तक्षू तनूकरणे, भ्वादि, तक्षति, तक्ष्णोति। 'तक्षतिः करोतिकर्मा' निरु० ४.१९।

७६. प्रभु की तीन, चार और पाँच रक्षाएँ

यदिन्द्र ते चतस्रो यच्छूर सन्ति तिस्रः।
यद्वा पञ्च क्षितीनामवस्तत् सु न आ भर॥

—ऋ० ५.३५.२

ऋषिः—प्रभूवसुः आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

(यत्) जो **(इन्द्र)** हे प्रभु! **(ते)** तेरी **(चतस्रः)** चार [रक्षाएँ हैं], **(यत्)** जो **(शूर)** हे शूर! **(तिस्रः)** तीन [रक्षाएँ हैं]। **(यद् वा)** अथवा जो **(क्षितीनाम्)** मनुष्यों के प्रति **(पञ्च अवः**[1]**)** पाँच रक्षाएँ हैं, **(तत्)** उनको **(सु)** शोभनप्रकार से **(नः)** हमारे लिए **(आ भर)** ला।

हे इन्द्र! हे ऐश्वर्यवान् प्रभु! तुम अपने परम ऐश्वर्य की रक्षाओं से सबको रक्षित किये हुए हो। हे शूर! तुम अपनी शूरता से सबकी रक्षा करते हो। तुम अपनी सुव्यवस्था से सबके रक्षक बने हुए हो। एक किस्सा प्रसिद्ध है—कोई किसान खिरनी के पेड़ के नीचे विश्राम कर रहा था। तभी उसके मन में आया कि परमेश्वर भी कैसा मूर्ख है कि इतने बड़े खिरनी के वृक्ष पर छोटी-छोटी खिरनियाँ लगा दी हैं और छोटी-सी तरबूज की बेल पर कितने बड़े-बड़े तरबूज लगाये हैं। उसी समय एक खिरनी वृक्ष से टपककर उसके सिर पर गिरी। तब वह भगवान् का लाख-लाख धन्यवाद करने लगा कि इतने ऊँचे पेड़ पर यदि तरबूज जितनी बड़ी खिरनी तुमने लगायी होती, तो उसके गिरने से मेरा सिर फट जाता। इसीप्रकार हर क्षेत्र में हे जगदीश्वर! तुम्हारी सुव्यवस्था ने हमारी रक्षा की हुई है।

हे देवाधिदेव! तुम अपनी चार रक्षाओं से मुझे कृतार्थ करते रहो। तुम्हारी चार रक्षाएँ हैं तुम्हारे दिये हुए चारों वेदों की उच्च शिक्षाएँ, जिनके पालन करने से मनुष्य सदा सुरक्षित रहता है। दूसरी तुम्हारी चार रक्षाएँ यह हैं कि तुम धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के प्रति मानव को प्रेरित करते हुए उसे सुरक्षा प्रदान करते हो। इन चार रक्षाओं के अतिरिक्त तुम्हारी तीन और पाँच अन्य रक्षाएँ भी हैं। तीन हैं आध्यात्मिक रक्षा, आधिदैविक रक्षा और आधिभौतिक रक्षा। अध्यात्म में तुम काम, क्रोध, लोभ आदि की घातक सेना से मानव का त्राण करते हो। अधिदैवत क्षेत्र में तुम आग, बिजली, भूकम्प आदि की भीषणताओं से बचाते हो। अधिभूत में तुम प्राणियों में पारस्परिक प्रीति उपजाकर विध्वंस-लीला से जग की रक्षा करते हो। तुम्हारी पाँच रक्षाएँ यह हैं कि तुम्हीं पृथिवी, जल आदि पञ्चभूतों को व्यवस्थित रखकर सृष्टि को चलाते हो और मनुष्यों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच यमों की भावना भरते हो। अन्यथा पञ्चभूतों में व्यत्यास होकर सृष्टि कभी की समाप्त हो गयी होती और घात-पात, असत्य, तस्करी, व्यभिचार एवं असन्तोष फैलकर संसार में त्राहि-त्राहि मचा देते।

हे प्रभु! अपनी ये सब रक्षाएँ हमें भी प्रदान करते रहो।

---

१. अव रक्षणादिषु, असुन्। अवः=अवांसि। सुपां सुलुक्० पा० ७.१.३९ से विभक्ति का लुक्।

७७. हमारा करामाती रथ

अस्माकमिन्द्र दुष्टरं पुरोयावानमाजिषु। सयावानं धनेधने वाजयन्तमवा रथम्॥

—ऋ० ५.३५.७

ऋषिः–प्रभूवसुः आङ्गिरसः॥ **देवता**–इन्द्रः॥ **छन्दः**–अनुष्टुप्॥

(**अस्माकम् इन्द्र**) हे हमारे जीवात्मन्! तुम (**दुष्टरम्**) दुस्तर, (**आजिषु**) रणों में (**पुरोयावानम्**[१]) आगे जाने वाले, (**धने-धने**) धन-धन की प्राप्ति के निमित्त (**सयावानम्**[२]) साथ मिलकर चलने वाले, (**वाजयन्तम्**[३]) बल के कार्य करने वाले (**रथम्**) देह-रूप रथ को (**अव**[४]) रक्षित करते रहना।

हमने तो अपने देह-रथ को विपदाओं और क्षतियों की परवाह किये बिना संकटों में झोंक दिया है। हमें चिन्ता नहीं है कि इसका कुछ बनेगा या बिगड़ेगा। हमारा यह देह-रथ दुस्तर है, इसे आसानी से क्षतिग्रस्त नहीं किया जा सकता। हमारी बहादुरी भी नगण्य नहीं है, जो इसे शत्रुओं द्वारा पादाक्रान्त होने दें। यह रथ किसी से पीछे रहने वाला नहीं है। रणों में सबसे आगे पहुँचने वाला है। बड़े-से-बड़े रिपु से लोहा लेने वाला है। शस्त्रास्त्रों से सज्जित, भयोत्पादक शत्रु-सेनाओं को सामने देखकर भी यह पीछे नहीं हटने वाला है। एक बार तो दुश्मनों के छक्के छुड़ा ही देता है। अरि-दल रणसज्जा करता है, तो यह उससे दुगनी रणसज्जा कर लेता है। शत्रु बन्दूकधारी होते हैं, तो यह भी आयुधों से सुसज्जित हो जाता है।

प्रत्येक धन की प्राप्ति के लिए यह अन्यों के साथ मिलकर चलने वाला है। शत्रु की भूमि जीतनी हो, तो यह आगे बढ़ता है। शत्रु का शस्त्र-धन जीतना हो, तो यह तैयार रहता है। शत्रु का सैनिक-धन जीतना हो, तो यह सबका साथ देता है। शत्रु का सर्वस्व अपहरण करना हो, तो यह पीछे नहीं रहता। केवल शत्रु-धन ही नहीं, अन्य सब धनों को पाने के लिए भी यह देह-रथ सबके साथ मिलकर उद्यम करने वाला है। स्वराज्य-धन, कृषि-धन, धर्म-धन, आरोग्य-धन, विद्या-धन किसी भी धन की प्राप्ति के पुरुषार्थ में यह कतराता नहीं।

यह देह-रथ बड़े-बड़े बल के कार्य करता है। छोटे-से इस रथ में बुद्धिकौशल, दूरदर्शिता और कर्मठता की चाबी भर दो, फिर देखो इसकी करामात। यह भूमि के अन्दर दबी पड़ी तरह-तरह की खनिज पदार्थों की खानें खोद लेता है। यह समुद्र में डूबे रत्न निकाल लाता है। यह भयावह सागरों को पार कर लेता है। यह पहाड़ की ऊँची चोटियों को लाँघ जाता है। यह आस्मान में उड़ता है। यह नवीन उपग्रहों को आकाश में छोड़ता है। यह चन्द्रमा, मंगल, बुध आदि लोकों में पहुँच जाता है।

इस अद्भुत देह-रथ की, हे हमारे जीवात्मा! तुम सदा रक्षा करते रहना। इसे रोगों से, क्षतियों से, पाशविकताओं से बचाये रखना। जब तक तुम इसका नेतृत्व करते रहोगे, तब तक यह अचरज में डालने वाली चुस्ती, क्षमता एवं अग्रगामिता के साथ बल के कार्य करता रहेगा। हे आत्मन्! हे शरीर-रथ के राजाधिराज! तुम इसे त्रुटित मत होने देना।

---

१. पुरः अग्रे यातीति पुरोयावा। पुरस्-या प्रापणे-वनिप् (वन्) प्रत्यय।
२. सह यातीति सयावा। सह-या-वनिप्। सह को स आदेश।
३. वाजान् आत्मनः इच्छतीति वाजयति, क्यच् प्रत्यय। अथवा वाजान् बलकार्याणि करोतीति वाजयति, करणार्थ में णिच्। शतृ प्रत्यय, वाजयन्, द्वितीया एकवचन-वाजयन्तम्।
४. अव रक्षणादिषु। अव=रक्ष। संहिता में 'अवा' में छान्दस दीर्घ। द्व्यचोऽतस्तिङः पा० ६.३.१३५।

७८. विद्वानों की सुमति हमें प्राप्त हो

तां वो देवाः सुमतिमूर्जयन्तीमिषमश्याम वसवः शसा गोः।
सा नः सुदानुर्मृळयन्ती देवी प्रति द्रवन्ती सुविताय गम्याः॥

—ऋ० ५.४१.१८

ऋषिः—अत्रिः भौमः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**वसवः**[१] **देवाः**) हे बसाने वाले विद्वानो! (**ऊर्जयन्तीम्**[२]) मनोबल देने वाली, (**इषम्**[३]) चाहने योग्य (**वः**) तुम्हारी (**तां सुमतिम्**) उस विशिष्ट सुमति को (**अश्याम**) हम प्राप्त करें, (**गोः**) [तुम्हारी] वाणी के (**शसा**[४]) उपदेश द्वारा। (**सा**) वह [तू] (**सुदानुः**) उत्तम लाभ देने वाली, (**मृडयन्ती**) सुखदात्री (**देवी**) दिव्य सुमति (**प्रति द्रवन्ती**[५]) हमारी ओर दौड़ती हुई (**नः**) हमें (**सुविताय**[६]) कल्याण के लिए (**गम्याः**[७]) प्राप्त हो।

किसी राष्ट्र के मनीषी विद्वान् उस राष्ट्र में सद्‌विद्या, सद्‌विचार, सद्‌गुण एवं सत्कर्मों को बसाने वाले होते हैं, इस कारण वे वसु कहलाते हैं। जिस साधन से वे बसाने का कार्य करते हैं, वह उनकी सुमति है। हम चाहते हैं कि उनकी वह विशिष्ट सुमति या सद्‌बुद्धि हमें भी प्राप्त हो जाए। सुमति मनुष्य के अन्दर मनोबल और उत्साह भरने वाली होती है। उसे यह विश्वास रहता है कि मैं अपनी सुमति के द्वारा बड़ी-से-बड़ी विपदाओं को पार कर सकता हूँ और बड़े-से-बड़े सर्जनात्मक कर्मों को सिद्ध कर सकता हूँ। सुमति 'सुदानु' होती है, उत्तमोत्तम लाभों का दान करती है। सुमति या सद्‌बुद्धि विज्ञान के क्षेत्र में मानवहित के बड़े-से-बड़े आविष्कार करती है, सुख-साधन और आत्म-रक्षा के उपाय जुटाती है। सुमति कृषि, व्यापार, चिकित्सा, शिक्षा, मनोरञ्जन, यातायात, धनुर्विद्या, खगोलविद्या, विमानविद्या, शिल्प, कल-कारखाने आदि प्रत्येक क्षेत्र में दिशानिर्देश द्वारा उन्नति की ओर विकास कराती है। सुमति सब ओर सुख-शान्ति बरसाती है। सुमति पारस्परिक सद्‌भावना, प्रेम और सहिष्णुता उत्पन्न कराती है। सुमति संहारलीला पर विराम लगाकर मानव में एकता और मैत्री की भावना जगाती है। सुमति राष्ट्र में ब्रह्मबल और क्षात्रबल का समन्वय कराती है। सुमति से युद्ध की विभीषिकाएँ समाप्त हो सकती हैं, नरसंहार रुक सकते हैं, मानव राक्षस से देव बन सकता है। अतः हम भी आज सुमति को निमन्त्रण देते हैं। वह सुमति विद्वानों की वाणी से, विद्वानों के उपदेश से प्राप्त होती है। हे विद्वानो! सुमति का बीज-वपन करो, उसे अङ्कुरित करो, सींचो, विकसित करो, परिपक्व करो। सुमति का बिगुल बजा दो, घर-घर में सुमति पहुँचा दो।

हे सुमति! तुम दौड़ती हुई हमारे पास आ जाओ। हम तुम्हारा स्वागत करने को तैयार खड़े हैं। हमारे पास आकर हमारा कल्याण करो, हमें उच्च स्थिति प्रदान करो, हमें राष्ट्रों की उन्नति की प्रतिस्पर्धाओं में सबसे आगे पहुँचा दो।

---

१. वस निवासे। वासयन्तीति वसवः।
२. ऊर्ज बलप्राणनयोः, चुरादि। शतृ, स्त्रीलिंग।
३. इषु इच्छायाम्, तुदादि।
४. शंसु स्तुतौ, भ्वादि। शस्, तृतीया एकवचन, शसा।
५. द्रु गतौ, भ्वादि, शतृ, स्त्रीलिंग।
६. सुवित=सु-इत=सद्‌गति।
७. गम्याः गम्लृ गतौ। 'त्वम्' अध्याहृत है, सा त्वं गम्याः।

७९ उसे भक्तिरसों से गीला कर दो

उदीरय कवितमं कवीनामुनत्तैनमभि मध्वा घृतेन।
स नो वसूनि प्रयता हितानि चन्द्राणि देवः सविता सुवाति॥

—ऋ० ५.४२.३

ऋषिः—अत्रिः भौमः॥ देवता—सविता॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

हे साधक! तू (**उदीरय**[१]) कीर्तिगान कर (**कवीनां कवितमम्**) कवियों में सबसे बड़े कवि परमेश का। हे उपासको! (**अभि उनत्त**[२]) गीला करो (**एनम्**) इसे (**मध्वा**[३]) मधुर भक्ति-रस से और (**घृतेन**) समर्पण के घृत से। (**नः**) हमें (**प्रयता**[४]) पवित्र, (**हितानि**) हितकर, (**चन्द्राणि**[५]) आह्लादक (**वसूनि**) धनों को (**स देवः सविता**) वह दानी सविता प्रभु (**सुवाति**[६]) देवे।

परम करुणाकर प्रभु अपने अद्भुत सहृदयहृदयाह्लादक, कर्त्तव्योपदेशक, धर्मार्थकाममोक्षप्रापक, कीर्तिविधायक, मंगलप्रद वेद-काव्य के रचयिता होने के कारण कवियों में शिरोमणि हैं। अनोखी क्रान्तदर्शिता या दूरदृष्टि रखने के हेतु से भी वे कवियों में सर्वोत्कृष्ट कवि कहलाते हैं। हम अल्प दृष्टि वाले मानव तो किसी बात के दूरगामी परिणामों की कल्पना तक नहीं कर पाते हैं, परन्तु परमेश प्रभु अपनी सूक्ष्म दृष्टि से सब कुछ देख लेते हैं। हे साधक! तू भाव-विभोर होकर उस परम कवि का महिमा-गान कर। हे उपासको! तुम हृदय से परम प्रभु की भक्ति में लीन होवो। अपने भक्ति के मधुर रस से उसे नहला दो, अपने समर्पण के घृत से उसे अभिषिक्त कर दो। अपना भक्तिरस, अपना समर्पण-घृत, अपने पूजा-पुष्प, अपना हृदय-हार उसे अर्पित कर दो। तुम उसे मधुर भक्तिरस से नहलाओ, वह तुम्हें मधुर आनन्द-रस से नहला देगा।

हम भी सविता प्रभु के उपासक हैं। सविता सूर्य जैसे पर्वतों से बर्फ पिघला-पिघलाकर जल-धाराएँ बहाता है, वैसे ही सविता प्रभु आनन्द-रस की धारा प्रवाहित करता है। साथ ही जैसे सविता सूर्य प्रकाश बखेरता है, वैसे ही सविता प्रभु साधक के आत्मा में दिव्य ज्योति प्रेरित करता है। जैसे सविता सूर्य हमारी भूमि पर सोना-चाँदी, हीरे, मोती आदि धन को चमकाता रहता है, वैसे ही सविता प्रभु उपासक के अन्तरात्मा में अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि के ऐश्वर्यों को चमकाता है।

हमारी प्रार्थना है कि दानी सविता प्रभु हमें ऐसे भौतिक एवं दिव्य ऐश्वर्य प्राप्त कराये, जो पवित्र हों, हितकर हों, आह्लादक हों। पाप की अपवित्र कमाई हमें नहीं चाहिए। जो धन हमारा अहित सम्पादन करे या हमें विपदा में डाले, वह धन भी हमें नहीं चाहिए। हमें तो चाँद जैसा आह्लाद की धारा बहाने वाला धन चाहिए। हे प्रभु! ऐसा धन देकर हमें कृतार्थ करो।

---

१. उद्-ईर गतौ कम्पने च, अदादि, ईर क्षेपे, चुरादि। उत्-ईर=कथन करना, गान करना।
२. उन्दी क्लेदने, स्वादि।
३. मध्वा=मधुना।
४. पवित्रः प्रयतः पूतः, अमरकोष २.४.५। प्रयता=प्रयतानि।
५. चदि आह्लादने दीप्तौ च, भ्वादि। स्फायि तञ्चि० उ० २.१३ से रक् प्रत्यय।
६. षू प्रेरणे, तुदादि, लेट्, प्रथमपुरुष-एकवचन।

८०. देश में आर्थिक विषमता दूर हो

विसर्माणं कृणुहि वित्तमेषां ये भुञ्जते अपृणन्तो न उक्थैः।
अपव्रतान् प्रसवे वावृधानान् ब्रह्मद्विषः सूर्याद् यावयस्व॥

—ऋ० ५.४२.९

ऋषिः–अत्रिः भौमः॥ **देवता**–बृहस्पतिः॥ **छन्दः**–त्रिष्टुप्॥

हे बृहस्पति! हे विशाल राष्ट्र के स्वामी राजन्! (**विसर्माणम्**[१]) विशरणशील अर्थात् एक व्यक्ति के पास केन्द्रित न रहकर सबके पास जाने वाला (**कृणुहि**) कर दो (**वित्तम् एषाम्**) इनके धन को, (**ये**) जो (**भुञ्जते**) भोग करते हैं (**अपृणन्तः**) न दान करते हुए (**नः**) हमें (**उक्थैः**[२]) वेदमन्त्रों के अनुसार। (**अपव्रतान्**[३]) कर्त्तव्य कर्मों से दूर रहते हुए, (**प्रसवे**) सन्तानोत्पादन में (**वावृधानान्**) बढ़ते हुए, (**ब्रह्मद्विषः**) ब्रह्मद्वेषी जनों को (**सूर्यात्**) सूर्य-प्रकाश से (**यावयस्व**[४]) अलग कर दो, अर्थात् कारागार में या काल-कोठरी में डाल दो।

वेद निर्धन या दरिद्र रहने को आदर्श नहीं मानता, प्रत्युत सबको प्रचुर धनों का स्वामी बनने की प्रेरणा करता है। परन्तु साथ ही वेद इस बात को भी ठीक नहीं समझता कि राष्ट्र में कुछ लोगों के पास तो धन केन्द्रित हो जाए, वे करोड़पति हो जाएँ और उनके अतिरिक्त दूसरे लोग कङ्गाल होकर जिन्दगी काटें। धन की दृष्टि से समाज में कुछ-न-कुछ विषमता तो रहेगी ही, किन्तु अधिक वैषम्य उचित नहीं है, ऐसा वेद का विचार है। पूँजीपति राज करें और गरीब लोग कुचले जाएँ, यह नहीं हो सकता। यदि होता है तो एक-न-एक दिन क्रान्ति अवश्यंभावी है। पूँजीपति लोग गरीबों के पसीने से कल-कारखाने चलायें और आय का अधिकांश भाग अपनी जेब में रख लें, इस बात को भले ही कुछ समय तक श्रमिक जन सह लें, पर अन्ततः विद्रोह होकर ही रहता है। अतः वेद कहता है कि—हे राज्याधिपति! उन करोड़पतियों के धन को तुम बलात् विसरणशील अर्थात् सब में फैलनेवाला कर दो, जो वेदमन्त्रों में कहे त्याग के आदर्श को नहीं मानते तथा दूसरों को दान न करते हुए स्वयं धन का उपयोग करते रहते हैं। आशय यह है कि राजा पूँजीपतियों पर विशेष आय-कर लगाकर उनसे धन ले और सार्वजनिक हितों में उसका प्रयोग करे।

हे राजन्! तुम्हें विदित होना चाहिए कि तुम्हारे राज्य में कुछ लोग अप-व्रत होकर अर्थात् वेदानुकूल दानादि कर्मों से विमुख होकर सदा उत्पादन में ही लगे रहते हैं। वे अच्छे-बुरे सभी उपायों से धन को भी बढ़ाते रहते हैं तथा इन्द्रिय-संयम एवं ब्रह्मचर्य को त्याग कर सदा सन्तानों की संख्या भी बढ़ाते रहते हैं। साथ ही वे ब्रह्मद्वेषी भी होते हैं, ईश्वर-विश्वास को ढकोसला बताते हैं तथा धर्म-कर्म को ब्राह्मणवर्ग का षडयन्त्र कहते हैं। ऐसे लोगों के प्रति हे राज्याधिपति! तुम कठोर कदम उठाओ, उन्हें सूर्यप्रकाश से वञ्चित कर दो, अँधेरे कारागार में डाल दो। तब तुम्हारे राज्य में आर्थिक विषमता दूर होगी, धन ऊपर से नीचे की ओर बहेगा, पूँजीपतियों का अधिकार-क्षेत्र सीमित होगा, वेदों के कर्त्तव्य कर्मों का पालन होगा, ब्रह्मचर्य द्वारा उचित सन्तति-निरोध होगा, धर्म और दान का मेल होगा तथा सबको एकसमान सुख-सुविधापूर्वक जीने का अवसर प्राप्त होगा।

---

१. वि सृ गतौ, मनिन्।
२. उच्यन्ते उच्चार्यन्ते इति उक्थाः। यद्वा, वचन्ति कर्तव्योपदेशान् ये ते। वच परिभाषणे, अदादि, थक् प्रत्यय।
३. अपगताः व्रतेभ्यो ये ते अपव्रताः तान्।
४. यु मिश्रणे अमिश्रणे च, णिच्।

८१. राष्ट्र के वीर सैनिक

हये नरो मरुतो मृळता नस्तुवीमघासो अमृता ऋतज्ञाः।
सत्यश्रुतः कवयो युवानो बृहद्गिरयो बृहदुक्षमाणाः॥

—ऋ० ५.५७.८

ऋषिः—श्यावाश्वः आत्रेयः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**हये**) हे (**नरः**[१]) बाँके पुरुषार्थी (**मरुतः**) वीर सैनिको! (**मृडत नः**) सुखी करो हमें। तुम (**तुवी-मघासः**[२]) बहुत अधिक वीरताधन के धनी हो, (**अमृताः**) आत्मा से अमर, (**ऋतज्ञाः**) सत्य के ज्ञाता, (**सत्य-श्रुतयः**) सत्याचरण में प्रसिद्ध, (**कवयः**) क्रान्तदर्शी, बुद्धिमान्, (**युवानः**) जवान, (**बृहद्-गिरयः**[३]) ऊँची वाणी वाले और (**बृहत्**) बहुत अधिक (**उक्षमाणाः**[४]) सींचने वाले, वर्षा करने वाले [हो]।

कोई राष्ट्र अपने उन वीर क्षत्रिय योद्धाओं से ही रक्षित होता है, जो जान की बाजी लगाने में आनन्दित होते हैं, रिपु-दल के छक्के छुड़ाने में प्रफुल्ल होते हैं, राष्ट्र-हित बलिदान हो जाने में गौरव अनुभव करते हैं।

हे पुरुषार्थी बाँके वीर सैनिको! अपने क्षात्रधर्म का निर्वाह करते हुए तुम रक्षा द्वारा हम राष्ट्रवासियों को सुखी करो। तुम 'तुवी-मघ' हो, बहुत धनी हो। भले ही वैश्य जनों की तुलना में तुम्हारे पास रजत-सुवर्ण का धन उतना न हो, फिर भी तुम उस अद्वितीय वीरता-रूप धन के धनी हो, जो चाँदी-सोने के धन से अधिक बढ़कर है। तुमने अमरता का पाठ पढ़ा हुआ है। यह तुम भली-भाँति जानते हो कि आत्मा को न तलवार काट सकती है, न आग जला सकती है, न पानी गला सकता है, न पवन सुखा सकता है, आत्मा अच्छेद्य है, अदाह्य है। अतः तुम इस भावना से रणक्षेत्र में जाते हो कि यदि वहाँ शत्रु के हथियार से मारे भी गये, तो सद्गति प्राप्त होगी, पुनर्जन्म में फिर क्षत्रिय बनकर हम शत्रु से लोहा लेंगे और यदि जीत गये तो हम विजयोत्सव में सम्मिलित होने का गौरव प्राप्त करेंगे और स्वयं को धन्य मानेंगे कि राष्ट्र की विजय में हमारा भी योगदान है।

हे वीरो! तुम न केवल सत्य के ज्ञाता हो, अपितु सत्याचरण के धनी भी हो। तुम असत्य का समर्थन कभी नहीं करते। तुम कवि हो, क्रान्तदर्शी हो, मनीषी हो। तुम न केवल आयु से युवक हो, अपितु मन से भी युवक हो। तुम 'बृहद्गिरि' हो, तीव्र वाणी वाले हो। जब तुम बुलन्द वाणी से जयकारे लगाते हो, तब धरती हिल जाती है, पर्वत काँपने लगते हैं। तुम 'उक्षमाण' हो, सींचने वाले हो। शत्रुदल को शस्त्रास्त्र की वर्षा से और स्वपक्ष को रक्षा एवं विजय से सींचते हो।

हे बहादुर सैनिको! हमें तुम पर गर्व है। हम तुम्हारा जयजयकार करते हैं।

---

१. नृ शब्द का प्रथमा-बहुवचन। ना, नरौ, नरः।
२. तुवि=बहु, निघं० ३.१। मघ=धन, निघं० २.१०। तुवि बहु मघं धनं येषां ते तुविमघाः=तुवीमघासः। इ को दीर्घ छान्दस, जस् को असुक् का आगम।
३. बृहन्तः गिरयः गिरः वाचः येषां ते बृहद्गिरयः। 'प्रभूतस्तुतयः' —मुद्गलभाष्य।
४. उक्ष सेचने, भ्वादि। शानच्।

८२. जब बादल भूमि पर बरसता है

प्र वा॒ता वान्ति॑ प॒तय॑न्ति वि॒द्युत॒ उदोष॑धी॒र्जिह॑ते॒ पिन्व॑ते॒ स्वः॑।
इरा॒ विश्व॑स्मै॒ भुव॑नाय जायते॒ यत्प॒र्जन्यः॑ पृ॒थि॒वीं रे॒तसाव॑ति॥

—ऋ० ५.८३.४

ऋषिः—अत्रिः॥ देवता—पर्जन्यः॥ छन्दः—जगती॥

(प्र वान्ति[१]**)** चलती हैं **(वाताः)** हवाएँ, **(पतयन्ति**[२]**)** संचार करती हैं **(विद्युतः)** बिजलियाँ, **(उद्-जिहते**[३]**)** ऊपर उठती हैं **(ओषधीः)** ओषधियाँ, **(पिन्वते**[४]**)** झरता है **(स्वः)** अन्तरिक्ष, **(इरा**[५]**)** अन्न **(विश्वस्मै भुवनाय)** सारे भुवन के लिए **(जायते)** पैदा हो जाता है, **(यत्)** जब **(पर्जन्यः)** बादल **(पृथिवीम्)** भूमि को **(रेतसा**[६]**)** वृष्टि-जल से **(अवति)** रक्षित करता है।

बरसात की सुहावनी ऋतु है। कभी बूँदा-बूँदी, कभी रिमझिम और कभी मूसलाधार वर्षा बरस रही है। भूमि पर हरियाली का गलीचा बिछ गया है। तरु-वल्लरी हरित परिधान पहने तथा बीच-बीच में फूलों की रगंबिरंगी तारकशी लिये झूम रहे हैं। पर्वतों से जलस्रोत उमड़ पड़ा है, नदियाँ पानी की बाढ़ के साथ वेग धारण कर रही हैं, जलाशय लबालब भर गये हैं। देखो "हवाएँ चल रही हैं, बिजलियाँ चमक रही हैं, प्यासी ओषधियाँ पानी पीकर बढ़ रही हैं, अन्तरिक्ष झर रहा है, सब के लिए प्रचुर खाद्य उत्पन्न हो गया है।" आओ, हम भी खुशियाँ मनायें, तृप्तिदायक पर्जन्य का जयजयकार करें, पर्जन्य से कुछ सीखें। हम भी पर्जन्य बनकर प्यासों पर अमृत बरसायें, उनके सन्ताप हरें, उन्हें आनन्दित करें, उनके हृदयों को सरसायें।

एक दूसरे पर्जन्य की भी कथा सुनो। यह देखो, हमारे समाज की आश्रम-व्यवस्था का सर्वोच्च अङ्ग संन्यासी पर्जन्य बनकर सामाजिक गगन में छा रहा है। जैसे पर्जन्य निर्मल जल से भरा होता है, ऐसे ही यह संन्यासी निर्मल सुशिक्षा, विद्या तथा सद्गुणों के सलिल से परिपूर्ण है। यह वाणी से गर्जता हुआ सदुपदेश की वृष्टि कर रहा है। इसने समाज के वातावरण को पवित्र कर दिया है। समाज में धर्म-कर्म की पावन हवाएँ चलने लगी हैं। विद्या-प्रकाश की बिजलियाँ चमकने लगी हैं। पाप-ताप की नाशक उपनिषत्-कथा-रूप ओषधियाँ विकसित होने लगी हैं, वर्णाश्रम-धर्म का अन्तरिक्ष झर रहा है, समस्त राष्ट्रवासियों में प्रभु-भक्ति का सलिल उमड़ पड़ा है।

गरजो, हे बादल! गरजो, तरजो। बरसो, हे संन्यासी! बरसो, सरसो। मानव में प्राण-संचार करो। शुष्क हृदयों को सरस करो। जन-मानस को संतृप्त करो। आधि-व्याधि हरो, दुःख-दौर्मनस्य को निर्वासित करो। सबको हर्षाओ, उत्फुल्ल करो, विकसित करो, संवृद्ध करो। दुःखों की श्याम घटा के बीच सुखों की विद्युत् चमकाओ। बरसो, हे वारिद! बरसो, भूतल पर ज्ञान की धाराएँ बहाओ, सत्कर्म की नहरें चलाओ, भक्तियोग की लहरें उठाओ। गरजो, तरजो, हरषो, सरसो, बरसो।

---

१. वा गतिगन्धनयोः, अदादि।
२. पत गतौ, चुरादि।
३. ओहाङ् गतौ, जुहोत्यादि। जिहीते, जिहाते, जिहते।
४. पिवि सेवने सेचने च, परस्मैपदी। आत्मनेपद छान्दस।
५. इरा=अन्न, निघं० २.७।
६. रेतस्=जल, निघं० १.१२।

८३. हमारे मनोरथ पूर्ण करो

अश्याम तं काममग्ने तवोती अश्याम रयिं रयिवः सुवीरम्।
अश्याम वाजमभि वाजयन्तोऽश्याम द्युम्नमजराजरं ते॥

—ऋ० ६.५.७

ऋषिः—भरद्वाजः बार्हस्पत्यः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**अश्याम**[1]) प्राप्त करें (**तं कामम्**) उस प्रबल संकल्प को (**तव**) तेरी (**ऊती**[2]) रक्षा से। (**अश्याम**) प्राप्त करें (**रयिम्**) धन को (**रयिवः**) हे धनों वाले! (**सुवीरम्**[3]) जो धन वीरों से या वीरभावों से युक्त हो। (**अश्याम**) प्राप्त करें (**वाजम्**) बल और विज्ञान को (**अभि वाजयन्तः**[4]) उद्यम करते हुए [हम]। (**अश्याम**) प्राप्त करें (**अजर**) हे अजर! (**ते**) तेरे (**अजरम्**) अजर (**द्युम्नम्**[5]) तेज और यश को।

हे अग्निदेव! हे अग्रनेता जगदीश्वर! हमने बहुत-से मनोरथ अपने मन में सँजोये हुए हैं, बहुत-सी महत्वाकांक्षाएँ अपने अन्दर संचित की हुई हैं। वे पूर्ण तभी हो सकती हैं, जब आपकी रक्षाएँ हमें निरन्तर प्राप्त होती रहें। हमारी पहली कामना यह है कि हम दृढ़-संकल्प को प्राप्त करें, यतः उसके बिना हम किसी भी कार्य के निर्वाह में समर्थ नहीं हो सकते। हमारी दूसरी कामना, हे धनों वाले! धन की है। कैसा धन? जो सुवीर हो, वीर पुत्र-पुत्रियों से युक्त हो। जब राष्ट्र के श्रेष्ठ धनियों की गणना होने लगे तब हमारा नाम उसमें अवश्य आये। हमारे पास निवास के लिए सुन्दर, सुखदायक भव्य भवन हो, चाँदी-सोने की दौलत भी हमारे पास प्रचुर मात्रा में हो और वीर पुत्र-पुत्रियों के सजीव धन से भी हम वञ्चित न रहें, क्योंकि वीर सन्तानों की सम्पदा केवल हमारी ही सम्पदा नहीं, अपितु राष्ट्र की सम्पदा है।

हमारी तीसरी कामना यह है कि उद्यम करते हुए हम देह-बल, आत्म-बल और विज्ञान-बल प्राप्त करें। देह-बल प्राप्त होता है, व्यायाम और ब्रह्मचर्य-साधना से। आत्म-बल प्राप्त होता है, महात्माओं के उपदेश, अभ्यास, आशावाद और प्रभुकृपा से। विज्ञान-बल प्राप्त होता है, तपस्यापूर्वक आचार्याधीन रहते हुए गुरुशुश्रूषापूर्वक शास्त्रों के अध्ययन, स्वाध्याय और मनन से।

हमारी चौथी कामना यह है कि हम 'द्युम्न' प्राप्त करें। द्युम्न शब्द दीप्त्यर्थक द्युत धातु से बना है, जिसका अर्थ तेज, यश आदि होता है। हे परमेश प्रभु! तुम 'अजर' तेज और यश वाले हो, अतः हमें भी अजर-अमर तेज और यश प्रदान करो। यदि हमारे अन्दर दैहिक, मानसिक और आत्मिक तेज सदा दमकता रहेगा, तब हम कभी अभद्र की ओर पग नहीं बढ़ायेंगे। परिणामतः हमारी उज्ज्वल कीर्ति स्वतः सर्वत्र प्रसृत होती रहेगी।

हे प्रभुवर! हमारे इन मनोरथों को पूर्ण करो। हम विनीत-भाव से आपके सम्मुख उपस्थित हुए हैं। हमें ऊँचा उठाओ, हमारी साधना सफल करो।

---

१. अशूङ् व्याप्तौ, स्वादि, आत्मनेपदी, अश्याम=अश्नुवीमहि। श्नु के स्थान पर छान्दस श्यन् तथा परस्मैपद।
२. ऊती=ऊत्या, पूर्वसवर्णदीर्घ।
३. शोभनाः वीराः यत्र तं सुवीरम्। सु के साथ बहुव्रीहि समास में 'वीरवीर्यौ च', पा० ६.२.१२० से वीर आद्युदात्त।
४. वज गतौ, भ्वादि, णिच्, शतृ।
५. द्युम्नं द्योततेः, यशो वा अन्नं वा, निरु० ५.५। द्युम्न=धन, निघं० २.१०। द्युम्नं विद्याप्रकाशं यशो धनं वा —द० भाष्य, ऋ० १.७३.७, द्युम्नं प्रकाशमयं ज्ञानम् —द० भाष्य, ऋ० १.९.८।

८४. प्रभु की रक्षाएँ शाखाओं के समान फैली हुई हैं

अक्षो न चक्र्योः शूर बृहन् प्र ते मह्ना रिरिचे रोदस्योः।
वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वया व्यू३तयो रुरुहुरिन्द्र पूर्वीः॥

—ऋ० ६.२४.३

ऋषिः—भरद्वाजः बार्हस्पत्यः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पङ्क्तिः॥

(चक्र्योः[1] **)** रथ-चक्रों के **(अक्षः न)** योजक कीले के समान **(शूर)** हे शूरवीर इन्द्र! **(बृहन्)** महान् **(ते)** तेरी **(मह्ना**[2] **)** महिमा **(प्र रिरिचे)** बढ़ी हुई है **(रोदस्योः)** द्यावापृथिवी में। **(वृक्षस्य)** वृक्ष की **(वयाः नु**[3] **)** शाखाओं के समान **(पुरुहूत इन्द्र)** हे बहुस्तुत इन्द्र! **(ते)** तेरी **(पूर्वीः**[4] **ऊतयः)** श्रेष्ठ रक्षाएँ **(वि रुरुहुः**[5] **)** विविध दिशाओं में फैली हुई हैं।

रथ में दो पहिये होते हैं और उन दोनों पहियों को जोड़ने वाला एक लोहे का मोटा कीला होता है, जिसे अक्ष कहते हैं। जब रथ के धुरे पर जुता हुआ घोड़ा या बैल रथ को आगे की ओर खींचता है तब उस अक्ष के दोनों सिरों पर जुड़े हुए पहिए घूमते हैं और रथ आगे चलता है। यदि पहिए अक्ष से जुड़े हुए न हों तो रथ आगे नहीं बढ़ सकता। अतः रथ के चलने में 'अक्ष' का विशेष महत्त्व है। इस अक्ष के समान ही विश्व में 'इन्द्र' प्रभु की महिमा है। नीचे भूमि-रूप चक्र है और ऊपर सूर्य-रूप चक्र है। ये दोनों पारस्परिक आकर्षण-रूप अक्ष से जुड़े हुए हैं। भूमि के समान ही मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र आदि की भूमियाँ भी सूर्य-रूप चक्र के साथ आकर्षण की डोर से बँधी हुई हैं। यदि ये भूमियाँ सूर्य के साथ एक अक्ष द्वारा जुड़ी हुई न होतीं, तो हमारी भूमि तथा अन्य भूमियाँ परस्पर या किसी भी अन्य आकाशीय पिण्ड से टकरा कर चूर-चूर हो जातीं। यही स्थिति नभ में विद्यमान असंख्य तारों की भी है। वे भी परस्पर किसी अक्ष से बँधे हुए ही गति कर रहे हैं। सबको एक अक्ष से जोड़ने वाला 'इन्द्र' नामक परमेश्वर ही है, अतः महिमा उसी की है।

इन्द्र की महिमा के विषय में दूसरी बात यह है कि उसकी रक्षाएँ चारों ओर फैली हुई हैं। हम पग-पग पर उसकी रक्षाओं के ऋणी हैं। उसने प्रकृति में ऐसी व्यवस्था की हुई है कि सब कुछ नियमपूर्वक चल रहा है। नियम से दिन-रात आते-जाते हैं, नियम से ऋतुएँ आती-जाती हैं, नियम से बादल बनते हैं, वर्षा होती है, नदियाँ बहती हैं। हम निश्चिन्त हैं कि सूर्य हमारे ऊपर गिर नहीं पड़ेगा, पृथिवी फट नहीं जाएगी, वायु हमें उड़ा नहीं ले जाएगा, समुद्र हमें निगल नहीं लेगा, पहाड़ हमारे सिर पर नहीं आ गिरेगा। जैसे वृक्ष की शाखाएँ चारों ओर फैलकर मनुष्य के विश्राम के लिए छाया कर देती हैं, ऐसे ही प्रभु की चारों ओर फैली रक्षाओं ने हमें सुखी किया हुआ है। एक नास्तिक भाई परमेश्वर का खण्डन करते हुए कह रहे थे कि हमें किसी की रक्षा की आवश्यकता नहीं हैं, हम अपने रक्षक स्वयं हैं। तभी आकाश से कड़कड़ाती हुई बिजली गिरी। आस-पास के मकान सहित उनकी कोठी का बड़ा भाग ध्वस्त हो गया। पर वे सज्जन बचनहार थे, बच गये। तब से वे सच्चे आस्तिक हो गये। भाइयो! मत भूलो, प्रभु की रक्षाओं से ही हम रक्षित हैं।

---

१. चक्रि=चक्र। चक्र्योः=चक्रयोः। २. मह्ना महिमा —सायण।
३. रिचिर पृथग्भावे, लिट्। प्र-रिच्=बढ़ना।
४. नु-अथाप्युपमार्थे भवति, "वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः", वृक्षस्येव ते पुरुहूत शाखाः। वयाः शाखाः, वेतेः, वातायना भवन्ति। निरु' १.४। ५. पूर्वीः=पूर्व्यः, पूर्वसवर्णदीर्घ, प्रथमा बहुवचन।
६. रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च, लिट्। वि-रुह=विविध दिशाओं में फैलना।

८५. बँधे हुए भी बन्धन-रहित

शचीवतस्ते पुरुशाक शाका गवामिव स्रुतयः संचरणीः।
वत्सानां न तन्तयस्त इन्द्र दामन्वन्तो अदामानः सुदामन्॥

—ऋ० ६.२४.४

ऋषिः—भरद्वाजः बार्हस्पत्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**पुरुशाक**[1]) हे बहुत शक्तिशाली प्रभु! (**शचीवतः**[2] **ते**) प्रज्ञावान् और कर्मवान् तेरी (**शाकाः**) शक्तियाँ (**गवाम् इव स्रुतयः**[3]) गौओं की दुग्धधारों के समान (**संचरणीः**) संचरित होने वाली हैं। (**इन्द्र**) हे जगदीश्वर! (**ते तन्तयः**[4]) तेरे बन्धन (**वत्सानां न तन्तयः**) बछड़ों की बन्धन-रज्जुओं के समान हैं। (**सुदामन्**[5]) हे उत्कृष्ट बन्धनों वाले परमेश! [तेरे भक्त] (**दामन्वन्तः**) बन्धनों से बँधे हुए भी (**अदामानः**) बन्धनहीन [होते हैं]।

हे जगदीश्वर! तुम 'पुरु-शाक' हो, बहुत अधिक शक्ति से सम्पन्न हो। तुम्हारी शक्ति, तुम्हारी प्रज्ञा और क्रिया दोनों में प्रकट होती है। अतएव तुम 'शचीवान्' कहलाते हो, अर्थात् तुम शक्तिमयी प्रज्ञा और शक्तिशाली कर्म दोनों के धनी हो। 'शची' शब्द वेद में प्रज्ञा और कर्म दोनों का वाचक होता है। केवल प्रज्ञा या केवल कर्म अनर्थकारी हो सकते हैं। इसलिए दोनों का समन्वय या उचित अनुपात में विद्यमान रहना अभीष्ट होता है। हे परमेश! तुम इस समन्वय के आदर्शरूप हो। तुम्हारी प्रज्ञा और कर्म की शक्तियाँ हमारे ऊपर ऐसे ही बरसती रहती हैं, जैसे गौओं के थनों से दूध की धारें संचरित होती हैं। प्रभु-शक्तियों की दुग्ध-धारों से उपमा देने से यह सूचित होता है कि जैसे गोदुग्ध की धारें मनुष्य का पोषण या कल्याण ही करती हैं, वैसे प्रभु की शक्तियाँ भी मानव का पोषण और कल्याण ही करने वाली हैं।

मन्त्र के उत्तरार्ध में परमेश्वर के बन्धनों के विषय में कहा गया है। प्रभु ने हमें अपने कुछ बन्धनों या नियमों में बाँध रखा है। उन बन्धनों से हम ऐसे ही बँधे हुए हैं, जैसे रस्सियों से बछड़े बँधे होते हैं। बछड़ों को रस्सियों से बाँधे रखना गोपालकों के भी हित में होता है और बछड़ों के भी हित में। यदि वे खुले रहें, तो हर समय गाय के थनों में मुँह लगाये रहें। हम दूध दुहते समय ही उन्हें छोड़ते हैं और अपने लिए दूध दुहकर दो या एक थन का दूध उनके लिए रहने देते हैं, जिससे वे तृप्त हो लें। इसीप्रकार प्रभु ने जो हमें अपने नियमों की रस्सी में बाँध रखा है, वह हमारे तथा दूसरों के कल्याण के लिए ही है, अन्यथा हम नियमों के बन्धनों से स्वतन्त्र होकर कुमार्ग पर जाकर स्वयं को तथा समाज को हानि पहुँचा सकते हैं।

अन्त में कहा है कि प्रभु के बन्धनों से बँधे हुए भी हम बन्धनहीन हैं। कैसा सुन्दर विरोधालङ्कार है। इस विरोध का परिहार होता है इसप्रकार कि कोई बन्धन बन्धन तब कहाता है, जब वह कष्टदायक होता है। प्रभु ने जिन नियमों के बन्धनों से हमें बाँधा हुआ है, वे हमारे लिए सुखदायक होने से वस्तुतः बन्धन नहीं हैं। अतः बँधे हुए भी हम बन्धनहीन हैं।

आओ, हम भी गोदुग्ध के समान झरने वाली प्रभु की शक्तियों को प्राप्त करें और प्रभु के बन्धनों में बँधकर भी बन्धनहीन रहें।

---

१. पुरु=बहु, निघं० ३.१। शाक-शक्लृ शक्तौ, घञ्=अ प्रत्यय।
२. शची=प्रज्ञा, कर्म, निघं० ३.९, २.१।
३. स्रुति=धार, स्रु गतौ-क्तिन् प्रत्यय।
४. तनु विस्तारे। तन्यन्ते विस्तार्यन्ते याः ताः तन्तयः बन्धनरज्जवः।
५. शोभनानि दामानि बन्धनानि यस्य तादृश।

८६. हमारे लिए धन की नदी बहा दो

स रायस्खामुप सृजा गृणानः पुरुश्चन्द्रस्य त्वमिन्द्र वस्वः।
पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा॥

—ऋ० ६.३६.४

ऋषिः—नरः भारद्वाजः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**सः त्वम्**) वह आप (**इन्द्र**) हे परमेश्वर! (**गृणानः**[१]) सदुपदेश करते हुए [हमारी ओर] (**पुरुश्चन्द्रस्य**[२]) बहुत अधिक आह्लादक (**वस्वः**) बसाने वाले (**रायः**) धन की (**खाम्**[३]) नदी (**उप सृज**[४]) बहा दो। आप (**जनानाम्**) मनुष्यों के (**असमः**) अनुपम (**पतिः**) स्वामी (**बभूथ**[५]) हो और आप (**एकः**) अकेले (**विश्वस्य भुवनस्य**) सकल ब्रह्माण्ड के (**राजा**) राजा हो।

कुछ लोग कहते हैं कि धन-दौलत, वनिता, पुत्र-पौत्र सब कुछ जग का जंजाल है, इसे त्यागकर जंगल में जाकर तपश्चर्या में संलग्न होना चाहिए। किन्तु वैदिक स्तोता अपने प्रभु से प्रार्थना करता है कि हमारे लिए धन-सम्पदा की नदी बहा दो। धन कहते किसे हैं? जिन वस्तुओं से हमारे जीवन की आवश्यकताएँ पूर्ण होती हैं, जिनके बिना हम जीवित नहीं रह सकते हैं, वे ही धन हैं। इस दृष्टि से जल, वायु ताप एवं प्रकाश सबसे बड़े धन हैं। पर ये पदार्थ प्रचुरता के साथ हमें निःशुल्क मिले हुए हैं, इसीलिए इनके धन होने की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। इसके बाद शाक, अन्न, फल आदि खाद्य पदार्थ, दूध, घृत, तक्र, फलों के रस आदि पेय पदार्थ और कृषि आदि व्यवसायों के साधन, चिकित्सा-साधन, मनोरञ्जन के साधन तथा अन्य विविध उपकरण आते हैं। धन इन्हीं का नाम है। परन्तु ये पदार्थ क्योंकि मुद्रा से प्राप्त होते हैं, अतः मुद्रा को ही धन माना जाता है। मुद्रा को धन मानने का, दूसरा कारण यह है कि उपयोग से अधिक होने पर जमा मुद्रा को ही किया जा सकता है, अन्न-फल आदि को नहीं।

जब हम धन-दौलत की नदियाँ बहने की प्रार्थना करते हैं, तब हमारा अभिप्राय उपभोग्य पदार्थों से ही होता है, अन्यथा लाखों-करोड़ों की मुद्रा हमारे पास जमा हो, पर उपभोग्य पदार्थ न मिलते हों तो वह धन व्यर्थ है। नदियाँ बहनी चाहिएँ दूध-दही आदि की। धन के दो विशेषण मन्त्र में आये हैं 'पुरुश्चन्द्रस्य' और 'वस्वः'। धन होना चाहिए अत्यधिक आह्लादक और बसाने वाला। धन मिल गया, पर उससे व्यक्ति, परिवार और राष्ट्र में आह्लाद उत्पन्न न हुआ, तो ऐसा धन किस काम का है? धन यदि दुःख, पारस्परिक वैमनस्य और लड़ाई-झगड़े का हेतु बनता है, तो भी वह धन धन नहीं है। धन 'बसाने वाला' होना चाहिए, नकि उजाड़ने वाला।

हे प्रभु! तुम सब जनों के पति हो, स्वामी हो, रक्षक हो। तुम अकेले इस विशाल भुवन के राजा हो। तुम हमारे लिए धन की नदियाँ बहा दो, साथ ही हमें प्रेरणा भी करते रहो कि इस धन का उपयोग हमें किस प्रकार करना है।

---

१. गृ शब्दे, क्र्यादि, शानच्।
२. पुरु बहु चन्द्रः आह्लादः येन स पुरुश्चन्द्रः। 'ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे' पा० ६.१.१५१ से सुट् का आगम। पुरु=बहु, निघं० ३.१। चन्द्रः-चदि आह्लादे।
३. खन्यते इति खा नदी। खनु अवदारणे।
४. उप-सृज विसर्गे, भ्वादि।
५. बभूथ=बभूविथ। भू सत्तायाम्, लिट्।

८७. प्यासे प्रभु को भक्तिरस पिलाओ

प्रत्य॑स्मै पिपी॑षते॒ विश्वा॑नि वि॒दुषे॑ भर। अ॒रं॒ग॒मा॑य॒ जग्म॒येऽप॑श्चादद्ध्वने॒ नरे॑॥

—ऋ० ६.४२.१

ऋषिः–भरद्वाजः बार्हस्पत्यः॥ **देवता**–इन्द्रः॥ **छन्दः**–अनुष्टुप्॥

हे मानव! तू (**पिपीषते**[1]) प्यासे, (**विश्वानि विदुषे**) सबको जानने वाले, सर्वज्ञ, (**अरंगमाय**[2]) पर्याप्त [ऐश्वर्य एवं सद्‌गुण] प्राप्त कराने वाले, (**जग्मये**[3]) सर्वगत, सर्वान्तर्यामी, (**अपश्चाद्-दघ्वने**[4]) पीछे न धकेलने वाले, (**नरे**) नेतृत्व करने वाले (**अस्मै**) इस इन्द्र प्रभु के लिए (**भर**) [भक्ति-रूप सोमरस का] उपहार ला।

हे मानव! तू प्रभु से सत्प्रेरणाएँ पाने के लिए उसे भक्ति-रस पिला। वह तेरे भक्ति के सोमरस का प्यासा है, न जाने कब से इसकी बाट जोह रहा है। तू पूछेगा, क्यों पिलाऊँ उसे भक्ति का सोमरस? वह प्यासा है तो क्या, वह तो सर्वशक्तिमान् है, कहीं भी जाकर अपनी प्यास बुझा सकता है। भक्ति मैं उसी की क्यों करूँ? माता, पिता, आचार्य, उपदेशक, विद्वान्, संन्यासी, प्रधानमन्त्री, राजा, राष्ट्रपति आदि की भक्ति क्यों न करूँ, जिससे साक्षात् लाभ प्राप्त होता हुआ दीखता है? प्रभु की भक्ति तो कभी रंग लाती नहीं दीखती। प्रभु के भक्त पर सांसारिक आघात-प्रतिघात लगते रहते हैं। वह सिसकता रहता है, रोता-कलपता रहता है, विघ्नों, विपदाओं क्लेशों से घिरा हुआ दीन-हीन जीवन बिताता रहता है। कोई उसे पूछता नहीं। न प्रभु पूछते हैं, न प्रभु के दूत होने का दावा करने वाले सन्त महात्मा लोग पूछते हैं। इसके विपरीत प्रभुभक्ति का जो उपहास करते हैं, वे लोग फूलते-फलते, पनपते, समृद्ध होते दिखायी देते हैं। क्यों करूँ मैं उसकी भक्ति, क्यों करूँ उसकी पूजा?

सुन भाई, सुन। जो सन्देह तेरे मन में उदित हुआ है, वह कोई नया नहीं है। पहले भी वह अनेकों के हृदयों में उपजा है और उपजता रहता है। पर उस समय यह सन्देह, यह अविश्वास स्वयं विध्वस्त हो जाता है, जब उन्नति के चरम सोपान पर चढ़ा हुआ कोई नास्तिक वहाँ से गिरकर लुढ़कता-फुड़कता फिर जमीन की धूलि फाँकने लगता है। श्रद्धा कर हे सौम्य! प्रभु में श्रद्धा कर। तेरा कल्याण होगा। प्रभु सर्वज्ञ हैं, सर्वान्तर्यामी हैं। भक्ति का उपहार पाकर बदले में वे भक्त को पर्याप्त ऐश्वर्यों एवं सद्‌गुणों की निधि का प्रत्युपहार देने वाले हैं। वे अपने उपासक को कभी पीछे नहीं धकेलते, प्रत्युत आगे ही आगे बढ़ाते रहते हैं। वे सच्चे नेता हैं। स्वयं को उनकी सुरक्षित बाहों में सौंपकर तो देख, सब चिन्ताएँ मिट जाती हैं, सब व्यथाएँ शान्त हो जाती हैं। उनकी बाहों के झूले का आनन्द लेकर तो देख, तेरी सब शङ्काएँ स्वतः मिट जायेंगी। परम प्रभु तुझ पर कृपा करेंगे।

---

१. पिपीषते पातुमिच्छते। पा पाने, भ्वादि, इच्छा अर्थ में सन्, पिपीष, शतृ, पिपीषत्, चतुर्थी एकवचन, पिपीषते।

२. अरम् अलं गमयति प्रापयतीति अरंगमः, तस्मै।

३. गम्लृ गतौ, भ्वादि। 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च', पा० ३.२.१७१ से कि=इ प्रत्यय। लिट्वत् होने से द्वित्व। 'जग्मिः गन्ता', निरु० ५.१८।

४. दघ्यति गतिकर्मा, निघं० २.१४। न पश्चाद् दघयति गमयति यः सः, तस्मै। अपश्चाद् दघ्, वनिप् प्रत्यय।

८८. ज्ञान का रक्षक और कर्मठों का धारक बन

पाता सुतमिन्द्रो अस्तु सोमं हन्ता वृत्रं वज्रेण मन्दसानः।
गन्ता यज्ञं परावतश्चिदच्छा वसुर्धीनामविता कारुधायाः॥ —ऋ० ६.४४.१५

ऋषिः—शंयुः बार्हस्पत्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(इन्द्रः) मनुष्य का आत्मा **(सुतम्[१])** वीरता के सोमरस को **(पाता[२])** पीने वाला **(अस्तु)** हो। **(मन्दसानः[३])** तृप्त, उत्साहित होता हुआ **(वज्रेण)** वज्र से **(वृत्रं हन्ता[४])** पापी को मारने वाला हो। **(परावतः चित्)** दूरदेश से भी **(यज्ञम् अच्छ)** यज्ञ के प्रति **(गन्ता[५])** जाने वाला हो। **(वसुः)** बसाने वाला, **(धीनाम्)** ज्ञानों का **(अविता)** रक्षक और **(कारुधायाः[६])** कर्मठों का धारक हो।

संसार में बिना वीरता के कार्यनिर्वाह होना कठिन है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह वीरता के सोमरस का पान करे। तभी चारों ओर से आक्रमण करने वाले बाह्य तथा आन्तरिक रिपुदल को वह परास्त कर सकता है। वीरता का सोमरस प्याले में भरकर नहीं पिया जाता, वह तो आत्मा में अन्दर से ही उत्पन्न किया जाता है। वीरता को जागरित करके अभद्र और पाप के प्रति भर्त्सना एवं तिरस्कार का भाव यदि मनुष्य के स्वभाव का अंग बन जाए, तो वह इन्हें न अपने अन्दर सहन करेगा, न ही समाज के अन्दर। तब व्यक्तियों के शरीर-रूप देव-मन्दिर तथा समाज-रूप देव-मन्दिर दोनों ही पवित्र रहेंगे। प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य वीरता दिखाता है निर्बल के प्रति, जबकि उसे वीर होना चाहिए बलवान् बाह्य तथा आन्तरिक वैरियों के प्रति। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने अन्दर वीर-भावों को जगाकर वज्र से वृत्रों का संहार करे। मनोबल ही सच्चा वज्र है। मनोबल न होने पर बाह्य वज्र न केवल व्यर्थ सिद्ध होता है, अपितु इतना उल्टा पड़ता है कि शत्रु हमारे ही वज्र से हमारे ही सिर को चकनाचूर करता है। इसलिए धरती से पाप एवं पापी का नामनिशान मिटाना है, तो मनोबल-रूप वज्र का प्रयोग करना चाहिए। या तो हम पापी के पाप का उन्मूलन करके उसे धर्मात्मा बना दें और यदि पाप का घड़ा लबालब भर चुकने के बाद यह सम्भव न हो तो पापी को ही धराशायी कर दें।

मनुष्य को चाहिए कि वह यज्ञ को प्रोत्साहन दे। संगठनपूर्वक किया जाने वाला प्रत्येक लोकहितकारी कर्म यज्ञ है। उसमें तन-मन-धन जिससे भी सम्भव हो आहुति डालना कर्त्तव्य है। उसमें देशकृत दूरी को दूरी नहीं मानना चाहिए। दूर देश के यज्ञ में यहाँ बैठे-बैठे भी वैचारिक आहुति या धन की आहुति तो डाल ही सकते हैं। फिर मानव को 'वसु' बनना चाहिए। वह समाज को तथा राष्ट्र को बसाने का कार्य करे, उजाड़ने का नहीं। उसे 'धीनाम् अविता' अर्थात् ज्ञान-विज्ञानों का रक्षक होना चाहिए। ज्ञानी मनुष्य ने जिससे ज्ञान पाया है, उसके प्रति जो उसका ऋण है उसे वह ज्ञान के प्रसार द्वारा ही चुका सकता है। मनुष्य को 'कारुधायाः' भी होना चाहिए। कारु कहते हैं कर्मठ को। समाज में जो कर्मठ लोग हैं, उनका हम धारण करें, उन्हें समर्थन दें, उनके लोकहितकारी कार्य में सहायक बनें। इसप्रकार ज्ञानयोग तथा कर्मयोग के मेल से अपनी तथा संसार की उन्नति करना सबका कर्त्तव्य है।

---

१. सुतम्=अभिषुत सोमरस को। षुञ् अभिषवे, क्त। २. पा पाने, तृच्।
३. मदि स्तुतिमोदमदस्वप्रकान्तिगतिषु, उणादि असानच् प्रत्यय।
४. हन् हिंसागत्योः, तृच्। ५. गम्लृ गतौ, तृच्।
६. कारून् कर्मठान् दधाति यः स कारुधायाः।

८९. देखो, सोम प्रभु की अनोखी सृष्टि

अयं द्यावापृथिवी वि ष्कभायदयं रथमयुनक् सप्तरश्मिम्।
अयं गोषु शच्या पक्वमन्तः सोमो दाधार दशयन्त्रमुत्सम्॥

—ऋ० ६.४४.२४

ऋषिः—शंयुः बार्हस्पत्यः॥ देवता—सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(अयम्) इसने **(द्यावापृथिवी)** आकाश और पृथिवी को **(विष्कभायत्[1])** विशेषरूप से थामा हुआ है। **(अयम्)** इसने **(सप्तरश्मिं रथम्)** सात किरण-रूप लगामों वाले सूर्य-रूप रथ को **(अयुनक्[2])** जोड़ा है। **(अयं सोमः)** इस सोम परमेश्वर ने **(शच्या[3])** कर्म से **(गोषु अन्तः)** गौओं के अन्दर **(पक्वम्)** पके हुए **(दशयन्त्रम्)** दस अङ्गुलियों के यन्त्र से दुहे जाने वाले **(उत्सम्)** दुग्ध-स्रोत को **(दाधार[4])** रखा है।

जब मनुष्य ध्यान से इस जगत् को देखता है, तब वह दार्शनिक हो उठता है। वह सोचता है, यह सब कैसे किसके द्वारा उत्पन्न हुआ है, इसे व्यवस्थित और नियन्त्रित करने वाला कौन है? रात्रि में कभी विचार-मुद्रा में खुली छत पर लेटा हुआ आदमी जब आकाश की ओर निहारता है तब वह बिजली के लट्टू की तरह चमकती हुई तथा काली चादर में सुनहरी तारकशी से कढ़ी हुई बूटियों की तरह शोभायमान तारावली को देखकर विस्मय-विमुग्ध हो जाता है। गगन में असंख्य चमकती हुई नन्हीं-नन्हीं गेंदें बिना ही आधार के स्थित हैं, इस चमत्कार को करने वाला कौन है? पहाड़ों, जंगलों, नदियों, सागरों, तरह-तरह की खानों से भारवती इस भूमि को उठाये रखने वाला कौन है? पातालवासी लोग भूमि पर चलते हैं, उनके पग भूतल पर हैं और सिर नीचे हैं, गिरते क्यों नहीं? पातालवासी ही क्यों हमारी भी तो यही स्थिति है। भूमि के निचले गोलार्ध में जो लोग रहते हैं, उनके लिए हम पातालवासी हैं। वेद कहता है कि सर्वोत्पादक सोम प्रभु ने ही द्यावापृथिवी को धारण किया हुआ है। और इस आकाशसंचारी सूर्य-रथ की ओर भी दृष्टि डालो। प्राची में दीखकर घोड़े दौड़ाता हुआ यह सूर्य-रथ मध्याकाश में पहुँच जाता है और वहाँ से नीचे उतरता हुआ प्रतीची के क्षितिज पर थोड़ा-सा रुककर पुनः प्राची में पहुँचने के लिए चल पड़ता है। सप्तकिरण-रूप सात लगामों वाले इस रथ को किसने जोड़ा है? इसे जोड़ने वाले भी सोम प्रभु ही हैं।

यह तो जड़ जगत् की गाथा है। जरा, चेतन जगत् की ओर भी निहारो। गायों को ही ले लो। हरा घास-चारा खाने वाली गायों के अन्दर नवनीत तथा अन्य पौष्टिक तत्त्वों से युक्त पीतिमायुक्त सफेद दूध कौन उत्पन्न करता है? दस अङ्गुलियों के यन्त्र से दुहा जाने वाला यह दूध का झरना गायों के ऊधस् में कौन भरता है? बिना अँगीठी के गाय के शरीर में पकने वाले इस पौष्टिक रस का सर्जन कौन करता है? सोम प्रभु की ही यह करामात है। मन्त्रागत पक्व शब्द यह सूचित करता है कि गाय का धारोष्ण दूध स्वतः पका हुआ होता है; ताजा पिया जाए तो उसे अग्नि पर पकाने या उबालने की आवश्यकता नहीं है।

---

१. वि-स्कभि प्रतिबन्धे, भ्वादि, स्कम्भते। स्कम्भु स्कम्भे, सौत्र धातु, स्कभ्नोति, स्कभ्नाति, 'स्तम्भु स्तुम्भु स्कम्भु स्कुम्भु०', पा० ३.१.८२ से श्ना और श्नु। शायच् होनेपर लेट् लकार में विष्कभायत्।
२. युजिर योगे, रधादि, युनक्ति, युङ्क्ते। लङ् में अयुनक्।
३. शची=कर्म, निघं० २.१।
४. धृञ् धारणे, भ्वादि, धरति-धरते। दाधार, लिट्, अभ्यास को दीर्घ छान्दस, 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' पा० ६.१.७।

९०. यश की पुकार

इन्द्र ज्येष्ठं न आ भरँ ओजिष्ठं पपुरि श्रवः।
येनेमे चित्र वज्रहस्त रोदसी ओभे सुशिप्र प्राः॥

—ऋ० ६.४६.५

ऋषिः—शंयुः बार्हस्पत्यः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—बृहती॥

(इन्द्र) हे इन्द्र परमेश्वर! **(नः)** हमें **(ज्येष्ठम्)** बड़े-से-बड़ा, **(ओजिष्ठम्[१])** सर्वाधिक ओजमय, **(पपुरिम्[२])** सर्वत्र पूर्ण होने वाला **(श्रवः)** यश **(आभर)** प्रदान करो, **(येन)** जिस यश से **(चित्र)** हे अद्भुत! **(वज्रहस्त)** वज्रपाणि, **(सुशिप्र[३])** विस्तीर्ण कीर्ति वाले इन्द्र प्रभु! तुमने **(इमे)** इन **(उभे)** दोनों **(रोदसी)** द्यावापृथिवी को **(आ प्राः[४])** भर रखा है।

क्या तुम यश पाना चाहते हो? यश पाने का एक सरल उपाय चार्वाक सम्प्रदाय ने बताया है। सिर पर पानी, दूध या दही का गागर ले जाती हुई किसी बहिन का गागर फोड़ दो। किसी राही के कपड़े फाड़ दो। यदि तुम्हें रक्तपात में आनन्द आता है, तो किसी के पेट में छुरा भोंक दो, डाका डालने लगो, निर्दोष लोगों को बन्दूक की गोलियों से छलनी करने लगो, घरों में घुसकर लूट-पाट मचाने लगो, आग लगाने लगो। तुम्हारा नाम अखबारों में निकल जायेगा। तुम प्रसिद्ध हो जाओगे, यश मिल जाएगा।

क्या कहते हो? ऐसा यश हमें नहीं चाहिए, यह तो यश नहीं अपयश है। तो फिर आओ, इन्द्र प्रभु के दरबार में। उसके यश का आदर्श सामने रखकर उससे यश की याचना करो। इन्द्र परमेश्वर 'चित्र' है, संसार में विलक्षण कार्यों को करने वाला है। उसके कार्य क्या देखे नहीं? वह सूर्योदय और सूर्यास्त करता है, भूमि को अपनी धुरी पर तथा सूर्य के चारों ओर घुमाकर दिन-रात्रि लाता है और ऋतुचक्र-प्रवर्तन करता है। वह बिना आधार के चन्द्र, सूर्य, तारों को आकाश में स्थिर किये हुए है। उसने हिमाच्छादित पर्वत बनाये हैं, पर्वतों से नदियाँ बहायी हैं, समुद्र भरा है। वही बादल बनाता है, वर्षा करता है, वृक्ष-वनस्पति उगाता है, पर्वतों से झरने झराता है, प्रपात गिराता है, स्रोत बहाता है। वह प्रभु 'वज्रहस्त' है, अपने वज्र से असुरों, आततायिओं, राक्षस-वृत्ति के लोगों का संहार कर उन्हें दण्डित करता है। वह 'सुशिप्र' अर्थात् 'सुसृप्र' है, उसकी सुन्दर कीर्ति का विस्तार सर्वत्र हो रहा है। उसने द्यावापृथिवी के कण-कण में अपनी कीर्ति भरी हुई है। आकाश की नीलाभ चादर में सितारे टाँककर स्वयं को यशस्वी करने वाला कौन है? सूर्य में ताप और चन्द्रमा में ठण्ड पैदा करके तथा भूमि के अन्दर कोयले, सोने, चाँदी, नमक, तेल आदि की खानें भरकर कीर्ति उपार्जन करने वाला कौन है? वह इन्द्र प्रभु ही है। उसी परम प्रभु से हम याचना करते हैं कि हमें ज्येष्ठ, ओज-भरा, जग में पूर्ण हो जानेवाला, अद्भुत यश प्रदान करो। हे प्रभु! जो सुन्दर यश तुम्हारा है, उसी यश से हमें भी यशस्वी बना दो।

---

१. अतिशयेन ओजो विद्यते यस्मिन् तत्, ओजस्-इष्ठन्।
२. पृ पालनपूरणयोः, कि=इ प्रत्यय, आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च, पा० ३.२.१७१।
३. सुशिप्र=सुसृप्र। सृप्रः सर्पणात्, सुशिप्रम् एतेन व्याख्यातम्, निरु० ६.१७।
४. आप्राः=आप्रासीः। आ-प्रा पूरणे, अदादि, लुङ् वेद में च्लि का लुक्।

९१. प्रकाशविहीन क्षेत्र में आ पड़े हैं हम

अगव्यूति क्षेत्रमागन्म देवा उर्वी सती भूमिरंहूरणाभूत्।
बृहस्पते प्र चिकित्सा गविष्टावित्था सते जरित्र इन्द्र पन्थाम्॥ —ऋ० ६.४७.२०

ऋषिः—गर्गः भारद्वाजः॥ **देवता**—देवाः, भूमिः, बृहस्पतिः, इन्द्रः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥

(अगव्यूति[1]) गौओं अर्थात् ज्योतियों के योग से रहित, प्रकाशविहीन **(क्षेत्रम्)** क्षेत्र में **(आ अगन्म)** आ पड़े हैं [हम] **(देवाः)** हे देवो! **(उर्वी सती)** विस्तीर्ण होती हुई **(भूमिः)** भूमि **(अंहूरणा[2])** पाप से भरी **(अभूत्)** हो गयी है। **(बृहस्पते)** हे बृहस्पति! हे वाक्पति आचार्य! आप **(प्र चिकित्सा[3])** भली-भाँति चिकित्सा करो, त्रुटियाँ दूर करते हुए बोध प्रदान करो **(गविष्टौ[4])** गवेषणा में, प्रकाश की खोज में। **(इत्था सते)** ऐसी [प्रकाशहीन] हालत में पड़े हुए **(जरित्रे)** मुझ स्तोता को **(इन्द्र)** हे इन्द्र! हे सूर्यप्रभ परमात्मन्! **(पन्थाम्)** मार्ग [सुझाओ]।

'गो' शब्द के अनेक अर्थों में एक अर्थ किरण, ज्योति या प्रकाश भी होता है। जिसमें गौओं अर्थात् ज्योति की किरणों का योग नहीं है, वह क्षेत्र अगव्यूति कहाता है। हे देवो! हे अनुभवी विद्वज्जनो! हम प्रकाशविहीन क्षेत्र में आ पड़े हैं। चारों ओर अन्धेरा ही अन्धेरा दिखायी दे रहा है। दायें, बाँये, सामने, पीछे, ऊपर, नीचे कहीं भी प्रकाश की किरण नहीं दीख रही है, जो हमारा सहारा बन सके। क्या कहते हो? इस प्रकाशहीन क्षेत्र से निकलकर प्रकाशवान् क्षेत्र में क्यों नहीं चले जाते? प्रकाशवान् क्षेत्र है ही कहाँ, मेरे भाई, सारी भूमि ही तो पाप से परिपूर्ण हो गयी है। भूमि पर सभी जगह पाप का अन्धकार छाया हुआ है। सर्वत्र अविद्या पैर जमाये हुए है, सर्वत्र दुराचार का ताण्डव नृत्य हो रहा है। सर्वत्र अन्धविश्वास पनप रहे हैं। सर्वत्र अनीति का बोलबाला हो रहा है। सर्वत्र पूजापाठ के नाम पर ठगलीला बाजी मार रही है। अन्यत्र चला भी जाऊँ, तो गड्ढे से निकलकर खाई में चला जाना ही होगा।

हे देवो! हे सदाचारी विद्वान् महात्मा जनो! आपका हृदय तो प्रकाश से युक्त है। आपकी अन्तरात्मा तो धर्म से प्रकाशित है। आपके अन्दर तो प्रभु की दिव्य ज्योति भासमान हो रही है। आपके आत्मा में तो ज्ञान की किरणें जगमगा रही हैं। आपका मन तो साधुता का मन्दिर बना हुआ है। आप ही हमें विद्या का, ईश्वरभक्ति का, धर्म का, सदाचार का, पारस्परिक सद्भावना का, सौहार्द का, राष्ट्रसेवा का प्रकाश प्रदान करो।

हे बृहस्पति! हे आचार्यवर! आप विद्या और व्रतनिष्ठा के अधिनायक हो। आपके सांनिध्य में रहते हुए छात्र विद्यामधु का आस्वादन करते हैं और यम-नियमों का पालन करते हुए उत्तम नागरिक बनने के लिए तपस्यारत रहते हैं। आपकी अमृतमयी गोद में रहकर विद्या, भक्ति और तप का पयःपान करने के पश्चात् दृढ़व्रती होकर गुरुकुल से निकले हुए अनेक स्नातक देश में यदि प्रकाश फैलाने में संलग्न हो जाएँ, तो वह दिन शीघ्र ही आ सकता है, जब भूमि के कोने-कोने से अन्धेरा मिटकर प्रकाश का साम्राज्य छा जाए।

हे इन्द्र परमात्मन्! हे प्रभुवर! आपकी असीम कृपा भी प्रकाश का सूर्य भूमि पर उजागर करने के लिए चाहिए। आप जब तक अन्धेरे के बादल छाँटने का रास्ता नहीं बताओगे, तब तक हम भटकते ही रहेंगे। हे देवो! हे बृहस्पति! हे इन्द्र! आप हमें ज्योति के पथ पर अग्रसर करो।

---

१. यु मिश्रणेऽमिश्रणे च, क्तिन्, यूति। गो-यूति=गव्यूति। प्रकाश का योग।
२. अंहुरः अंहस्वान्, अंहूरणम् इत्यप्यस्य भवति —निरु० ६.२७।
३. प्र-कित निवासे रोगापनयने च। रोगापनयन अर्थ में स्वार्थ में सन् प्रत्यय होकर चिकित्सति रूप बनता है। चिकित्स, लोट्, मध्यमपुरुष, एकवचन। संहिता में दीर्घ छान्दस।
४. गो-इष्टि=गविष्टि=प्रकाश की इच्छा या खोज।

९२. दूसरे के पाप को दूसरा नहीं भोगता

मा व एनो अन्यकृतं भुजेम मा तत् कर्म वसवो यच्चयध्वे।
विश्वस्य हि क्षयथ विश्वदेवाः स्वयं रिपुस्तन्वं रीरिषीष्ट॥

—ऋ० ६.५१.७

ऋषिः—ऋजिश्वा भारद्वाजः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**विश्वदेवाः**) हे सब विद्वानो! (**वः**) तुम्हारे [हम] (**अन्यकृतम्**) दूसरे से किये हुए (**एनः**) पाप को (**मा भुजेम**[1]) न भोगें। (**वसवः**) हे बसाने वालो! (**तत् मा कर्म**[2]) वह हम न करें (**यत्**) जिसे (**चयध्वे**[3]) तुम निषिद्ध ठहराते हो। तुम (**विश्वस्य**) विश्व के (**हि**) निश्चय ही (**क्षयथ**[4]) निवासक हो। (**स्वयम्**) स्वयं ही (**रिपुः**) शत्रु (**तन्वम्**) [अपने] शरीर या विस्तार को (**रीरिषीष्ट**[5]) विनष्ट करा दे।

दूसरे से किये पाप को कोई दूसरा नहीं भोगता। यदि मेरे किसी पूर्वज सम्बन्धी ने किसी की हत्या की थी, तो दण्डनीय मैं नहीं हो सकता, जब तक यह सिद्ध न हो जाए कि मेरा भी उसमें हाथ था। यदि मेरे पिता ने किसी से बीस हज़ार रुपये ऋण लिये थे और मुझे पैतृक सम्पत्ति प्राप्त नहीं हुई है, तो मैं उसका देनदार नहीं ठहरता। यह दूसरी बात है कि मैं स्वयं पिता के प्रति निष्ठा के कारण नैतिक दृष्टि से अपने-आप को उसका देनहार मान लूँ। यदि मेरे भाई ने काला धन कमाया है, तो कारागार में मुझे नहीं डाला जा सकता, जब तक कि मैं भी उसमें साझी न रहा होऊँ। यदि मेरे पुत्र ने, जो मेरे आश्रित नहीं है, किन्तु अपना अलग घर बसा चुका है तथा अलग व्यवसाय करने लगा है, तस्करी की है और मैं उसमें सम्मिलित नहीं हूँ, तो कोड़े मुझ पर नहीं बरसाये जा सकते। यही वैदिक विधान है। हे वैदिक विधिविशेषज्ञ विद्वानो! तुम कानून द्वारा इस बात को सुनिश्चित कर दो।

हे विद्वानो! तुम हमें बसाने वाले हो, नकि विपरीत कर्म करा कर हमारा विध्वंस करने वाले। अतः तुम सदा हमें प्रेरणा करते रहो तथा विधान द्वारा यह बात तय कर दो कि जिन बातों को नैतिक एवं वैधानिक दृष्टि से तुमने निषिद्ध ठहराया है, उन्हें हम कभी नहीं करेंगे, यदि करेंगे तो दण्डनीय होंगे।

हे विद्वान् राज्याधिकारियो! हे न्यायाधिकारियो! समाज या प्रजा में जो व्यक्ति राष्ट्र के साथ शत्रुता करता है, या विश्वासघात करता है, उसे तुम कभी सहन नहीं करते हो। उसे तुम उसके अपराध के अनुसार अवश्य दण्डित करते हो, यहाँ तक कि यदि उसका वध करना उचित होता है तो वध भी करते हो। यदि शत्रु अपने राष्ट्र का न होकर दूसरे राष्ट्र का है, तो उसकी भी काली करतूतों को तुम नहीं सहते हो, प्रत्युत उसका संहार करके ही छोड़ते हो। असल में तुम्हारा इतना प्रभाव है कि तुम्हें उसका वध करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, वह स्वयं अपने-आप को विनाश के मुँह में डाल देता है, स्वयं अपनी करनी का फल पा लेता है।

हे विद्वानो! हम तुम्हें सम्मान देते हैं, तुम हमारा मार्गदर्शन करते रहो।

---

१. भुजेम=भुञ्जीमहि। भुज पालनाभ्यवहारयोः, अभ्यवहार=भोग, रधादि।
२. कर्म=कुर्याम।
३. चयते=हिंसार्थक। चयसे चातयसि, निरु० ४.२५।
४. क्षयथ=क्षाययथ। क्षि निवासगत्योः।
५. रिष हिंसायाम्, णिजन्त, विध्यर्थ में लुङ्।

९३. नष्ट सम्पदा पुनः प्राप्त करा दो

परि॑ पू॒षा प॒रस्ता॒द्धस्तं॑ दधातु॒ दक्षि॑णम्। पुन॑र्नो न॒ष्टमाज॑तु॥

—ऋ० ६.५४.१०

ऋषिः—भरद्वाजः बार्हस्पत्यः॥ देवता—पूषा॥ छन्दः—गायत्री॥

(**पूषा**[1]) सर्वाधिक परिपुष्ट तथा पोषक परमेश्वर (**परस्तात्**) दूर से (**दक्षिणं हस्तम्**) दाहिना हाथ (**परिदधातु**) थाम लेवे। (**पुनः**) फिर से (**नः नष्टम्**) हमारी नष्ट हुई वस्तु (**आ अजतु**[2]) प्राप्त करा देवे।

प्रत्येक व्यक्ति अपने से अधिक परिपुष्ट और बलवान् का हाथ पकड़ना चाहता है। इससे वह स्वयं को सुरक्षित अनुभव करता है। संसार में सबसे अधिक परिपुष्ट हैं पूषा प्रभु। जो स्वयं परिपुष्ट है, वही अन्यों को पुष्टि दे सकता है। अतः पूषा प्रभु निर्बलों और अपरिपुष्टों का हाथ थामकर उन्हें सबल एवं परिपुष्ट बनाने वाले हैं। परिपुष्ट जिसका सहायक हो; उसे किसी का भय नहीं रहता। अतः पूषा प्रभु को अपना हाथ थमाकर हम निर्भय हो जाते हैं। हमें कोई भी बाह्य या आन्तरिक शत्रु भयभीत नहीं कर पाता। जब हम निर्भय हो जाते हैं तब आगे बढ़ना हमारे लिए आसान हो जाता है। हे पूषा प्रभु! तुम हमारा दाहिना हाथ थामकर अर्थात् हमारे परम सहायक होकर हमें निर्भय, निश्चिन्त, सजग, बहादुर, अग्रगामी, रिपुध्वंसक, विजेता एवं राष्ट्रनिर्माता बना दो।

हे पूषा प्रभु! तुम हमारी नष्ट हुई वस्तु को हमें पुनः प्राप्त करा दो। हम न जाने अपनी क्या-क्या वस्तु नष्ट करते रहते हैं। अनभ्यास से हम अपना विद्या-वैभव नष्ट कर देते हैं। दान और भोग न करके चोरी में अपना धन नष्ट करवा देते हैं। ब्रह्मचर्य नष्ट कर देते हैं, सच्चरित्र नष्ट कर देते हैं, व्रत नष्ट कर देते हैं, कीर्ति नष्ट कर देते हैं। धर्म नष्ट कर देते हैं, धैर्य नष्ट कर देते हैं, क्षमाशीलता नष्ट कर देते हैं, जितेन्द्रियता नष्ट कर देते हैं, पवित्रता नष्ट कर देते हैं, क्रियाशीलता नष्ट कर देते हैं, सत्य नष्ट कर देते हैं, तप नष्ट कर देते हैं, स्वाध्याय नष्ट कर देते हैं, ईश्वर-प्रणिधान नष्ट कर देते हैं, स्वास्थ्य नष्ट कर देते हैं, सुख नष्ट कर देते हैं। हे पूषा प्रभु! तुम हमारी नष्ट हुई सम्पत्ति हमें पुनः प्राप्त करा दो। फिर-से हमें दिव्यगुणी, धार्मिक, उद्योगी, विजयी, सत्कर्म-परायण, विवेकी और यशस्वी बना दो। किसी समय हमारे देश में चोरी और लूटपाट नहीं होती थी, दुराचार नहीं होता था, कृपणता नहीं थी, सुरापान नहीं होता था, किसी से हार नहीं होती थी। हमारी विजयपताका सर्वत्र फहराती थी, हमारा चक्रवर्ती राज्य था। हे पूषा देव! वह नष्ट हुई सम्पदा हमें फिर प्राप्त करा दो।

हे पूषा परमेश! हमें तुम अपने समान परिपुष्ट तथा अन्यों का पोषक बना दो। हमें परिपुष्ट सूर्य बना दो।

---

१. पूष वृद्धौ, भ्वादिः। पूषति वर्द्धते, पोषयति वर्द्धयति वा यः स पूषा। उणादि कनिन्=अन् प्रत्यय।
२. अज गतिक्षेपणयोः, भ्वादि।

९४. जो अदेवी मायाओं को ध्वस्त कर देते हैं

इमे नरो वृत्रहत्येषु शूरा विश्वा अदेवीरभि सन्तु मायाः।
ये मे धियं पनयन्त प्रशस्ताम्॥ —ऋ० ७.१.१०

ऋषिः—वसिष्ठः मैत्रावरुणिः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—त्रिपदा विराड् गायत्री॥

(इमे) ये **(वृत्रहत्येषु[1])** पाप की हत्या के संग्राम में **(शूराः)** शूर **(नरः)** नेता लोग **(विश्वाः)** समस्त **(अदेवीः मायाः)** अदिव्य मायाओं को **(अभि सन्तु[2])** पराजित कर दें, **(ये)** जो नेता लोग **(मे)** मेरी **(प्रशस्ताम्)** प्रशस्त **(धियम्[3])** बुद्धि और क्रिया की **(पनयन्त[4])** प्रशंसा करते हैं।

समाज का नेतृत्व जिनके हाथ में होता है, वे लोग अप्रशस्त प्रज्ञाओं, विचारों तथा कर्मों की निन्दा करें और प्रशस्त प्रज्ञाओं, विचारों तथा कर्मों की प्रशंसा करें, उन्हें बढ़ावा दें, तभी समाज उन्नत हो सकता है। नेता लोग ही यदि दलबन्दी में लग जाएँ या जो विचारधारा समाज के लिए अहितकर है उसे बढ़ावा दें, जो कर्म समाज की कीर्ति को धूमिल करने वाले हैं उन्हें प्रश्रय दें, तो समाज निश्चय ही धरातल को चला जाएगा। नेता जनों को 'वृत्रहत्य' में अर्थात् दुःख, दौर्मनस्य, अभद्र, दुरित, पाप, अधर्म, असत्य, अशिव, असुन्दर के विनाश में शूर होना चाहिए, नकि सुख, सौहार्द, भद्र, पुण्य, धर्म, सत्य, शिव और सुन्दर के विनाश में। वृत्र शब्द आच्छादनार्थक या निवारणार्थक वृञ् धातु से बना है। वृत्र का एक अर्थ बादल भी होता है। बादल सूर्य के प्रकाश को ढक लेता है, या उसे भूमि पर आने से रोक लेता है, इसलिए उसे वृत्र कहते हैं। इसी प्रकार समाज में जो पुण्य को ढक लेता है, या उसके प्रसार में बाधक बनता है, वह पाप वृत्र कहाता है। उसके विनाश में शूरता दिखाना नेताओं का कर्त्तव्य है। नेतृत्व करने वालों को चाहिए कि वे समस्त अदेवी मायाओं को ध्वस्त कर दें।

उस दिन एक प्रसिद्ध विद्वान् का व्याख्यान खुले मैदान में मंच बनाकर रखा गया था। वे अपनी वाणी की कतरनी से एक-एक करके सब अदेवी मायाओं को कतरते जा रहे थे। उनके भाषण का जनता पर अच्छा प्रभाव हुआ। पर उनके अपने घर में अदेवी माया पनप रही थी। किसी ने टोक दिया तो कहने लगे—भाई, घर की अधिष्ठात्री तो गृहिणी होती है, उसे स्वतन्त्र न छोड़ दूँ, तो क्या झगड़ा करूँ? इस प्रकार अदेवी मायाओं का ध्वंस नहीं हो सकता है। ध्वंस करना है तो आरम्भ अपने घर से करना होगा। याद आती है उस दिव्य संन्यासी दयानन्द की ओजस्विनी मूर्त्ति, जिसने अपने साथ कोई अदेवी माया नहीं पाल रखी थी, जो आदित्य बनकर सब पाखण्ड-जाल के अन्धकार को ध्वस्त करने के लिए इस धराधाम पर अवतीर्ण हुआ था, जिसकी वाणी में जादू था, जिसकी करनी में आदर्श था। ऐसे ही नेताओं से समाज प्रशस्त होता है।

हे अग्नि प्रभु! हमें ऐसे ही आदर्श नेताओं के अनुयायी होने का गौरव प्रदान करो।

---

१. वृत्राणां पापानां हत्या येषु तेषु संग्रामेषु।
२. अभिपूर्वक अस भुवि धातु अभिभव (पराजय) अर्थ में।
३. धी=कर्म, प्रज्ञा, निघं० २.१, ३.९।
४. पन स्तुतौ, भ्वादि। पनं स्तुतिं करोतीति पनयते, 'तत्करोति तदाचष्टे' से णिच्। पनय धातु से लङ्, अट् का अभाव।

९५. अग्निहोत्र पाप से भी बचाता है

सेदुग्निर्यो वनुष्यतो निपाति समेद्धारमंहस उरुष्यात्।
सुजातासः परि चरन्ति वीराः॥ —ऋ० ७.१.१५

ऋषिः—वसिष्ठः मैत्रावरुणिः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट् अनुष्टुप्॥

(सः इत्) वही **(अग्निः)** अग्नि है, **(यः)** जो **(वनुष्यतः[1])** हिंसक रोग आदि से **(निपाति)** बचाये और **(समेद्धारम्)** प्रदीप्त करने वाले की **(अंहसः)** पाप से **(उरुष्यात्[2])** रक्षा करे। **(सुजातासः)** शुभ जन्म पाये हुए **(वीराः)** वीर **(परिचरन्ति)** [सच्चे अर्थों में अग्नि की] पूजा करते हैं।

यदि तुम यह समझते हो कि यज्ञवेदि में अग्नि प्रज्वलित करके उसमें घृत-सामग्री की आहुति द्वारा जल-वायु को सुगन्धित करने मात्र से अग्निहोत्र का प्रयोजन पूर्ण हो गया, तो तुम भूल करते हो। वेद कहता है कि अग्नि तो वही है जो हिंसक रोगादि से भी बचाये और पाप से भी। बालक में अग्निहोत्र का संस्कार पड़ना तभी से आरम्भ हो जाता है, जब वह माता के गर्भ में होता है, क्योंकि माता-पिता दैनिक अग्निहोत्र करते हैं। शुभ जन्म के पश्चात् वह पालने में लेटा हुआ अग्निहोत्र के दृश्य को देखता रहता है। जब वह बैठने योग्य हो जाता है, तब माता-पिता के साथ अग्निहोत्र में बैठता भी है। मन्त्र सीखने पर मन्त्रोच्चारण करता हुआ आहुति भी देता है। पर उसका यह अग्निहोत्र माता-पिता की अग्नि में होता है, उसकी कोई स्वतन्त्र अग्नि नहीं होती। जब वह गुरुकुल में प्रविष्ट होता है, तब आचार्य उसका यज्ञोपवीत संस्कार करके विधिपूर्वक उसे यज्ञ का अधिकारी बना देते हैं। पर गुरुकुल के विद्याध्ययन-काल में भी उसकी कोई अपनी अग्नि नहीं होती, वह आचार्य की अग्नि में ही अग्निहोत्र करता है। वह आहिताग्नि या अपनी स्वतन्त्र अग्नि वाला बनता है गृहस्थाश्रम में प्रवेश के उपरान्त। उस समय पत्नी-सहित वह अपनी गृह्य अग्नि में अग्निहोत्र करता है। पश्चात् वानप्रस्थ हो जाने पर भी अग्निहोत्र छूटता नहीं। हाँ, संन्यास आश्रम में उसकी अनिवार्यता नहीं रहती।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में विभिन्न रोगों के निवारणार्थ भिन्न-भिन्न ओषधियों की धूनी लेने का विधान मिलता है। जिस ओषधी की धूनी जिस रोग को दूर कर सकती है, उससे अग्निहोत्र करने पर अनेक वैयक्तिक एवं सामूहिक रोगों का निवारण हो सकता है। यह तो अग्निहोत्र का बाह्य लाभ है। पर अग्नि से अग्निहोत्री को अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक पाप भस्म करने की प्रेरणा भी लेनी होती है, तभी अग्निहोत्र पूर्ण होता है। जैसे अग्नि वायुमण्डल की मलिनताओं को दग्ध करके उसे शुद्ध कर देता है, ऐसे ही हम भी व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन से पाप दग्ध करके स्वयं को तथा समाज को शुद्ध बनायें। माता-पिता से तथा आचार्य-आचार्या से शुभ जन्म पाये हुए वीर युवक-युवतियाँ अग्निहोत्र के महत्त्व को जानते हुए सच्चे अर्थों में अग्नि-पूजा करते हैं और उससे दोनों प्रकार के लाभ प्राप्त करते हैं।

---

१. वनुष्यतिः हन्तिकर्मा, निरु० ५.२। वनुष्य धातु, शतृ प्रत्यय, पञ्चमी विभक्ति।
२. उरुष्यतिः रक्षाकर्मा, निरु० ५.२३। उरुष्य धातु, लेट् लकार।

९६. द्रविण की भिखारिन हमारी वाणियाँ

अच्छा गिरो मतयो देवयन्तीरग्निं यन्ति द्रविणं भिक्षमाणाः।
सुसंदृशं सुप्रतीकं स्वञ्चं हव्यवाहमरतिं मानुषाणाम्॥ —ऋ० ७.१०.३

ऋषिः—वसिष्ठः मैत्रावरुणिः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥

हमारी (**मतयः**[१]) मननपूर्वक बोली गयी (**गिरः**) वाणियाँ (**देवयन्तीः**[२]) हमें देव बनाना चाहती हुई, (**द्रविणम्**) धन और बल की (**भिक्षमाणाः**) भिक्षा माँगती हुई (**अग्निम् अच्छ**) अग्रनेता प्रभु की ओर (**यन्ति**) जा रही हैं। कैसे प्रभु की ओर? (**सुसन्दृशम्**) जो उत्तम संद्रष्टा है, (**सुप्रतीकम्**) सुरूपवान् है, (**स्वञ्चम्**[३]) शुभ गति वाला अर्थात् क्रियाशील है, (**हव्यवाहम्**) आत्मसमर्पण-रूप हव्य को स्वीकार करने वाला है और (**मानुषाणाम् अरतिम्**[४]) मनुष्यों का स्वामी है।

द्रविण धन का नाम है, क्योंकि धन के प्रति सब दौड़ते हैं (द्रु गतौ)। बल को भी द्रविण कहते हैं, क्योंकि बल के द्वारा लोग किसी वस्तु को पाने के लिए दौड़ लगाते हैं, अर्थात् प्रयत्न करते हैं[५]। ये धन और बल दोनों प्रकार के द्रविण फिर दो-दो प्रकार के हो जाते हैं—भौतिक तथा आध्यात्मिक। भौतिक धन-दौलत ईशानुकम्पा होने पर वह पा लेता है, जिसे धन कमाने की कला आती है। आध्यात्मिक दौलत मिलती है गुरु की चरणसेवा से, तपस्या से और परमेश्वर की कृपा से। जिसके पास आध्यात्मिक दौलत है, उसके आगे पृथ्वी का सम्राट् भी नतमस्तक होता है। आध्यात्मिक दौलत के धनी को भौतिक धन की लालसा नहीं रहती। वह ऋषि बन जाता है और एकमात्र लंगोटी बाँधे, देह पर भभूत रमाये रहकर भी संसार को ऐसा साहित्य दे जाता है, जो युग-युग तक अमर रहता हुआ प्रकाश देता रहता है। भौतिक या शारीरिक बल मिल जाता है ब्रह्मचर्यसाधन, उचित आहार-विहार एवं व्यायाम से। आध्यात्मिक बल मिलता है योगानुष्ठान, तपस्या, गुरुकृपा एवं परमेश्वर की प्रेरणा से। आध्यात्मिक बल को ब्रह्मबल या ब्राह्मतेज भी कहते हैं। ब्रह्मबल के आगे बड़े-से-बड़ा भी दैहिक बल या क्षात्रबल हार मानता है[६]।

हम द्रविण के भिखारी हैं। द्रविण के सबसे बड़े स्रोत परम देव 'अग्नि' प्रभु हैं। अतः हम उनके सम्मुख झोली पसारते हैं। हम अपनी स्तुति-वाणियों से परम प्रभु को रिझाते हैं। हमारी स्तुति-वाणियाँ मनन-चिन्तनपूर्वक बोली गयी हैं। प्रभु हमारे मनों में विद्यमान अनुच्चारित वाणियों को भी सुन लेते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि वे सच्चे हृदय से निकली हों तथा मननपूर्वक प्रेरित की गयी हों। जो वाणियाँ मननपूर्वक नहीं होती हैं, उनमें या तो झूठी खुशामद होती है या अभिमान भरा रहता है। ऐसी वाणियाँ प्रभु के दरबार में अनसुनी हो जाती हैं। पर हमारी वाणियाँ तो मति-रूप हैं, अर्थात् सुविचारित हैं। ये वाणियाँ 'देवयन्ती' भी हैं, अर्थात् हमें देव बनाना चाहती हैं। मानव जब तक देव नहीं बन जाता, तब तक संसार में दिव्यता का साम्राज्य नहीं स्थापित हो सकता।

कैसे हैं वे अग्नि प्रभु, जिनसे मेरी वाणियाँ 'द्रविण' की भिक्षा माँग रही हैं? वे 'सु-सन्दृश' अर्थात् उत्कृष्ट संद्रष्टा हैं। वे मानव का किया भला या बुरा सब कुछ देख लेते हैं और तदनुरूप फल प्रदान करते हैं। वे 'सु-प्रतीक' हैं, सुन्दर-रूप वाले हैं। उनका सत्य-शिव-सुन्दर दिव्य स्वरूप उपासक के मन को मोह लेता है। वे 'सु-अञ्च्' हैं, अतिशय कर्मशील हैं। वे 'हव्यवाह्' हैं, भक्त की आत्मसमर्पण-रूप हवि को स्वीकारते हैं। वे मनुष्यों के 'अरति' हैं, स्वामी हैं, अधीश्वर हैं। आओ, हे अग्रनेता देव! हमें द्रविण की भिक्षा दो।

---

१. मन्यन्ते इति मतयः, मन ज्ञाने, क्तिन् प्रत्यय। 'गिरः' का विशेषण।
२. देवान् अस्मान् कामयन्ते इति देवयन्त्यः। वेद में परेच्छा अर्थ में भी क्यच् होता है।
३. सु शोभनम् अञ्चति गच्छति क्रियाशीलो भवति यः तम्। अञ्चु गतिपूजनयोः।
४. ऋ गतिप्रापणयोः, औणादिक अति प्रत्यय।
५. धनं द्रविणम् उच्यते यदेनद् अभिद्रवन्ति। बलं वा द्रविणं यदेनेन अभिद्रवन्ति —निरु० ८.१।
६. धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्म तेजो बलं बलम्। वा० रामायण, बालकाण्ड, ५६.२३

९७. हमारी योगसिद्धि की कामनाएँ पूर्ण हों

वंस्व विश्वा वार्याणि प्रचेतः सत्या भवन्त्वाशिषो नो अद्य॥

—ऋ० ७.१७.५

ऋषिः—वसिष्ठः मैत्रावरुणिः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—द्विपदा त्रिष्टुप्॥

(**वंस्व**[1]) प्रदान करो (**विश्वा**) सब (**वार्याणि**) वरणीय [योगजन्य ऐश्वर्यों] को, (**प्रचेतः**[2]) हे योगप्रज्ञा प्रदान करने वाले परमेश! (**सत्याः**) सत्य (**भवन्तु**) हों (**आशिषः**[3]) योगसिद्धि की इच्छाएँ, (**नः**) हमारी (**अद्य**) आज।

हे परमेश! तुम 'प्रचेताः' हो, चेताने वाले हो, कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक करनेवाले हो, योगप्रज्ञा प्रदान करने वाले हो। चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम योग है। चित्तवृत्तियाँ पाँच प्रकार की कही गयी हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। अभ्यास और वैराग्य से इन वृत्तियों का निरोध सम्भव होता है। योग की प्रवृत्ति कुछ लोगों में पूर्व जन्म के संस्कार-वश स्वभाव से होती है, दूसरों का योग श्रद्धा, वीर्य (उत्साह), स्मृति, समाधि और प्रज्ञा इस क्रम से सिद्ध होता है। ईश्वरप्रणिधान से भी योग सिद्ध होता है। ईश्वर पूर्वजों का भी गुरु है, क्योंकि वह काल से सीमित नहीं है। उसका वाचक पद 'ओम्' है, अर्थ-भावनपूर्वक ओंकार का जप करने से प्रत्यक्-चेतना जीवात्मा का स्वरूप अधिगत हो जाता है तथा व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति आदि चित्तविक्षेप-रूप विघ्न तथा उनके सहभावी दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास एवं प्रश्वास दूर हो जाते हैं। समाधि दो प्रकार की होती है, सबीज और निर्बीज। सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार ये चार स्थितियाँ सबीज समाधि की हैं, जिनमें संसार का बीज कुछ-न-कुछ बना रहता है। इनमें निर्विचार समाधि की निर्मलता होने पर अध्यात्म-प्रसाद प्राप्त हो जाता है, इस स्थिति में ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कार भी निरुद्ध हो जाने पर निर्बीज समाधि आती है। तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान यह क्रियायोग कहलाता है। इससे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक पञ्चक्लेश अल्प होकर समाधि-सिद्धि में सहायता मिलती है। विवेकी पुरुष विषय-भोगजन्य सुख को भी दुःख ही मानता है। वह कैवल्य-प्राप्ति के लिए योगमार्ग का अवलम्बन करता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये योग के आठ अङ्ग हैं। इनके निरन्तर अभ्यास से योग-जिज्ञासु समाधि द्वारा विवेकख्याति होने पर कैवल्य प्राप्त कर लेता है।

हे परमेश! तुम हमें योगजन्य दिव्य ऐश्वर्य प्राप्त कराओ। हमारी योगसिद्धि में सहायक होकर हमें कैवल्य-प्राप्ति के अधिकारी बनाओ।

---

१. वन संभक्तौ, भ्वादि। आत्मनेपद छान्दस। वंस्व=संभज, द० भाष्य।
२. प्रकर्षेण चेतयतीति प्रचेताः। प्र-चिती संज्ञाने, णिजन्त, असुन्।
३. आशिषः=इच्छाः —द० भाष्य।

९८. तीनों धनों का राजा

तवेदिन्द्रावमं वसु त्वं पुष्यसि मध्यमम्।
सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि नकिष्ट्वा गोषु वृण्वते॥

—ऋ० ७.३२.१६

ऋषिः—वसिष्ठः मैत्रावरुणिः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—बृहती॥

(तव इत्) तेरा ही **(इन्द्र)** हे जीवात्मन्! **(अवमं वसु)** निचला धन है। **(त्वम्)** तू ही **(पुष्यसि)** पुष्ट करता है **(मध्यमम्)** बीच के धन को। **(सत्रा)** सचमुच ही **(विश्वस्य)** समस्त **(परमस्य)** परम धन का भी **(राजसि)** [तू ही] राजा है। **(नकिः)** कोई भी नहीं **(त्वा)** तुझे, तेरी गति को **(गोषु)** पृथिव्यादि लोकों में **(वृण्वते[1])** रोक सकते हैं।

धन तीन प्रकार का है, निचला, बीच का और सबसे ऊँचा। स्थूल व्याख्या यह की जा सकती है कि निचला धन भूमि पर विद्यमान सोना-चाँदी, हीरे-मोती, कन्द-फल, दूध-घी आदि है; बीच का धन अन्तरिक्ष में विद्यमान मेघ-जल है और सबसे ऊपर का धन सूर्य का ताप और प्रकाश है। पर असल में तो ये सब धन भौतिक होने से अवम या निचले धन में ही आते हैं। इनके अतिरिक्त शारीरिक स्वास्थ्य भी अवम धन ही है। हमारे पास पाञ्चभौतिक शरीर में त्वचा, मांस, मज्जा, अस्थि तथा श्वास-संस्थान, पाचन-संस्थान, रक्त-संस्थान आदि विभिन्न संस्थान हैं। इनका पोषण और स्वस्थ रहना भी एक धन ही है। बाह्य सब धन इन्हीं के पोषण और स्वास्थ्य के लिए ही हैं। यदि ये ही स्वस्थ नहीं रहते हैं, तो बाह्य सब धन धन नहीं प्रत्युत सङ्कट प्रतीत होने लगते हैं। मध्यम धन मन और बुद्धि से सम्बन्ध रखता है। मनुष्य के अन्दर मनोबल और बुद्धिबल अन्य प्राणियों की अपेक्षा विशिष्ट धन है। मन के दृढ़-सङ्कल्प से, आशावाद से, महत्त्वाकांक्षा से, बुद्धि-बैभव से मानव ने संसार में बड़े-बड़े कार्य सिद्ध किये हैं, बड़ी-बड़ी सफलताएँ प्राप्त की हैं। पहाड़ जैसी कठिनाइयों पर भी उसने विजय पायी है, लोक-हित के नये-नये अविष्कार किये हैं, ज्ञान-विज्ञान का प्रवाह बहाया है। पातञ्जल योगशास्त्र में वर्णित विभिन्न योगसिद्धियाँ भी इस मध्यम धन के ही अन्तर्गत हैं, जो कइयों को पूर्व जन्म के संस्कारों के वश प्राप्त होती हैं तथा कई लोग उन्हें अभ्यास से प्राप्त करते हैं। कई व्यक्ति दूसरों के मन की बात बता देते हैं। कई लोग जब विशेष मानसिक स्थिति में होते हैं, तब किसी के भूत, भविष्य की बहुत-सी बातें बता सकते हैं। मानसी सिद्धि के बल से कहीं विदेश में होने वाली या मङ्गल, बुध, चन्द्रमा आदि ग्रह-उपग्रहों में घटित होने वाली घटना देखी जा सकती है। ये सब शक्तियाँ मध्यम धन हैं। परम धन है आत्मा और परमात्मा के मेल से प्राप्त होने वाला ब्रह्मानन्द-रूप धन। इन तीनों धनों का स्वामी, तीनों धनों का राजा मनुष्य का जीवात्मा ही है। अन्त में मन्त्र कहता है कि इस जीवात्मा-रूप इन्द्र की गति निर्बाध है। यह यदि मन में ठान ले तो कोई इसे आगे बढ़ने से रोक नहीं सकता।

आओ, हम भी अपने आत्मा को तीनों धन पाने के लिए प्रेरित करें तथा निर्बाध गति से आगे बढ़ें।

---

१. वृञ् वरणे, स्वादि। यहाँ वारणार्थक है। नकिः वृण्वते=केऽपि न वारयन्ति —सायण।

९९. अतिथि-सत्कार

यदा वीरस्य रेवतो दुरोणे स्योनशीरतिथिराचिकेतत्।
सुप्रीतो अग्निः सुधितो दम आ स विशे दाति वार्यमियत्यै॥ —ऋ० ७.४२.४

ऋषिः-वसिष्ठः मैत्रावरुणिः॥ देवता-अग्निः॥ छन्दः-त्रिष्टुप्॥

(**यदा**) जब (**वीरस्य रेवतः**[1]) वीर धनिक के (**दुरोणे**[2]) घर पर (**अतिथिः**) अतिथि (**स्योनशीः**[3]) सुख से शयन करता हुआ (**आचिकेतत्**[4]) [सत्कार को] जानता है, अनुभव करता है और (**अग्निः**) वह अतिथि-रूप अग्नि (**दमे**[5]) घर में (**सुप्रीतः**) सुप्रसन्न, (**सुधितः**[6]) सुतृप्त (**आ**) हो जाता है, तब (**सः**) वह (**इयत्यै**[7]) आती हुई (**विशे**) प्रजा को (**वार्यम्**) वरणीय उपदेश (**दाति**[8]) प्रदान करता है।

वैदिक संस्कृति में अतिथि-सत्कार को एक यज्ञ माना गया है तथा अतिथि को अग्नि कहा गया है। जैसे अग्निहोत्र-रूप यज्ञ श्रद्धा से किया जाता है, वैसे ही अतिथि-यज्ञ भी श्रद्धापूर्वक ही होता है। भार समझकर आगन्तुक को भोजन आदि कराना न आतिथ्य कहाता है, न ही अतिथि-यज्ञ। वेद कहता है कि किसी राजा के भी घर में यदि कोई विद्वान् व्रतनिष्ठ अतिथि आये तो वह उसे अपने से बड़ा माने। यदि वह ऐसा करता है तो राजधर्म का ही पालन करता है, अन्यथा अपराधी होता है[9]। वेद का यह भी आदेश है कि यदि कोई सद्गृहस्थ अग्निहोत्र करने के लिए तैयार हो चुका हो, उस समय कोई अतिथि आ जाए तो उससे स्वीकृति लेकर ही अग्निहोत्र करने बैठे[10]। यदि वह किसी आवश्यक कार्य से आया है तथा अग्निहोत्र से होने वाले विलम्ब को सहन करने की स्थिति में नहीं है, तो पहले उसका आतिथ्य करके उसे सन्तुष्ट करे, तत्पश्चात् अग्निहोत्र करे।

प्रायः देखा गया है कि धनिकों की अपेक्षा गरीब लोग अपनी स्थिति के अनुसार अच्छा आतिथ्य करते हैं। प्रस्तुत मन्त्र का यह भाव निकलता है कि जब किसी धनी के घर पर अतिथि पहुँचे, तब वह भोजन, शयन आदि का अच्छे से अच्छा प्रबन्ध करे, उसे पूर्ण तृप्त तथा सुप्रसन्न करे। वह अतिथि को जो कुछ देगा, उससे अधिक अतिथि उसे दे देगा। गृहस्वामी अतिथि को दूध, दही, घी, मक्खन, मलाई तथा अन्य उत्तमोत्तम खाद्य-पेय देगा, सोने के लिए आरामदायक गद्दा, चादर, रजाई, तकिया देगा, उसे कहीं जाना होगा तो उसके लिए अच्छे वाहन का प्रबन्ध करेगा, विदा के समय उसे दक्षिणा देगा। बदले में विद्वान् वेदज्ञ अतिथि सब गृहवासियों को वेदोपदेश करेगा, अपने अनुभव की उपयोगी बातें बतायेगा। परिवार के किसी सदस्य में कोई त्रुटि देखेगा तो उसके सुधार की प्रेरणा करेगा। इसप्रकार आतिथ्य करने वाला किसी घाटे में नहीं, अपितु लाभ में ही रहता है। यह तो वेद ने आतिथ्य का फल बताया है, जिसमें अतिथि का कर्त्तव्य भी सम्मिलित है। पर किसी लाभ की आशा से किये गये आतिथ्य में वह शोभा और आत्मसन्तोष नहीं है, जो कर्त्तव्य मानकर किये गये आतिथ्य में है। अतिथि में प्रभु निवास करते हैं। श्रद्धा एवं कर्त्तव्य-बुद्धि से किये गये आतिथ्य से प्रभु-प्रसाद प्राप्त होता है। 'रूखा-सूखा भोजन, भूमि, जल और मीठी वाणी' इतना तो सभी के पास है, जिससे अतिथि निहाल हो सकता है।

---

१. रेवतः=रयिमतः। रयि-मतुप्। रेवत्, षष्ठी एकवचन रेवतः।
२. दुरोण=गृह, निघं० ३.४। दुरोण इति गृहनाम, दुरवा भवन्ति दुस्तर्पाः, निरु० ४.५।
३. स्योनं सुखं शेते स्वपिति यः सः। स्योन=सुख, निघं० ३.६। शीङ् स्वप्ने, अदादि।
४. कित ज्ञाने, जुहोत्यादि, चिकेत्ति। लेट्, तिप्, चिकेतत्।
५. दम=गृह, निघं० ३.४।
६. सु-धा-क्त। सुधितवसुधित० पा० ७.४.४५ से आ को इ निपातित। लोक में धा को हि आदेश होकर 'सुहित' रूप होता है। सुहित=संतृप्त।
७. इयत्यै=उपगच्छन्त्यै—सायण। इण् गतौ, शतृ, स्त्रीलिंग, इयती, तस्यै।
८. दाति=ददाति। दाति दानकर्मा, निघं० ३.२०।
९. अथर्व० १५.१०.१,२
१०. अथर्व० १५.१२.१-३

१००. चमको, हे उषा! चमको

अन्तिवामा दूरे अमित्रमुच्छोर्वीं गव्यूतिमभयं कृधी नः।
यावय द्वेष आ भरा वसूनि चोदय राधो गृणते मघोनि॥

—ऋ० ७.७७.४

ऋषिः–वसिष्ठः मैत्रावरुणिः॥ **देवता**–उषसः॥ **छन्दः**–त्रिष्टुप्॥

हे उषा! (**अन्तिवामा**[१]) समीपस्थ सौन्दर्य वाली [तू] (**अमित्रम्**) अमित्र को (**दूरे उच्छ**[२]) दूर कर दे। (**उर्वीम्**) विस्तीर्ण (**गव्यूतिम्**[३]) मार्ग को और (**अभयम्**) निर्भयता को (**कृधी**) कर (**नः**) हमारे लिए। (**यावय**[४]) दूर कर दे (**द्वेषः**) द्वेष को। (**आ भर**) ला (**वसूनि**) [पारस्परिक प्रेम-रूप] धनों को। (**चोदय**) प्रेरित कर (**राधः**) सफलता को (**गृणते**[५]) प्रभु-स्तोता के लिए, (**मघोनि**) हे ऐश्वर्यमयी!

अनुपम सौन्दर्य के साथ, हे उषा! तुम गगन में चमको। रात्रि के तमःस्तोम-रूप अमित्र को दूर कर दो। अन्धकार को किनारे लगाकर विस्तीर्ण मार्ग, जिसे हमें पार करना है, दर्शाओ। रात्रिकाल में मन में जो भय व्यापा हुआ था, उसे हटाकर हमें दीर्घ जीवन-यात्रा के लिए निर्भय कर दो। विद्वेष-भार को उठाये रखकर सफल यात्रा हो सकना सम्भव नहीं है। अतः हमारे चित्त में जो पारस्परिक विद्वेष की भावनाएँ भरी हुई हैं, उन्हें हे उषा! हमारे अन्दर से निकाल दो। अथवा यह कहना अधिक ठीक है कि कालिमा-रहित तुम्हारे उज्ज्वल प्रकाश से प्रेरणा लेकर हम विद्वेष की कालिमा को दूर करके पारस्परिक प्रेम की भावनाओं से अपने हृदय को उज्ज्वल कर लें। हे उषा! तुम सौहार्द के धन हमें प्रदान करो। तुमसे शिक्षा लेकर हम ज्ञान के प्रकाश और हार्दिक उल्लास के साथ सदा सफलता की ओर ही पग बढ़ाते जाएँ। हे प्रकाश के ऐश्वर्य से भरपूर उषा! हम प्रभुभक्तों को निरन्तर उक्त लाभ प्राप्त कराती रहो।

हे नारी! तुम भी उषा हो। उषा भौतिक प्रकाश से युक्त होती है, तुम ज्ञान के प्रकाश से युक्त हो। उषा में प्राकृतिक सौन्दर्य होता है, तुममें सद्गुणों का सौन्दर्य है। यदि तुम्हारे अन्दर अमैत्री के भाव पनप रहे हैं, तो उन्हें दूर कर दो। स्वयं सन्मार्ग की राही, निर्भय, निर्द्वेष, प्रेममयी, सफलता को चूमने वाली तथा ऐश्वर्यशालिनी होती हुई हमें भी वैसा ही बनाओ।

हे आध्यात्मिक उषा! तुम भी हमारे जीवन में चमको। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अमित्रों को हमसे दूर कर दो। ऊर्ध्वयात्रा के लिए विशाल और कण्टकाकीर्ण मार्ग को हमारे लिए सुगम करके हमें आनेवाले विघ्नों से निर्भय कर दो। द्वेष और अध्यात्म-साधना एक-दूसरे के विरोधी हैं, अतः द्वेष को हमारे अन्दर से निकाल दो। आन्तरिक दिव्य वसु और दिव्य सफलता हमें प्रदान करो।

---

१. अन्ति अन्तिके वामं वननीयं कमनीयं प्रशस्यं रूपं यस्याः सा। वाम=प्रशस्य, निघं० ३.८। वामस्य वननीयस्य, निरु० ४.२६। वनोति कान्तिकर्मा, निघं० २.६।
२. उछी विवासे, भ्वादि।
३. गावः यूयन्ते एकत्र भूत्वा गच्छन्ति यत्र सा गव्यूतिः मार्गः। यु मिश्रणे अमिश्रणे च। गो-यूति, ओ को-अवादेश।
४. यावय=यवय, छान्दस दीर्घ। यु मिश्रणे अमिश्रणे च, णिजन्त।
५. गृणाति अर्चतिकर्मा, निघं० ३.१४। शतृ, चतुर्थी एकवचन।

१०१. देवों का प्रसाद

अ॒स्मे इन्द्रो॒ वरु॑णो मि॒त्रो अ॑र्य॒मा द्यु॒म्नं य॑च्छन्तु॒ महि॑ शर्म॑ स॒प्रथः॑।
अ॒व॒ध्रं ज्योति॒रदि॑ते॒र्ऋता॒वृधो॑ दे॒वस्य॒ श्लोकं॑ सवि॒तुर्म॑नामहे॥

—ऋ० ७.८२.१०

ऋषिः—वसिष्ठः मैत्रावरुणिः॥ देवता—मन्त्रोक्ताः इन्द्रवरुणादयः॥ छन्दः—जगती॥

(**अस्मे**) हमें (**इन्द्रः**) इन्द्र, (**वरुणः**) वरुण, (**मित्रः**) मित्र, (**अर्यमा**) अर्यमा (**द्युम्नम्**) [अपना-अपना] तेज और (**महि**) महान् (**सप्रथः**[1]) कीर्तियुक्त (**शर्म**[2]) सुख (**यच्छन्तु**) प्रदान करें। (**ऋतावृधः**) सत्यवर्धक (**अदितेः**) अदिति की (**अवध्रम्**[3]) अहिंसनीय एवं अहिंसक (**ज्योतिः**) ज्योति और (**देवस्य सवितुः**) देव सविता का (**श्लोकम्**) यश (**मनामहे**[4]) [हम] माँगते हैं।

इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा, अदिति, सविता सब जगत्पति परमेश के ही नाम हैं। तो भी क्योंकि प्रत्येक से परमेश्वर के अलग-अलग गुण-कर्म-स्वभाव सूचित होते हैं, अतः अलग-अलग देवों के सदृश वर्णित हुए हैं। इन्द्र वीरता और ऐश्वर्य का देव है। अपनी वीरता से वह सब असुरों या आसुरी वृत्तियों का संहार करता है। अपने धन से वह सबको ऐश्वर्यवान् करता है। वीरता और ऐश्वर्य ही उसका तेज है। वरुण पापनिवारण का देव है। वह मानों अपने असंख्य नेत्रों तथा गुप्तचरों के द्वारा सब कुछ देख लेता है, उससे कुछ भी छिपा नहीं रहता। वह पाशपाणि है, दुष्कर्म करने वालों को अपने दण्डपाश से बाँध लेता है। इसप्रकार पापों से मनुष्यों को रोकता है। मित्र मैत्री का देव है, वह अपनी मैत्री की रज्जु से बाँधकर सबको विश्वमैत्री का सन्देश देता है। अर्यमा श्रेष्ठों का मान तथा दुष्टों का दलन करने वाला न्याय का देव है। इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा इन चारों के उपरिनिर्दिष्ट गुण-कर्म-स्वभाव ही इन-इन देवों के तेज हैं। हम प्रार्थना करते हैं कि ये सब देव हमें भी अपना-अपना तेज प्रदान करें। साथ ही इनका जो महान् और जगद्विख्यात सुख है उसे भी हमें देवें। इनके गुणों को धारण करते हुए हम सदा सुखी होवें।

अदिति देवी अखण्डनीयता, अविनश्वरता या अदीनता की प्रतीक है। अमर अदीन जगन्माता ही अदिति है। वह सदा सत्य को ही बढ़ाती है, असत्य का उन्मूलन करती है। उसकी ज्योति 'अवध्र' है, अहिंसनीय तथा अहिंसक है। उसकी ज्योति जिस पर पड़ जाती है, वह विघ्न-बाधाओं के थपेड़ों से अहिंस्य तथा अदीन होता हुआ निरन्तर सत्य से समुन्नत होता चलता है। हम अदिति की उस ज्योति की याचना करते हैं। साथ ही 'सविता' देव के यश को भी हम पाना चाहते हैं। सविता प्रेरणा का देव है। वह साधकों के हृदय में सदा सत्प्रेरणा करता रहता है। वह सविता सूर्य के समान प्रकाश का देव भी है। वह उत्पादन का देव भी है। सत्प्रेरणा, प्रकाशप्रदान एवं नवीन उत्पादन से ही वह यशस्वी बना हुआ है। उसके इस यश को हम भी माँगते हैं।

हे परमेश! इन्द्र, मित्र आदि नामों को धारण करने वाले तुम इन नामों से सूचित होने वाली विशेषताओं को हमारे अन्दर भी धारण कराकर हमें कृतार्थ कर दो।

---

१. प्रथसा यशसा सह वर्तते इति सप्रथः, प्रथ प्रख्याने।
२. शर्म=सुख, निघं० ३.६।
३. हन्तुमशक्यम्, अहन्तृ वा। न-वध्-रन् प्रत्यय औणादिक।
४. मनामहे याञ्चाकर्मा, निघं० ३.१९।

१०२. सरस्वान् की सरस लहरियाँ

ये ते॑ सरस्व ऊ॒र्मयो॒ मधु॑मन्तो घृत॒श्चुतः॑। तेभि॑र्नोऽवि॒ता भ॑व॥

—ऋ० ७.९६.५

ऋषिः—वसिष्ठः मैत्रावरुणिः॥ **देवता**—सरस्वान्॥ **छन्दः**—गायत्री॥

(ये) जो **(ते)** तेरी **(सरस्वः)** हे सरस्वान्, **(ऊर्मयः)** लहरियाँ **(मधुमन्तः)** मधुर तथा **(घृतश्चुतः)** जल को बहाने वाली हैं, **(तेभिः)** उनसे **(नः)** हमारा **(अविता)** रक्षक **(भव)** हो जा।

हे पर्जन्य! हे बादल! तू सरस्वान् है, रस से भरा हुआ है। तेरी वर्षा की फुहारें बड़ी ही मधुर, मनभावनी और निर्मल-शीतल जल को भूमि पर लाने वाली हैं। नित्य बरसात में, गगन में छाने वाला तू उनके द्वारा हमारी रक्षा करता रह।

हे पवन! तू भी सरस्वान् है, रसीला है। तेरी जलकणों से युक्त मन्द-मन्द लहरियाँ बड़ी ही मधुमय, आह्लाददायक तथा शक्ति प्रदान करने वाली हैं। उनसे तू हमें सुख-संतृप्ति प्रदान करता रह।

हे परमेश प्रभु! तुम भी सरस्वान् हो, रसमय हो। तुम्हारे रस की गङ्गा में स्नान करने वाले ऋषि ने अपना अनुभव बताते हुए ठीक ही कहा है—**रसो वै सः**[1]। जो तुम्हारे दिव्य रस की अनुभूति पा लेता है, वह आनन्दी हो जाता है। तुमसे मिलने वाले ब्रह्मानन्द रस की परिभाषा करना असम्भव है, वह अवर्णनीय है, अतुलनीय है। फिर भी ऋषि गणना करते हुए कहते हैं—यदि किसी सर्वाङ्गसुन्दर, सुदृढ़, बलिष्ठ युवक को धन-धान्य से परिपूर्ण सारी पृथिवी मिल जाए, तब उसे जो आनन्द होता है वह **मानुष** आनन्द कहाता है। ऐसे सौ आनन्द मिलकर एक **मनुष्य-गन्धर्वों** का आनन्द बनता है। ऐसे-ऐसे सौ आनन्द मिलकर एक **देव-गन्धर्वों** का आनन्द बनता है। ऐसे-ऐसे सौ आनन्द मिलकर एक **चिरलोक-पितरों** का आनन्द होता है। ऐसे-ऐसे सौ आनन्द मिलकर एक **आजान-देवों** का आनन्द होता है। ऐसे-ऐसे सौ आनन्द मिलकर एक **कर्म-देवों** का आनन्द होता है। ऐसे-ऐसे सौ आनन्द मिलकर एक **देवों** का आनन्द होता है। ऐसे-ऐसे सौ आनन्द मिलकर एक **इन्द्र** का आनन्द होता है। ऐसे-ऐसे सौ आनन्द मिलकर एक **बृहस्पति** का आनन्द होता है। फिर ऐसे-ऐसे सौ आनन्द मिलकर एक **प्रजापति** का आनन्द होता है। पुनः प्रजापति के सौ आनन्द मिलकर एक **ब्रह्मानन्द** बनता है[2]। तो कितना महान् है ब्रह्मानन्द! हे रसागार प्रभु! तुम्हारा उपासक तुम्हारे दिव्य मधुर आह्लादक, शान्तिप्रद, आनन्दरस की लहरियों से उत्तरङ्गित एवं चमत्कृत होकर कृतकृत्य हो जाता है। हे सरस्वान् प्रभु! अपने दिव्य आनन्द-रस की लहरियाँ हमें भी प्राप्त कराओ, हमें भी अपना सखा बनाकर हमारी अङ्गुलि पकड़कर अपनी उन आनन्द की तरंगिणियों में तैराकर, डुबकियाँ लगवाकर कृतार्थ करो।

---

१. तैत्ति० उप० ब्रह्मवल्ली, अनुवाक ७।
२. वही, अनु० ८।

१०३. असत् के वक्ता की हम दुर्गति कर देंगे।

यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः।
आपइव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता॥

—ऋ० ७.१०४.८

ऋषिः—वसिष्ठः मैत्रावरुणिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(यः) जो **(पाकेन[1] मनसा)** परिपक्व मन से **(चरन्तम्)** विचरते हुए **(मा)** मुझे **(अनृतेभिः वचोभिः)** असत्य वचनों से **(अभिचष्टे[2])** निन्दित करता है, झिड़कता है, वह **(असतः वक्ता)** असत् का वक्ता, **(इन्द्र)** हे परमेश्वर! **(काशिना[3])** मुट्ठी से **(संगृभीताः[4])** संगृहीत किये हुए, भींचे हुए **(आपः इव)** जलों के समान **(असन् अस्तु)** अविद्यमान हो जाए, नष्ट हो जाए।

हम समय-समय पर कई प्रकार के चिन्तन और निश्चय करते रहते हैं। जब शुभ चिन्तन और शुभ निश्चय करते हैं, तब विरोधी विचार उसमें बाधा डालने का प्रयत्न करते हैं। हमारे अन्दर बैठा हुआ असुर अनृत परामर्शों से हमें दूषित करना चाहता है। वह कहता है कि श्रेष्ठ कर्म करने का क्या तुम्हीं ने ठेका लिया है? देखो, सब लोग खा-पीकर मौज मना रहे हैं, परार्थ कष्ट उठाने का तुम्हीं क्यों बीड़ा उठाते हो? हम निश्चय करते हैं यज्ञ करने का। असुर कहता है यज्ञ में जितना धन बर्बाद करते हो, उतना अपने तन के लिए खर्च करो तो सेहत बन जाए। हम निश्चय करते हैं बच्चों की पाठशाला खोलकर विद्याप्रचार करने का। असुर कहता है कि तुमसे पहले क्या देश के बच्चे सब अनपढ़ और मूर्ख ही होते रहे हैं? हम निश्चय करते हैं वेदप्रचार का। असुर कहता है—वेदप्रचारक लोग अपने घर में तो वेद की धज्जी उड़ाते हैं, वेद का सन्देशा दूसरों को ही सुनाते हैं। हम निश्चय करते हैं फौज में भर्ती होकर शत्रु के छक्के छुड़ाने का या देशहित बलिदान होने का। असुर कहता है कि देश के करोड़ों नौजवानों में से यह कार्य क्या तुम्हारे ही माथे पर लिखा है?

पर आज हमने अपने मन को परिपक्व कर लिया है, दृढ़ बना लिया है। हम सत्य के पथिक बन गये हैं। अन्दर बैठा राक्षस यदि अनृत परामर्शों से हमारे मन को दूषित करना चाहेगा, तो हम उसकी दुर्गति बनाकर ही रहेंगे। देखो, नदी में से मुट्ठी में पानी भरकर मुट्ठी को भींचते हैं, तो क्या होता है? पानी का नाम-निशान नहीं बचता। ऐसी ही हालत हम अन्तरात्मा में बैठे उस पिशाच की कर देंगे, जो हमें अनृत सलाहें देगा, सन्मार्ग पर जाने से रोकेगा, कुमार्ग पर जाने की प्रेरणा करेगा। संसार में उसकी हस्ती नहीं बचेगी। वह असत् का वक्ता स्वयं असत् हो जाएगा।

आओ, साथियो! मन को परिपक्व करें, सुदृढ़ करें और किसी भी असद् वक्ता से लोहा लेने को तैयार हो जाएँ।

---

१. पच्यते इति पाकः परिपक्वः। पाक=प्रशस्य, निघं० ३.८।
२. चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि, अदादिः। अभिचष्टे=भर्त्सयते, निन्दति।
३. काशिः=मुट्ठी। काशिः मुष्टिर्भवति, काशनाद् वा प्रकाशनाद् वा —निरु० ६.१।
४. संगृभीताः=संगृहीताः। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' से ह् को भ्।

१०४. मैं असत्यदेव नहीं हूँ

यदि वाहमनृतदेव आस मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने।
किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम्॥

—ऋ० ७.१०४.१४

ऋषिः—वसिष्ठः मैत्रावरुणिः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(यदि वा अहम्) यदि मैं **(अनृतदेवः)** असत्यदेव **(आस[1])** हूँ, **(मोघं वा)** अथवा व्यर्थ ही, दिखावे के लिये **(देवान् अप्यूहे[2])** देवपूजा करता हूँ, तो **(किम्)** किस कारण **(अस्मभ्यम्)** हमारे लिये **(जातवेदः अग्ने)** हे घटित घटनाचक्र को जानने वाले न्यायाधिकारी एवं धर्माधिकारी, **(हृणीषे[3])** लज्जा या सङ्कोच करते हो। **(द्रोघवाचः[4])** द्रोही वाणी वाले असत्य भाषी लोग **(ते)** तुम्हारे द्वारा दिये जाने वाले **(निर्ऋथम्[5])** कष्ट या वध-दण्ड को **(सचन्ताम्[6])** सेवन करें, प्राप्त होवें।

कुछ लोग ऐसा छद्म आचरण रखते हैं कि अन्दर से तो असत्यदेव होते हैं और दिखाते यह हैं कि मैं पक्का सत्यदेव हूँ। दूसरों को प्रभावित करने के लिये वे देवालयों में जाते हैं, सत्सङ्गों में बैठते हैं, साधु-सन्तों तथा विद्वानों से सम्बन्ध बनाते हैं। एक व्यक्ति गायों को कसाइयों के हाथ बेचने का प्रच्छन्न व्यापार करते थे, पर साथ ही गोरक्षिणी सभा के प्रधान भी बने हुए थे। एक सज्जन विधवा-आश्रम के सक्रिय सदस्य थे, पर वे विधवाओं का विवाह करने के नाम पर मोटी रकम लेकर विधवाओं को बेचते थे। एक भाई अनाथालय के मन्त्री थे, पर अनाथों के नाम से जो चन्दा आता था, वह सब उनके घर में जाता था। ऐसे अनेक छद्मवेषी सत्यदेव समाज में रहते हैं, जिन्हें अभिनन्दन-पत्र समर्पित किये जाते हैं और पत्र-पत्रिकाओं में जिनकी प्रशंसाएँ छपती हैं। वे आनन्द से रहते हैं। उनकी करतूतों का किसी को पता भी नहीं चलता।

इसके विपरीत कुछ ऐसे सज्जन भी होते हैं, जो होते तो सत्यदेव हैं, परन्तु ईर्ष्यालु लोग उन्हें असत्यदेव के रूप में प्रचारित करते हैं। उनकी चुगलियाँ और शिकायतें बड़े-बड़े राज्याधिकारियों तथा धर्माधिकारियों के पास पहुँचती हैं और अधिकांश लोग उन्हें असत्यदेव ही मानते हैं। ऐसा ही एक व्यक्ति प्रस्तुत मन्त्र में बोल रहा है। वह शपथपूर्वक कह रहा है कि मैं असत्यदेव नहीं हूँ। गुप्तचरों द्वारा पूरी छानबीन कर लो। यदि यह सिद्ध हो जाता है कि मैं वस्तुतः अनृताचारी हूँ, अपने अनृत को छिपाने हेतु दिखावे के लिये ही देवपूजक बना हुआ हूँ, तो हे न्यायमूर्त्तियो! हे धर्माधिकारियो! तुम सङ्कोच क्यों करते हो? मुझे उग्र से उग्र दण्ड का पात्र बनाओ। चाहे मुझे कारागार में डालकर असह्य से असह्य कष्ट दो, चाहे मुझे वध-दण्ड दे दो। जो 'द्रोघवाक्' हैं, छद्मवाक् हैं तथा छद्मकर्मा हैं, उन्हें दण्डित होना ही चाहिए।

---

१. आस=बभूव। अस भुवि, लट् के अर्थ में लिट्, छान्दस रूप।
२. अपि-ऊहे। वह प्रापणे, भ्वादि, लिट्।
३. ह्री लज्जायाम्, जुहोत्यादि। व्यत्यय से श्रा, धातु को संप्रसारण।
४. द्रोघवाचः=द्रोहवाचः।
५. निर्-ऋ हिंसायाम्, स्वादि, औणादिक थक् प्रत्यय।
६. सचन्ताम्=सेवन्ताम्। षच सेचने सेवने च, भ्वादि।

१०५. आओ, हे आत्मन्! आओ

क्वेयथ क्वेदसि पुरुत्रा चिद्धि ते मनः।
अलर्षि युध्म खजकृत् पुरन्दर प्र गायत्रा अगासिषुः ॥

—ऋ० ८.१.७

ऋषिः—मेधातिथिः, मेध्यातिथिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥

हे इन्द्र! हे मेरे आत्मन्! (**क्व इयथ**[१]) कहाँ चले गये थे, (**क्व इत् असि**) कहाँ हो? (**ते मनः**) तुम्हारा मन (**पुरुत्रा**[२] **चित् हि**) बहुतों में [गया हुआ है]। (**युध्म**[३]) हे योद्धा! (**खजकृत्**[४]) हे संग्रामकर्त्ता! (**पुरंदर**[५]) हे शत्रु-पुरियों को विदीर्ण करने वाले! (**अलर्षि**[६]) आओ। (**गायत्राः**) उद्बोधन-गीत (**प्र अगासिषुः**[७]) तुम्हारा प्रकृष्ट गान कर रहे हैं।

हे मेरे आत्मन्! तुम्हीं इस शरीर के राजा हो। जैसे बाह्य राजा लोग अपने-अपने राष्ट्र पर शासन और नियन्त्रण करते हैं, वैसे ही तुम इस देह-राष्ट्र पर नियन्त्रण रखते हो। मन, बुद्धि, प्राण, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ आदि सबको सही दिशा में चलाने वाले तुम ही हो। पर यदि कोई राजा ही राष्ट्र को छोड़कर कहीं चला जाए, या राष्ट्र में रहता हुआ भी बेसुध पड़ा रहे, तो उस राष्ट्र की जैसी दुर्गति होती है, वैसी ही दुर्गति इस देह की हो जाती है, यदि तुम इसे छोड़ देते हो या इसमें रहते हुए भी नियन्त्रण से अपना हाथ खींच लेते हो। इस समय मेरी भी वही दुर्दशा हो रही है। हे मेरे जीवात्मा! क्यों तुम मुझे बार-बार छोड़ जाते हो? कहाँ चले गये थे? अब भी तो नहीं दीखते, कहाँ हो? देखो, यह चञ्चल मन, जो पहले तुम्हारे शासन में रहता था, अब न जाने कहाँ-कहाँ भटक रहा है? कभी काम के वशीभूत होकर मुझे सुरा-सुन्दरी की ओर खींच ले जाता है, कभी क्रोध के वशीभूत हो मुझे आपे से बाहर कर देता है, कभी लोभ के वश में आकर मुझे तस्करी आदि अवैध उपायों से धन-संग्रह में लगा देता है, कभी मोह में पड़कर मुझसे नासमझी की बातें कराने लगता है। कभी मुझसे दम्भ कराता है, कभी द्वेष कराता है, कभी दर्प में चूर कर देता है, कभी हिंसा में संलग्न कर देता है, कभी पापों में प्रवृत्त कर देता है। मैं इसे बाँधकर रखने का यत्न करता हूँ, तो यह खूँटा तुड़ाकर भाग जाता है। कभी कहीं की सोचता है, तो कभी कहीं की। परिणाम यह हुआ है कि मेरे इस देह में आसुरी राज्य छा गया है।

हे मेरे आत्मन्! असुरों को भगाने के लिये मैं न जाने कब से तुम्हारी बाट जोह रहा हूँ। तुम अडिग योद्धा हो, डटकर संग्राम करने वाले हो। आओ, रिपुओं से लोहा लो। एक-एक को चुन-चुनकर मार भगाओ। पूर्णरूप से पहले की तरह इस देह-राज्य का नियन्त्रण अपने हाथ में ले लो। हम आशावादी हैं, महत्त्वाकांक्षी हैं, पर तुम्हारे बिना कुछ भी कर सकने में स्वयं को असमर्थ पा रहे हैं। तुम पुनः आकर देह-राष्ट्र की बागडोर सँभालो। हम उद्बोधक गीतों से तुम्हें बुला रहे हैं। आओ, हे आत्मन्! आओ।

---

१. इ गतौ, भ्वादि, लिट्, मध्यम पुरुष, एकवचन।
२. पुरु=बहु, निघं० ३.१। सप्तमी के अर्थ में त्रा प्रत्यय।
३. युध संप्रहारे, दिवादि। औणादिक मक् प्रत्यय।
४. खज=संग्राम, निघं० २.१७। खजं करोतीति खजकृत्।
५. पुरं दृणातीति पुरंदरः। पुरं-दृ विदारणे, खच्=अ प्रत्यय।
६. ऋ गतौ, जुहोत्यादि, इयर्षि। छान्दस रूप अलर्षि। द्रष्टव्य, पा० ७.४.६५।
७. गै शब्दे, भ्वादि, लुङ्।

१०६. हम इन्द्र को पुकारते हैं

इन्द्रमिद् देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे।
इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये॥

—ऋ० ८.३.५

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥

(इन्द्रम्) इन्द्र को **(इत्)** निश्चय ही **(देवतातये[1])** देवत्व-प्राप्ति के लिए; **(इन्द्रम्)** इन्द्र को **(प्रयति[2])** प्रवृत्त होने पर **(अध्वरे[3])** हिंसारहित यज्ञ के; **(इन्द्रम्)** इन्द्र को **(समीके[4])** संग्राम में **(वनिनः[5])** [हम] गायक या सहयोगी लोग **(हवामहे[6])** पुकारते हैं। **(इन्द्रम्)** इन्द्र को **(धनस्य)** धन की **(सातये[7])** प्राप्ति के लिए [पुकारते हैं]।

मानव को यह सर्वोत्कृष्ट शरीर मिला है ऊपर उठने के लिए, देव बनने के लिए। पर वह तो नीचे गिरता जा रहा है, पशु बनता जा रहा है। यह राष्ट्रों के बीच फैली हुई पारस्परिक असहिष्णुता, शत्रुता, छीना-झपटी, मार-काट, धोखा-धड़ी पशुता ही की तो निशानी है। पशु सींगों से आपस में लड़ते हैं, मनुष्य ने लड़ने के लिए मारक हथियार बना लिये हैं। प्रत्येक राष्ट्र अपनी सैन्य-शक्ति बढ़ाने पर तुला हुआ है। पर अब तो हम ऊब गये हैं इस मारा-मारी से, इस राक्षसीपन से, इस पशुता से। अब तो हम सब मिलकर इन्द्र प्रभु को पुकारते हैं कि वह हमें देवत्व की ओर ले जाए। देव वे कहलाते हैं, जो त्यागी एवं परोपकारी होते हैं, जो आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत होते हैं, जो परमेश में रमते हैं एवं उसके साथ क्रीड़ा करते हैं, जिनके अन्दर पाशविक शक्तियों पर विजय पाने की अदम्य लालसा होती है, जो मानवता के साथ सद्व्यवहार करते हैं, जो प्रभु के स्तोता होते हैं, जो स्वप्नद्रष्टा होते हैं, जो ब्रह्मानन्द में मोद मनाते हैं, जो कर्त्तव्यपालन में मस्त रहते हैं, जो सद्गुणों की कान्ति से चमकते हैं, जो ऊर्ध्व गति वाले होते हैं[8]। इन गुणों से युक्त देव बनने के लिए हम इन्द्र को पुकारते हैं।

हम अध्वर-याग रचा रहे हैं, अहिंसा-यज्ञ का अपने जीवन में और जग के जीवन में सूत्रपात कर रहे हैं। कार्य बहुत बड़ा है, पर इन्द्र प्रभु की सहायता से कुछ भी असम्भव नहीं है। इस यज्ञ के प्रवृत्त हो जाने पर इसके निरन्तर चलते रहने के लिए हम इन्द्र को पुकारते हैं।

हमारे अन्दर और बाहर देवासुरसंग्राम छिड़ा हुआ है। अन्दर काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि असुर हैं और बाहर इन दुर्गुणों से ग्रस्त मनुष्य असुर हैं। इस संग्राम में विजय के लिए भी हम इन्द्र को पुकारते हैं। हम आत्मबल, मनोबल, प्राणबल, जितेन्द्रियता, धार्मिकता, ऊर्ध्वारोहण, लक्ष्य के प्रति तीव्रता आदि ऐश्वर्यों को भी पाना चाहते हैं। उसके लिए भी इन्द्र को पुकारते हैं। हे इन्द्र प्रभु! तुम आओ और आकर हमें सब प्रकार की सफलताएँ अधिगत कराओ।

---

१. देव शब्द से स्वार्थ में तातिल्=ताति प्रत्यय, 'सर्वदेवात् तातिल्' पा० ४.४.१४२।
२. प्र-इण् गतौ, शतृ प्रत्यय। प्रयत्, सप्तमी एकवचन 'प्रयति'।
३. अ-ध्वृ हिंसार्थक, निघं० २.१९। अध्वर इति यज्ञनाम, ध्वरति हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः —निरु० १.७।
४. समीक=संग्राम, निघं० २.१७।
५. वनं गानं सहयोगो वा येषामस्तीति ते वनिनः, वन शब्दे संभक्तौ च, भ्वादिः।
६. ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च, सम्प्रसारण। हवामहे=आह्वयामः।
७. षण सम्भक्तौ, क्तिन् प्रत्यय।
८. दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु, दिवादि।

१०७. जो संन्यासी और वानप्रस्थाश्रमी को देते हो

तत् त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये।
येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ॥

—ऋ० ८.३.९

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥

हे इन्द्र परमेश्वर! (**तत्**) वह (**त्वा**) आपसे (**यामि**[१]) माँगता हूँ (**सुवीर्यम्**) श्रेष्ठ आत्मबल, (**तत्**) वह (**ब्रह्म**[२]) विज्ञान (**पूर्वचित्तये**[३]) पूर्ण जागरूकता के लिए; (**येन**) जिस आत्मबल और विज्ञान के साथ (**यतिभ्यः**) संन्यासियों के पास तथा (**भृगवे**[४]) तपस्वी वानप्रस्थ के पास (**धने हिते**) कर्त्तव्यपालनरूप ऐश्वर्य की रक्षार्थ (**आविथ**[५]) आप पहुँचते हो और (**येन**) जिस आत्मबल और विज्ञान के द्वारा (**प्रस्कण्वम्**[६]) मेधावी विद्वान् मनुष्य की (**आविथ**) रक्षा करते हो।

मनुष्य अपने जीवन में कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहे, एतदर्थ उसके अन्दर आत्मबल और विज्ञान होना चाहिए। आत्मबल न होने पर दुर्व्यसनी लोग अपने असत्परामर्शों से उसे कर्त्तव्यच्युत कर सकते हैं और विज्ञान न होने पर वह 'मुझे किस मार्ग पर चलना चाहिए' इसका निर्णय नहीं कर पायेगा। अतः हम इन्द्र प्रभु से आत्मबल और विज्ञान की याचना करते हैं। इन्द्र प्रभु परमैश्वर्यवान् हैं, इस कारण आत्मबल और विज्ञान का ऐश्वर्य भी उनके पास विद्यमान है। संन्यासी लोग पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा का परित्याग करके, परिव्राट् बनकर संसार का उपकार करने के लिए भ्रमण करते रहते हैं और सबको शास्त्रों का उपदेशामृत पान कराकर सन्मार्ग पर लाते हैं। यह गुण उनमें कहाँ से आया है? परम प्रभु से ही उन्होंने आत्मबल और विज्ञान ग्रहण किया है। इसी से वे विपदाओं और कष्टों से भी न घबराते हुए निरन्तर अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहते हैं। वानप्रस्थ लोग गृहसुखों को त्याग कर, वनों में जाकर बस जाते हैं और सादा जीवन एवं उच्च विचार का सूत्र अपनाकर निरक्षरों को साक्षर बनाते हुए, अज्ञानियों को ज्ञानदान करते हुए तपस्या की दिनचर्या का पालन करते हैं। यह शक्ति उन्होंने कहाँ से पायी है? परम प्रभु इन्द्र से ही आत्मबल और विज्ञान का पाठ पढ़कर वे अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहते हैं।

संसार में 'प्रस्कण्व' लोग रक्षित क्यों रहते हैं? तुम कहोगे कि पहले यह तो बताओ कि 'प्रस्कण्व' होते कौन हैं। 'कण्व' शब्द मेधावी का वाचक होता है। उससे पूर्व 'प्र' लगा देने से अतिशय अर्थ सूचित होता है। अतः 'प्रस्कण्व' का अर्थ है अतिशय मेधावी विद्वान्। प्रभु से प्राप्त आत्मबल, मेधाबल एवं विज्ञान के कारण ही उनकी रक्षा होती है। अतः आओ, हम भी आत्मबल एवं विज्ञान को इन्द्र प्रभु से ग्रहण करके जीवन में सफल हों।

---

१. यामि=याचामि, निघं० ३.१९।
२. विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, तै० आ० ९.५.१; तै० उप० भृगुवल्ली ५।
३. पुर्व पूरणे। चिती संज्ञाने, क्तिन्।
४. भृज्जति तपसा शरीरमिति भृगुः। भ्रस्ज पाके, 'प्रथिम्रदिभ्रस्जां संप्रसारणं सलोपश्च' उ० १.२८ से कु=उ प्रत्यय, धातु के र् को ऋ, स् का लोप।
५. अव रक्षणगतिकान्त्यादिषु, भ्वादि। अवति=गच्छति, निघं० २.१४।
६. कण्व=मेधावी, निघं० ३.१५। प्र-कण्व=प्रस्कण्व=अतिशय मेधावी विद्वान्।

१०८. हम डरें नहीं, थकें नहीं

मा भेम मा श्रमिष्मोग्रस्य सख्ये तव।
महत् ते वृष्णो अभिचक्ष्यं कृतं पश्येम तुर्वशं यदुम्॥

—ऋ० ८.४.७

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥

हम (**मा भेम**[१]) मत डरें, (**मा श्रमिष्म**[२]) मत थकें, (**तव उग्रस्य**) तुझ उग्र के (**सख्ये**) सखित्व में। (**ते वृष्णः**) तुझ वर्षक का (**कृतम्**) कर्म (**महत्**) महान् और (**अभिचक्ष्यम्**[३]) प्रशंसनीय [है]। हम तेरे सखा स्वयं को (**तुर्वशम्**[४]) शत्रु-हिंसक और (**यदुम्**[५]) संयमी, जितेन्द्रिय (**पश्येम**) देखें।

मनुष्य बड़ा ही दुर्बल प्राणी है। वह भयभीत भी होता है और थक भी बड़ी जल्दी जाता है। पर यदि उसे सहारा मिल जाए, तो उसका भय भी समाप्त हो जाता है और वह थकान भी नहीं मानता। सहारा उसे माता-पिता, भाई-बहिन, चाचा-ताऊ, गुरुजनों आदि का मिल सकता है, या राजकीय आश्रय प्राप्त हो सकता है। इनका साहाय्य मिलने पर वह बहुत-से महान् कार्य निडर एवं अथक होकर कर लेता है। फिर भी यह सांसारिक सहारा सदा विश्वसनीय नहीं होता। कभी-कभी सहारे के पीछे स्वार्थ झाँक रहा होता है। दूसरे, यह सहारा अपूर्ण भी होता है। अतः हे जगत् के राजाधिराज इन्द्र परमेश्वर! हम तो आज से तुम्हें अपना सखा बना रहे हैं। तुम स्वयं पूर्ण हो, अतः तुमसे मिलनेवाला सहारा भी पूर्ण है। पूर्ण एवं आप्तकाम होने के कारण ही तुम्हारा कुछ स्वार्थ भी नहीं है। संसार के वयोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध लोग भले ही हमसे बड़े हैं, पर तुम उनसे भी बड़े हो, क्योंकि वे भी तुमसे ही सहारा पाते हैं। जब तुम्हारा सखित्व हमने पा लिया, तब भय किस बात का, थकान कैसी? हम निर्भय होकर बड़ी-से-बड़ी विपत्ति का सामना करने को तैयार हैं। हमें कोई धधकती हुई भट्ठी में झोंक दे, समुद्र में फेंक दें, पहाड़ से नीचे गिरा दे, तो भी हम डरेंगे नहीं, निर्भय होकर कर्त्तव्यपालन करते रहेंगे। और थकान? थकान तो अब हमारे शब्दकोष में है ही नहीं। हम जानते ही नहीं कि थकान किस चिड़िया का नाम है। सहस्रों के करने योग्य कार्य का, प्रभु-विश्वासी होकर, प्रभु का सख्य पाकर, हम अकेले करने का बीड़ा उठाने को तैयार हैं।

हे आनन्दवर्षक प्रभु! जगत् में प्रत्यक्ष दिखायी देने वाला आपका कर्म महान् है, अभिनन्दनीय है, प्रशंसनीय है। आप अपने सखा को भी वैसे ही कर्म का कर्त्ता क्यों न बना दोगे? हे भगवन्! कृपा करो, अपने इस सखा को 'तुर्वश' बना दो, आन्तरिक और बाह्य सब हिंसक रिपुओं को विनष्ट कर डालने में समर्थ बना दो। अपने इस सखा को 'यदु' बना दो, संयमी एवं जितेन्द्रिय बना दो। आपके सखित्व पर हम न्यौछावर होते हैं।

---

१. भी (ञिभी) भये। भेम=अभैष्म, लुङ् लकार, छान्दस रूप।
२. श्रमु तपसि खेदे च, दिवादि। श्रमिष्म=अश्रमिष्म, छान्दस अडभाव।
३. अभिपूर्वक चक्ष धातु वेद में भर्त्सना तथा प्रशंसा दोनों अर्थों में आती है। ऋ० ७.१०४.८ में भर्त्सना अर्थ में है।
४. तुर्वी हिंसार्थः, भ्वादिः, अशच् प्रत्यय। तुर्वति शत्रून् हिनस्ति इति तुर्वशः। मनुष्य-नामों में पठित, निघं० २.३।
५. यम उपरमे, दुक् प्रत्यय। नियच्छति इन्द्रियाणि यः सः। मनुष्य-नामों में पठित, निघं० २.३।

१०९. हमारी रक्षा करो, हमें सुमति दो

इमां मे इन्द्र सुष्टुतिं जुषस्व प्र सु मामव। उत प्र वर्धया मतिम्॥

—ऋ० ८.६.३२

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

(इमाम्) इस **(मे)** मेरी **(सुष्टुतिम्[१])** सुन्दर स्तुति को **(इन्द्र)** हे परमेश्वर! **(जुषस्व)** सेवित करो, स्वीकार करो। **(माम्)** मुझे **(प्र सु अव)** प्रकृष्टतया शोभन प्रकार से रक्षित करो; **(उत)** और **(प्र वर्धय[२])** प्रवृद्ध करो **(मतिम्)** मेधा को, सुमति को।

एक थे साधु महात्मा। जङ्गल में कुटी बनाकर रहते थे। किसी दिन दो ठग रात्रि में उनके अतिथि बने। भोजन करके सुख से सोये। प्रातः जब विदा होने लगे, तब महात्मा ने आशीर्वाद दिया—भगवान् तुम्हारी रक्षा करे। दोनों ठग हँसकर बोले—महात्मा जी, रक्षा तो हम अपनी खुद कर लेते हैं, कोई और आशीष दिया होता। महात्मा मुस्करा कर चुप रहे। दोनों ठग अपनी राह चल दिये। रास्ते में विश्राम के लिए एक बड़े पेड़ के नीचे लेट गये। तेज ठण्डी हवा चल रही थी। उनकी आँख लग गयी। तभी दूसरी ओर तने से लगी मोटी डाल कड़कड़ा कर नीचे गिरी। दोनों ठग बोले—हे राम! बाल-बाल बच गये, यदि हमारी तरफ की डाल गिरी होती तो हमारा भुर्ता बन जाता। आगे चले तो सामने एक भयानक शेर दीख गया। इन्हीं पर झपटने की ताक में था। तभी बन्दूक की गोली शेर को लगी और वह जमीन पर गिर पड़ा। किसी शिकारी ने गोली चलायी थी। ठग इस बार भी बच गये। आगे एक नदी पड़ती थी, वह पूरे उफान पर थी। मल्लाह सबारियों को चढ़ाकर नाव नदी में छोड़ चुका था। दोनों ठग देर से पहुँचने के कारण नाव में नहीं चढ़ पाये। सामने यात्रियों को लिये हुए नाव चली जा रही थी और दोनों ठग हाथ मलकर पछता रहे थे कि दो मिनट की देरी न हुई होती तो हम भी जल्दी उस पार पहुँच जाते, अब न जाने नाव वापिस कब आयेगी? नाव में यात्री अधिक भर गये थे। बीच धार में लहरों से टकरा कर नाव उलट गयी। कुछ लोग बचा लिये गये, कुछ नदी की भेंट हो गये। अब तो दोनों ठग आपस में बोले—भगवान् ने तीनों बार हमारी रक्षा की। यह उस महात्मा के ही आशीर्वाद का फल है। दोनों उल्टे पाँव लौटकर महात्मा के पास पहुँचे। सिर नवाँकर बोले—महात्मा जी, आप कोई देवता हो, आपका रक्षा का आशीर्वाद सच हुआ। अब हम समझे कि जहाँ मनुष्य का बस नहीं, वहाँ भगवान् कैसे रक्षा करता है। महाराज, हम दोनों ठग हैं, अब आपकी शरण में हैं, कुछ और आशीष दो। महात्मा ने कहा—ईश्वर तुम्हें सुमति दे। दोनों ठग बोले—अब सुमति तो हमें मिल गयी आपकी सङ्गत से। आज से हम ठगी का काम छोड़ते हैं। वे दोनों भले नागरिक बन गये।

मन्त्र की व्याख्या हो गयी इस कथा से। इन्द्र प्रभु से भक्त ने रक्षा और सुमति की ही याचना की है इस मन्त्र में। तो, हे जगदीश! हमारी भी रक्षा करो, हमें भी सुमति दो।

---

१. सुष्टुतिम्=सु-स्तुतिम्।
२. वृधु वृद्धौ, भ्वादि, णिजन्त। संहिता में 'वर्धया' में छान्दस दीर्घ।

११०. सब तेरा ही यश बढ़ा रहे हैं

तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्धति श्रवः। त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे॥

—ऋ० ८.१५.८

ऋषिः—गोषूक्तिः अश्वसूक्तिश्च काण्वायनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥

(**इन्द्र**) हे इन्द्र! हे परमैश्वर्य के धनी! (**तव**) तेरे (**पौंस्यम्**[१]) पौरुष को, बल को (**द्यौः**) द्युलोक [और तेरे ही] (**श्रवः**) यश को (**पृथिवी**) भूलोक (**वर्धति**[२]) बढ़ा रहा है। (**त्वाम्**) तुझे, तेरी महिमा को (**आपः**) नदियाँ (**पर्वतासः च**) और पहाड़ (**हिन्विरे**[३]) बढ़ा रहे हैं।

दिन में आकाश की ओर दृष्टि उठायें, तो चारों ओर प्रकाश की प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। हमारी भूमि भी प्रकाश से स्नात हो रही होती है। इस प्रकाश का स्रोत कौन है? यह प्रकाश हमें सूर्य से मिलता है। पर सूर्य में प्रकाश कहाँ से आता है? सूर्य को प्रकाश देने वाला इन्द्र प्रभु है। अतः सूर्य उस इन्द्र के ही पौरुष का महिमागान कर रहा है। रात्रि में हम आकाश की ओर निहारें, तो आकाश की आभा और भी अधिक मनभावनी प्रतीत होती है। सर्वप्रथम तो मुस्कराता हुआ चाँद हमारे चित्त को आकृष्ट करता है, जो प्रति रात्रि नये-नये रूप में उदित होता है। फिर तारावलि भी कम आकर्षक नहीं होती। आकाश की काली चादर में चमकीले तारे-रूप मोती टाँकने वाला कौन है? यह तारों की दुनियाँ बड़ी अजीब है। इसमें मेंढ़ा (मेष राशि) है, बैल (वृष राशि) है, प्रकृति-पुरुष का जोड़ा (मिथुन राशि) है, केंकड़ा (कर्क राशि) है, शेर (सिंह राशि) है, कन्या (कन्या राशि) है, तराजू (तुला राशि) है, बिच्छू (वृश्चिक राशि) है, धनुष (धनु राशि) है, मगरमच्छ (मकर राशि) है, घड़ा (कुम्भ राशि) है, मछली (मत्स्य राशि) है। अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशीर्ष, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा आदि सत्ताईस नक्षत्र प्रकाशित हो रहे हैं। इसमें आकाशगङ्गा है, इसमें वैतरणी नदी है, इसमें माता-पिता को बँहगी में उठाये श्रवण खड़ा है। इसमें घोड़ा (खगाश्व नक्षत्रपुञ्ज), बगुला (वक नक्षत्रपुञ्ज), हंस (हंस नक्षत्रपुञ्ज), खरगोश (शशक नक्षत्रपुञ्ज), कबूतर (कपोत नक्षत्रपुञ्ज), गरुड़ (गरुड़ नक्षत्रपुञ्ज), श्वान (श्वान नक्षत्रपुञ्ज) हैं। इसमें कालिय नाग, वासुकि सर्प और विडाल हैं। इसमें ब्रह्ममण्डल है, इसमें सप्त ऋषि और ध्रुव हैं। इसमें अगस्त्य ऋषि हैं, इसमें विश्वामित्र और त्रिशंकु हैं। इसमें शर्मिष्ठा-देवयानि हैं। इसमें व्याध और मृग हैं। इसमें नौका है, वीणा है, देवशुनी है, मधुचक्र है। इन सबके द्वारा आकाश इन्द्र की ही महिमा का गान कर रहा है।

हिरण्यगर्भा पृथिवी भी इन्द्र प्रभु के ही यश को उजागर कर रही है। पृथिवी की हरियाली, पेड़-पौधे, लताएँ, पुष्पगुच्छ, लाल दानों से जड़े अनार, रसीली फाँकों से सजे हुए सन्तरे, स्वादिष्ठ रसभरे आम, गूदेदार पपीते, सेव, अनन्नास सब इन्द्र की ही कीर्ति को गुंजा रहे हैं।

कहीं हिमधवल, कहीं सिर पर हरियाली ओढ़े पर्वतों को भी देखो। ऊँचे पर्वतशिखरों पर बर्फ बरसता है, जो जमकर हिम की चट्टानें बना देता है। धीरे-धीरे हिम पिघलकर सरिताएँ बहती हैं, जो धरा को सींचती हुई, जङ्गलों को बढ़ाती हुई, खेती को लहलहाती हुई समुद्र में जा मिलती हैं। ये पर्वत और नदियाँ उसी इन्द्र की महिमा बढ़ा रहे हैं। आओ, हम भी उसी इन्द्र प्रभु का गुणगान करें।

---

१. पौंस्य=बल, निघं० २.९। पुंसि भवं पौंस्यं पौरुषम्।
२. वृधु वृद्धौ, णिच्-लोप। वर्धति=वर्धयति।
३. हि गतौ वृद्धौ च, स्वादिः। हिन्विरे=हिन्वन्ति।

१११. अपने आत्मा को पहचान

स स्तोम्यः स हव्यः सत्यः सत्वा तुविकूर्मिः। एकश्चित् सन्नभिभूतिः॥

—ऋ० ८.१६.८

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

(**सः**) वह इन्द्र नामक तुम्हारा जीवात्मा (**स्तोम्यः**[1]) स्तुति के योग्य है, (**सः**) वह (**हव्यः**[2]) पुकारने योग्य है, (**सत्यः**) सच्चा है, (**सत्वा**[3]) बलशाली है, (**तुविकूर्मिः**[4]) बहुत कर्म करने वाला है। (**एकः चित् सन्**) एक भी होता हुआ (**अभिभूतिः**[5]) [सब शत्रुओं को] परास्त कर सकने वाला है।

हे मानव! तू इस संसार में कुछ करने के लिए अवतीर्ण हुआ है, तेरा कुछ महान् लक्ष्य है, जिस तक तुझे पहुँचना है। पर तू जिस-तिस की स्तुति क्यों कर रहा है? जिस-तिस के आगे हाथ क्यों पसार रहा है? जिस-तिस को क्यों पुकार रहा है? अपने आत्मा की गुणवर्णन-रूप स्तुति क्यों नहीं करता? अपने आत्मा के ही आगे याचना क्यों नहीं करता? अपने आत्मा का ही आह्वान क्यों नहीं करता? तू अपने आत्मा को साधारण मत समझ। वह सत्य है, सच्चा है, सच्चाई को ग्रहण कर सकने वाला है, सच्चाई की ओर उन्मुख होनेवाला है। उसे बुराई की ओर उन्मुख कुसङ्गति एवं बुरी परिस्थितियाँ करती हैं। उनसे तू बच। तेरा आत्मा 'सत्वा' है, बली है। यदि कोई तुझे सताने, उद्विग्न करने या कुमार्ग पर चलाने के लिए आता है, तो तू उसे अपने बलवान् आत्मा की हुंकार से दूर खदेड़ दे। तेरा आत्मा 'तुविकूर्मि' है, बहुकर्मा है, सैंकड़ों कामों को करने में समर्थ है, वह पहाड़-से लगने वाले भारी और दूभर कामों को भी कर सकने वाला है। तू देखता क्यों नहीं? राम, कृष्ण और दयानन्द जैसे महापुरुष अपने आत्मा के ही बल से राम-राज चला चुके हैं, भूधर को उठा चुके हैं, बल से पाखण्ड को मिटा चुके हैं। तू भी अपने आत्मा को जगा, उदासीन होकर मत बैठ।

तेरे आत्मा को मानव-जन्म महान् कार्यों को करने के लिए मिला है। क्या कहता है? मार्ग में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ हैं, सङ्कट हैं, खाइयाँ है, बाधाएँ हैं, तलवार की धार पर चलने जैसी भीषण ललकारें हैं। उनसे कैसे लोहा ले सकूँगा, उन्हें कैसे पार कर सकूँगा? यदि ऐसी शङ्का है तो अब भी तूने अपने आत्मा को नहीं पहचाना। तेरा आत्मा अकेला भी करोड़ों बाधकों को परास्त करने का सामर्थ्य रखता है। देख, अकेला सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है, अकेला चाँद भूमि पर आह्लाद बखेरता है, अकेला वायु सबको प्राण से अनुप्राणित करता है, अकेला बादल धरा को मधुवृष्टि से सींचता है। अपने आत्मा की शक्ति को पहचान, उद्यम कर, आगे बढ़, नेतृत्व कर, सफलताएँ तेरे चरण चूमेंगी।

---

१. स्तोमम् अर्हतीति स्तोम्यः। स्तोम-यत् प्रत्यय।
२. ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च, यत्।
३. षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु। सद्-वनिप्=वन् प्रत्यय।
४. तुविः बहुविधः कूर्मिः कर्मयोगो यस्य सः। द० भाष्य, ऋ० ३.३०.३।
५. अभिभवति पराजयते शत्रून् यः सः अभिभूतिः। अभि-भू-क्तिन्।

११२. मुनियों का सखा इन्द्र

वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणांसत्रं सोम्यानाम्।
द्रप्सो भेत्ता पुरां शश्वतीनामिन्द्रो मुनीनां सखा॥

—ऋ० ८.१७.१४

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ देवता—वास्तोष्पतिः॥ छन्दः—बृहती॥

(वास्तोष्पते[1]) हे [ब्रह्माण्ड-रूप तथा मेरे देह-रूप] गृह के स्वामी परमेश! तुम **(ध्रुवा स्थूणा)** स्थिर आधार हो, **(अंसत्रम्[2])** रक्षा-कवच हो **(सोम्यानाम्)** हम शान्तिप्रियों के। **(द्रप्सः[3])** बिन्दु-रूप या अणु-रूप होता हुआ भी **(शश्वतीनां पुरां)** सनातन पुरियों का **(भेत्ता)** भेदन करने वाला **(इन्द्रः)** जीवात्मा **(मुनीनाम्)** [हम] मुनियों का **(सखा)** सखा [होवे]।

हम शान्तिप्रिय हैं, न अपने अन्दर अशान्ति एवं विद्रोह चाहते हैं, न समाज में। हम आन्तरिक एवं बाह्य रिपुओं के सम्मुख अविचल रह सकें, इसके लिये आवश्यक है कि हमारा स्थिर आधार हो और हमारे पास अटूट रक्षा-कवच हो। यदि हम किसी सुदृढ़ आधार पर टिके हुए नहीं है, तो छोटे से भी आघात से नीचे गिर सकते हैं। हमारे पास उत्तम शिक्षा, सदाचार, सुदृढ़ मान्यताओं एवं अकाट्य सिद्धान्तों का आधार होना चाहिए। हमारे पास सत्य, आस्तिकता, श्रद्धा, तपस्या, ब्रह्मचर्य, आत्मविश्वास का आधार होना चाहिए। हमारे पास माता-पिता एवं गुरुजनों के आशीर्वाद का, महात्माओं के वरदान का, पारस्परिक स्नेह का, एवं प्रभु के वरदहस्त का रक्षा-कवच होना चाहिए। हे सकल ब्रह्माण्ड-रूप गृह के अधिपति तथा मेरे शरीर-रूप गृह के भी स्वामी परमेश! तुम हमें ये आधार और रक्षा-कवच प्रदान करो।

हम मुनि हैं, हमने मौन का व्रत लिया है। व्यर्थ का वाणी-विलास हमें रुचिकर नहीं है। मनुष्य दिनभर बोले गये अपने शब्दों का रात्रि को सोते समय यदि लेखा-जोखा करे तो उसे पता लगेगा कि लगभग अस्सी प्रतिशत शब्द उसने बेकार बोले हैं। या तो वे किसी की निन्दा में बोले गये हैं, या अतिशयोक्तिपूर्ण आत्मप्रशंसा के लिये। मौन मनुष्य को आत्मनिरीक्षण का अवसर देता है। मौन से आन्तरिक शक्ति का विकास होता है। वाक्संयम से अमोघवाक् होने की सिद्धि प्राप्त हो सकती है। मुनि लोग आत्मा-रूप इन्द्र को अपना सखा बनाते हैं। मनुष्यों के अणु आत्मा में भी शक्तियों का अपार भण्डार निहित है। आत्मा को सखा बनाकर वे उन शक्तियों को पा लेते हैं। इस मानव-देह में उत्तरोत्तर सूक्ष्म पाँच पुरियाँ हैं—अन्नमय पुरी, प्राणमय पुरी, मनोमय पुरी, विज्ञानमय पुरी और आनन्दमय पुरी। जीव को इन्हें क्रमशः भेदन करते हुए अन्त में ब्रह्मानन्द पाने के लिये सनातन आनन्दमय पुरी को भेदन करना पड़ता है। हम चाहते हैं कि उस शश्वती पुरी को भेद कर बुद्धि, मन, प्राण आदि निचले स्तरों पर आनन्द-धाराएँ बहाने वाला वह जीवात्मा हम मुनियों का सखा बने।

---

१. वास्तोष्पतिः, वास्तुः वसतेः निवासकर्मणः, तस्य पाता वा पालयिता वा। निरु० १०.१७।
२. अंसत्रम् अंहसः त्राणं, धनुर्वा कवचं वा। निरु० ५.२६।
३. द्रप्सः=जलबिन्दु, निरु० ५.१४।

११३. युद्ध में मन भद्र रख

भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये येना समत्सु सासहः।
अव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धतां वनेमा ते अभिष्टिभिः॥ —ऋ० ८.१९.२०

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—सतोबृहती पङ्क्तिः॥

(**मनः**) मन को (**भद्रं**) भद्र (**कृणुष्व**) कर (**वृत्रतूर्ये**[1]) दुष्ट शत्रुओं के विनाश में, (**येन**) जिस मन से तू (**समत्सु**[2]) युद्धों में (**सासहः**[3]) [शत्रुओं को] पराजित करता है। (**शर्धताम्**[4]) दुःसाहस करने वालों के (**स्थिरा**[5]) स्थिर बलों को (**अव तनुहि**) नीचा दिखा दे। हम (**वनेम**[6]) संयुक्त हों (**ते**) तेरी (**अभिष्टिभिः**[7]) अभीष्ट रक्षाओं से।

हे वीर नायक! तुम युद्ध करने तो चले हो, पर क्या तुमने युद्धनीति को भी जान लिया है? शत्रु का विनाश दो प्रकार से किया जा सकता है, एक तो शत्रु को जान से मार कर, दूसरे शत्रु की शत्रुता समाप्त करके उसे मित्र बनाकर। वैदिक दृष्टि से दूसरा प्रकार ही अधिक श्लाघ्य और उपादेय है, अन्यथा संसार में युद्ध बढ़कर जनसंहार होते-होते थोड़ी-सी ही जनसंख्या अवशिष्ट रह सकती है। यह भी हो सकता है कि श्रेष्ठ लोग ही मारे जाएँ और दुर्जन बचे रह जाएँ। इसलिए वेद कह रहा है कि हे भाई! तू शत्रुओं या पापियों के विनाश में मन को भद्र बना। भद्र मन से यदि तू युद्ध करेगा तो कम से कम जन-धन की क्षति होगी। इसके स्थान पर कि तू गोले बरसाता ही जाए, तुझे शत्रु को इस बात का अवसर देना होगा कि वह तेरे साथ मैत्री के लिए हाथ बढ़ाये। इसप्रकार तेरे मित्र-राष्ट्रों की संख्या बढ़ेगी और राष्ट्रीय सुरक्षा-परिषद् में तेरा प्रभाव भी बढ़ेगा।

यह भी ध्यान रख कि तेरे मन की भद्रता को शत्रु तेरी दुर्बलता न समझ ले। यदि शत्रु दुःसाहस करने पर तुला हुआ है, तेरे वीरों को, तेरी सेना की छावनियों को, तेरे अस्त्रागारों को, तेरे आतुरालयों को, तेरे विश्वविद्यालयों को, तेरे कल-कारखानों को, तेरे बिजली-घरों को, तेरे नदी के बाँधों को विध्वस्त करने में कोई कसर नहीं उठा रहा है, तो तू भी डटकर उसका मुकाबला कर। उसके छक्के छुड़ा दे, उसके स्थिर बलों को नीचा दिखा दे, उसे आक्रमण की पहल करने का मजा चखा दे। उसके लड़ाकू हवाईयानों को भग्न कर दे, उसकी पनडुब्बियों को विनष्ट कर दे, उसके टैंकों को तोड़ दे, उसकी भूमि को जीत ले, उसे पीछे खदेड़ दे।

हे वीर सेनानायक! जहाँ युद्ध में तू अपना रणकौशल दिखायेगा, वहाँ साथ ही शान्तिकाल में भी तू राष्ट्र को एवं हम प्रजाजनों को अभीष्ट रक्षाओं से लाभान्वित करता रह। आन्तरिक शत्रुओं से भी राष्ट्र को बचाना तेरा कर्त्तव्य है। ऐसा न हो कि चोर, डाकू, लुटेरे, उपद्रवी, विद्रोही लोग राष्ट्र को अन्दर से खोखला कर दें और प्रजा की सुरक्षा को खतरे में डाल दें। अन्दर से यदि राष्ट्र दुर्बल है, तो बाहरी शत्रु भी अवसर देखकर उस पर पुनः कभी भी आक्रमण कर सकता है। इसलिए अन्तःसुरक्षा और बाह्य सुरक्षा दोनों ही आवश्यक हैं। हे वीर क्षत्रिय! तू राष्ट्र की पूजा कर, राष्ट्र तेरी पूजा करेगा।

---

१. वृत्रतूर्ये शत्रुवधे, द० भा०, ऋ० २.२६.२। तूर्य=वध, तूरी गतित्वरणहिंसनयोः, ण्यत्। वृत्रतूर्य=संग्राम, निघं० २.१७।
२. 'समत्सु' संग्राम-नामों में पठित, निघं० २.१७।
३. षह मर्षणे, भ्वादि, यङ्लुगन्त, लेट्। अतिशयेन पुनः पुनः सहसे।
४. शृधु प्रसहने, शतृ, शर्धत्। षष्ठी बहुवचन, शर्धताम् दुःसाहसं कुर्वताम्।
५. स्थिरा=स्थिराणि।
६. वन संभक्तौ, भ्वादि। वनेम संभजेम।
७. अभि-इष्टि=अभिष्टि। 'एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वाच्यम्' पा० ६.१.९४ वा० से पररूप।

११४. वज्रपाणि इन्द्र की जय हो

वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम्। अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव॥

—ऋ० ८.२४.२४

ऋषिः—विश्वमनाः वैयश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥

हे (**वज्रहस्त**) वज्रपाणि इन्द्र जगदीश! तुम (**वेत्थ हि**) निश्चय ही जानते हो (**निर्ऋतीनाम्**[1]) विपत्तियों, कृच्छ्रापत्तियों, मृत्युओं का (**परिवृजम्**[2]) परिहार करना; (**अहरहः**) दिन-प्रतिदिन (**शुन्ध्युः**[3]) शोधक सूर्य (**परिपदाम्**[4] **इव**) जैसे अपनी परिक्रमा करने वाले ग्रह-उपग्रहों की [विपत्ति आदि को दूर करता रहता है]।

सूर्य का एक नाम 'शुन्ध्यु' है, क्योंकि वह हर क्षण शोधन का कार्य करता रहता है। यदि सूर्य का ताप और उसकी रश्मियाँ हमारी भूमि को प्राप्त न हों, तो यह भूमि इतनी अधिक मलिन हो जाए कि इस पर प्राणियों का जीवित रहना भी दुष्कर हो। स्थल, जल, वायु, आकाश सबके प्रदूषण को सूर्य निरन्तर दूर करता रहता है। केवल हमारी भूमि को ही नहीं, अपितु अपने चारों ओर चक्कर काटने वाले मङ्गल, बुध, बृहस्पति आदि ग्रहों तथा इन सबके उपग्रहों को भी सूर्य नियन्त्रण में रखता है। यदि सूर्य इन सबकी सम्भावित विपत्तियों को दूर न करता रहे, तो ये सब अपनी-अपनी भ्रमण-कक्षा से बाहर निकलकर आपस में ही टकराकर चूर-चूर हो जाएँ।

हे मेरे हृदयसम्राट् जगदाधार परमैश्वर्यवान् इन्द्र प्रभु! जैसे तुम्हारा रचा हुआ महान् सूर्य तुम्हारे ही नियन्त्रण में रहता हुआ प्रदूषणों एवं विपत्तियों को हरकर हमारा रक्षक होता है, वैसे ही तुम स्वयं भी हमारे मार्ग में आने वाली विपदाओं, बाधाओं एवं कष्ट-परम्पराओं को निवारित करके हमारे महान् आश्रयदाता बने हुए हो। तुम ऐसी-ऐसी भीषण विपत्तियों को दूर करते हो, जिन्हें तुम्हारे बनाये हुए सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि अन्य कोई पदार्थ दूर नहीं कर सकते। तुम वज्रपाणि होकर हमारी मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक आपदाओं पर प्रहार करते हो। यदि तुम्हारी वरदायिनी रक्षा हमें प्राप्त न हो, तो हमारे मन, बुद्धि और आत्मा काम, क्रोध लोभ, मोह आदि की पैशाची विकट संहारकारिणी रिपु-सेनाओं के तीक्ष्ण बाणों से घायल होकर और तीव्र दुःखानल से दग्ध होकर तड़पते ही रहें। तुम्हीं इनसे हमारी रक्षा करते हो। केवल इन आन्तरिक विपत्तियों से दूर करने के कारण ही नहीं, अपितु बाह्य आपदाओं के परिहार की दृष्टि से भी हम तुम्हारे ऋणी हैं। तुम अपना रक्षा का हाथ हटा लो, तो सकल सम्पदाओं से भरी हमारी आश्रयभूत यह विशाल पृथिवी इसी क्षण चूर-चूर होकर आकाश में इस तरह विलीन हो जाए कि इसका नाम-निशान भी न बचे। तुम्हारी रक्षा न रहने पर पृथिवी ही क्यों, सारा ब्रह्माण्ड ही प्रलयग्रस्त हो जाए। हे वज्रपाणि और अमृतपाणि परमेश! हम तुम्हारा जयजयकार करते हैं।

---

१. निर्ऋतीनाम्=कृच्छ्रापत्तीनाम्। निर्ऋतिः [पृथिवी] निरमणात्, ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिः इतरा। निरु० २.८।
२. परि-वृजी वर्जने, अदादि।
३. शुन्ध्युः आदित्यो भवति, शोधनात्। निरु० ४.१६।
४. परितः पद्यन्ते गच्छन्ति परिक्रामन्ति ये तेषाम्। परि-पद गतौ, दिवादि।

११५. प्यासा भी, प्यास बुझाने वाला भी

स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः।
कदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः॥

—ऋ० ८.३३.२

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥

(वसो) हे निवासक अथवा उपासकों के धन परमेश्वर! **(स्वरन्ति[१])** बुला रहे हैं **(त्वा)** तुझे **(सुते)** सोमरस के अभिषुत होने पर तथा **(निरेके[२])** [छन्नी में से] निकलने पर **(उक्थिनः[३])** स्तोता **(नरः)** लोग। **(कदा)** कब **(सुतम्)** अभिषुत सोमरस के प्रति **(तृषाणः[४])** प्यासा तू **(ओकः)** घर **(आ गमः)** आयेगा **(इन्द्र)** हे परमात्मन्! **(वंसगः[५])** कमनीय गति वाले **(सु-अप्-दी[६] इव)** शुभ वर्षा जल के प्रदाता मेघ के समान।

बादल प्यासा भी होता है और प्यास बुझाता भी है। समुद्र तथा नदियों के जलों की भाप का प्यासा होता है और बरसकर भूमि की प्यास बुझाता है। साँवला बादल अपनी बहिन बिजली के साथ आँख-मिचौनी खेलता हुआ बड़ी बाँकी गति से आकाश में उड़ता हुआ आता है। ऐसे ही हे मेरे इन्द्र प्रभु! तुम प्यासे भी हो और प्यासों की प्यास बुझाने वाले भी हो। मेरे भक्ति-रस के प्यासे हो और अपनी आनन्द-वर्षा से मेरी प्यास बुझाने वाले हो। बादल पानी का प्यासा होता है, किसलिए? क्या अपने लिए? नहीं, अन्य जो प्यासे हैं उन्हें संतृप्त करने के लिये। ऐसे ही, हे मेरे हृदयेश! तुम मेरे भक्तिरस को चाहते हो, तो क्या अपने लिए? नहीं, तुम तो पूर्णकाम हो, मेरी भक्ति तुम्हें भला क्या दे सकती है? भक्ति तुम इसलिए चाहते हो, जिससे मेरा हृदय तुम्हारी कृपाओं को पाने के लिये योग्य भूमि बन सके। तुम मुझे अपना प्यार देते हो, सत्प्रेरणाएँ देते हो, आत्मिक शान्ति देते हो। मेरे भक्ति-रस को आनन्द-रस में परिणत करके मुझे ही लौटा देते हो।

हे करुणेश! देखो, हम अनेक साधक जन तुम्हारी अर्चना में बैठे हुए भावभीनी भक्ति का स्रोत बहा रहे हैं। अपने आत्मा को सिल और प्रणव को बट्टा बनाकर, ध्यान-रूप सङ्घर्षण से अपने भाव-रूप हरियाले सोम को पीसकर तल्लीनता की अङ्गुलियों से निचोड़-निचोड़कर तुम्हें अर्पित करने के लिए अपने प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कलशों में भर रहे हैं। 'उक्थी' बनकर, स्तोता एवं गायक होकर तुम्हारी अगवानी के लिये पवित्र वेद-मन्त्रों का गान कर रहे हैं। हम तुम्हें न जाने कब से बुला रहे हैं! तुम आते क्यों नहीं हो? क्या कहते हो? दूर से ही दीख रहा है, तुम्हारा सोमरस छना तो है नहीं, इसे पीकर क्या करूँगा? अहो, बड़ी भूल हुई भगवन्! यह लो श्रद्धा की छन्नी से इसे छान भी लिया है। अब तो आओ, हमारे निर्मल भक्तिरस का पान करो। तुम वसु हो, आकर हमारे अन्दर सद्गुणों और सत्कर्मों का शिलान्यास करो। हे बरसात के तृप्तिदायक बादल के समान कमनीय प्रभु! आओ, आओ, आओ।

---

१. स्वृ शब्दोपतापयोः, भ्वादि।
२. निरेके निगर्मने। निर्-इण् गतौ, कन् प्रत्यय।
३. उक्थः स्तुतिः येषामस्तीति ते उक्थिनः स्तोतारः।
४. तृष पिपासायाम्, दिवादि, शानच्।
५. वंसगः वननीयगमनः—सायण। वनोति कान्तिकर्मा, निघं० २.६। वंसं कमनीयं यथा स्यात् तथा गच्छतीति वंसगः।
६. शोभनाः अपः ददातीति स्वब्दी (सु-अप्-दी)।

११६. हम भी अग्नि प्रभु जैसे बन जाएँ

अग्निः शुचिव्रततमः शुचिर्विप्रः शुचिः कविः। शुची रोचत आहुतः॥

—ऋ० ८.४४.२१

ऋषिः—विरूपः आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥

(अग्निः) अग्निवत् तेजस्वी परमेश्वर! **(शुचिव्रततमः[१])** सबसे अधिक पवित्र कर्मों वाला है। वह **(शुचिः विप्रः)** पवित्र विद्वान् है, **(शुचिः कविः)** पवित्र कवि है। **(शुचिः)** पवित्र वह **(रोचते)** चमकता है **(आहुतः)** आहुति दिया हुआ।

अग्नि से हमें प्रकाश लेना है, तो उसमें घृत की आहुति डालते हुए उसे निरन्तर प्रज्वलित रखते हैं। बार-बार घृत की आहुति न देनी पड़े, इस हेतु दीपक में घृत भरकर उसमें रुई की कोमल बत्ती डुबोकर बत्ती के सिरे को प्रज्वलित कर देते हैं। बत्ती स्वयं घृत को ऊपर चढ़ाती रहती है, जिससे बत्ती का अग्रभाग जल-जलकर प्रकाश देता रहता है। इसी प्रकार परमात्मा-रूप अग्नि को यदि हम हृदय में निरन्तर प्रज्वलित रखकर दिव्य अध्यात्म-प्रकाश पाते रहना चाहते हैं, तो हमें उसमें घृताहुति देते रहना होगा। मनुष्य के शरीर-रूप दीपक में 'रेतस्' को प्राण-रूप बत्ती से ऊपर चढ़ाना होगा, ऊर्ध्वरेता बनना होगा। अब्रह्मचर्य प्रभुभक्ति का विरोधी है। ब्रह्मचर्य-साधना के बिना प्रभुभक्ति की साधना नहीं हो सकती। दीपक की बत्ती का घृत यदि नीचे की ओर प्रवाहित होने लगे तो बत्ती के ऊपर का प्रदीप्त अग्रभाग बुझ जायेगा और प्रकाश मिलना बन्द हो जायेगा। इसी प्रकार परमेश्वराग्नि से दिव्य प्रकाश मिलना भी रुक जाता है, यदि हमारा 'रेतस्' रूप घृत ऊर्ध्वगामी न हो। अग्नि प्रभु को हृदय में चमकाना तथा उससे दिव्य ज्योति पाना चाहते हैं, तो ऊर्ध्वरेता होना अनिवार्य है।

अग्नि प्रभु सर्वाधिक पवित्र कर्मों वाले हैं। पवित्रकर्मा तो अपने-अपने कर्त्तव्यकर्मों के पालन में लगे हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी भी हैं, परन्तु उनमें मानवसुलभ अपवित्रता कभी न कभी, कम या अधिक आ ही जाती है। मानव यदि निरन्तर पवित्रकर्मा बने रहना चाहता है तो उसे शुचिव्रततम प्रभु का आदर्श अपने सम्मुख रखना होगा। प्रभु शुचि विप्र है, पवित्र विद्वान् है। अपवित्र विद्वान् बड़ा भयङ्कर होता है, क्योंकि वह अपनी विद्वत्ता को गलत दिशा में लगाकर संसार का अकल्याण करता है। हम भी पवित्र विद्वान् बनें। प्रभु पवित्र कवि है, हमारे हृदय में बैठा हुआ वह पवित्रता का सन्देश देने वाले काव्य को गुनगुनाता रहता है। जैसे अञ्जनहारी अपने घरौंदे में विभिन्न प्रकार के कीटों को भरकर ऊपर निरन्तर गुंजार करते रहकर उन सब कीटों को अञ्जनहारी के रूप में परिवर्तित कर लेती है, वैसे ही पवित्र प्रभु मानव के हृदय में पवित्रता के काव्य की गुंजार करके उसे अपने जैसा पवित्र बना लेते हैं।

आओ, शुचिव्रत, शुचि विप्र और शुचि कवि प्रभु को अपनाकर हम भी वैसे ही बनने का प्रयत्न करें।

---

१. शुचिव्रतः पवित्रकर्मा। व्रत=कर्म, निघं० २.१। अतिशयेन शुचिव्रतः शुचिव्रततमः।

११७. जनसेवा का मधुर और पूजास्पद जीवन

स्वादोरभक्षि वयसः सुमेधाः स्वाध्यो वरिवोवित्तरस्य।
विश्वे यं देवा उत मर्त्यासो मधु ब्रुवन्तो अभि संचरन्ति॥

—ऋ० ८.४८.१

ऋषिः—प्रगाथः घौरः काण्वः॥ देवता—सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**सुमेधाः**) उत्कृष्ट मेधा वाला, (**स्वाध्यः**[1]) गुरुकुल में उत्तम अध्ययन किया हुआ मैं (**स्वादोः**) मीठे, (**वरिवोवित्-तरस्य**[2]) अतिशय पूजायोग्य (**वयसः**) जीवन की (**अभक्षि**) प्राप्ति करूँ, (**यम्**) जिस जीवन को (**विश्वे**) सब (**देवाः**) विद्वद्गण (**उत**) और (**मर्त्यासः**) सामान्य मनुष्य (**मधु ब्रुवन्तः**) मधु कहते हुए (**अभिसञ्चरन्ति**) उसके प्रति दौड़े चले आते हैं।

मुझे प्रभु-कृपा से तथा बाल्यकाल में माता-पिता द्वारा दी गयी उत्तम शिक्षा से उत्कृष्ट मेधा प्राप्त हुई थी। मेधावी मैं गुरुकुल में विद्याध्ययन के लिये प्रविष्ट हुआ। सुयोग्य गुरु ने मुझे अपने सान्निध्य में रखकर वेदादि विविध विज्ञानों की शिक्षा दी, विद्याओं में पारंगत किया। अब मेरा समावर्तन संस्कार हो रहा है। मैं गुरुजनों का पवित्र आशीर्वाद लेकर संसार के विशाल क्षेत्र में पदार्पण कर रहा हूँ। आज से मेरा नया जीवन प्रारम्भ हो रहा है। गृहस्थाश्रम के बन्धन में न पड़कर मैंने जन-सेवा का जीवन अपनाया है। मैं चाहता हूँ कि यह मेरा जीवन स्वादु हो, मिठास से भरा हो। जनसेवा और कड़वाहट ये दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ हैं, क्योंकि कटुता के साथ जनसेवा नहीं हो सकती। जनसेवा करते हुए समाज में प्रचलित कुरीतियों को दूर करना होता है, तरह-तरह के अन्धविश्वासों में फँसे भोले लोगों को राह पर लाना होता है, जनता से गहरा सम्पर्क करना होता है, उनमें घुल-मिलकर उनके बन जाना होता है, उनके विश्वास को पाना होता है। यह सब क्या कटुता के व्यवहार से सम्भव है? समाजसेवक जन-जीवन में मधु घोलने के लिये तत्पर होता है। क्या अपने जीवन में मधु घोले बिना जन-जीवन में मधु लाया जा सकता है?

मैं ऐसा बनूँ कि जो भी विद्वद्गण या जन-साधारण मेरे जीवन को देखें, उनके मुख से सहसा निकल पड़े कि यह तो मधु है और वे मुझसे मधु पाने के लिये दौड़े चले आएँ। मेरी बातों को सुनने के लिये लालायित हों, मेरे मुख से निकले शब्दों को क्रियात्मक-रूप देने के लिये उत्कण्ठित रहें। मैं यह भी चाहता हूँ कि मैं अपने जीवन को 'वरिवोवित्-तर' बनाऊँ। मैं लोगों का पूजापात्र और श्रद्धापात्र बनूँ। पूजापात्र और श्रद्धापात्र बनने के लिये जिस तपस्या की आवश्यकता होती है, उसके लिये मैं तैयार हूँ। पूजापात्र मैं अपनी पूजा करवाने के लिये नहीं, प्रत्युत इसलिये बनना चाहता हूँ कि जनसेवा में उससे सहायता मिल सके, क्योंकि पूज्य एवं श्रद्धास्पद व्यक्ति की बात को लोग जल्दी मानने के लिये तैयार हो जाते हैं।

हे जनता-जनार्दन! तुम मेरे सेवाव्रत को सफल करने में सहायक बनो। हे सोम प्रभु! मुझमें जनसेवा के लिये शक्ति, उत्साह और निरभिमानिता भरो।

---

१. स्वाध्यः स्वाध्ययनः —सायण।
२. वरिवः पूजां विन्दते लभते इति वरिवोवित्, अतिशयेन वरिवोवित् वरिवोवित्तरः।

११८. चतुर्थाश्रमी संन्यासी से निवेदन

कदा चन प्र युच्छस्युभे नि पासि जन्मनी।
तुरीयादित्य हवनं त इन्द्रियमा तस्थावमृतं दिवि॥ —ऋ० ८.५२.७

ऋषिः—आयुः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥

(**कदा चन**) क्या कभी (**प्रयुच्छसि**[1]) प्रमाद करते हो? अर्थात् कभी नहीं करते। (**उभे**) दोनों (**जन्मनी**) जन्मों को (**निपासि**) रक्षित करते हो, अर्थात् दोनों जन्मों की लाज रखते हो। हे (**तुरीय**) चतुर्थाश्रमी! (**आदित्य**) सूर्यवत् प्रकाशमान एवं प्रकाशक संन्यासी (**हवनम्**) होम (**ते**) आपका (**इन्द्रियम्**) इन्द्रत्व है। देखो, यह संन्यासी (**आ तस्थौ**) स्थित है (**अमृतम्**) अमृत होकर (**दिवि**) सर्वोच्च स्थान पर।

समाज में चार इन्द्र हैं—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी। इन्द्र शब्द ऐश्वर्यार्थक 'इदि' धातु से बनता है, जिसका योगार्थ है परमैश्वर्यवान्। ब्रह्मचारी का परम ऐश्वर्य है विद्या और व्रताभ्यास। गृहस्थ का परमैश्वर्य है धर्म, धर्मानुकूल अर्थ और धर्मानुकूल काम के सेवनपूर्वक उत्पन्न की हुई उत्कृष्ट सन्तान। वानप्रस्थ का परम ऐश्वर्य है तपस्यापूर्वक अपने ज्ञान की वृद्धि करके अध्यापन द्वारा उस ज्ञान का विस्तार। संन्यासी का परम ऐश्वर्य है लोकोपकार।

हे राष्ट्र के पूज्य संन्यासीप्रवर! आप संन्यास की दीक्षा लेते हुए सबके सम्मुख यह प्रतिज्ञा कर चुके हो कि "पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा तीनों एषणाओं का मैं परित्याग करता हूँ[2]।" अंजलि में जल लेकर उसे छोड़ते हुए आप यह भावना अपने अन्दर जगा चुके हो कि "मुझसे सब भूतों को अभय हो[3]।" आप शास्त्रकारों का यह उपदेश सुन चुके हो कि "चाहे निन्दा, चाहे प्रशंसा, चाहे मान, चाहे अपमान, चाहे जीना, चाहे मृत्यु, चाहे हानि, चाहे लाभ हो, चाहे कोई प्रीति करे, चाहे वैर बाँधे, चाहे अन्न-पान, वस्त्र, उत्तम स्थान न मिले वा मिले, चाहे शीत उष्ण कितना ही क्यों न हो संन्यासी सबका सहन करे और अधर्म का खण्डन तथा धर्म का मण्डन सदा करता रहे। जिस-जिस कर्म से गृहस्थों की उन्नति हो वा माता, पिता, पुत्र, स्त्री, पति, बन्धु, बहिन, मित्र, पड़ोसी, नौकर, बड़े और छोटों में विरोध छूटकर प्रेम बढ़े, उस-उसका उपदेश करे[4]।" आप संन्यासी के इन तथा अन्य शास्त्रोक्त कर्त्तव्यों का सदा निर्वाह करते हो, कभी उसमें प्रमाद नहीं करते। मनुष्य के दो जन्म होते हैं, एक माता-पिता से, दूसरा आचार्य से। आप दोनों जन्मों की लाज रखे हुए हो। आपको सदा यह ध्यान रहता है कि मैं ऐसा कोई कर्म न करूँ, जिससे मेरे माता-पिता तथा आचार्य के यश को बट्टा लगे।

हे इन्द्र! हे चतुर्थाश्रमी यतिवर! 'हवन' ही आपका इन्द्रत्व एवं यतित्व है। दैनिक अग्निहोत्र-रूप होम आपसे भले ही छूट गया हो, पर परोपकार में अपने आत्मा का होम आप सदा करते रहते हो। हे श्रद्धेय! आप दीन-दुःखियों के लिये 'अमृत' बनकर तथा यश से अमर होकर समाज में वैसे ही सर्वोच्च स्थान पर स्थित हो, जैसे सूर्य सर्वोपरि द्युलोक में स्थित है।

हे पूज्य परिव्राट्! आप अविद्या को, हमारी अविद्याजन्य अधर्मकारिता को, हमारे दुःख-दर्दों को, हमारे पारस्परिक वैमनस्य को मिटाकर हमें सुख-शान्ति प्रदान करो। आपको हम प्रणाम करते हैं।

---

१. प्र-युछी प्रमादे, भ्वादि।
२-३. "पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता। मत्तः सर्वेभ्योऽभयमस्तु स्वाहा।" इस वाक्य को बोल के सबके सामने जल को भूमि में छोड़ देवे। —संस्कारविधि, संन्यासप्रकरण।
४. संस्कारविधि, संन्यासप्रकरण, 'यमान् सेवेत सततं' श्लोक से आगे की भाषा।

११९. मेरी झोली भर दो

त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये। उद्वावृषस्व मघवन् गविष्टय उदिन्द्राश्वमिष्टये॥

—ऋ० ८.६१.७

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥

(**त्वम्**) आप (**हि**) अवश्य (**एहि**) आओ (**चेरवे**[1]) मुझ विचरणकर्त्ता पुरुषार्थी के पास। (**विदाः**[2]) प्राप्त कराओ (**भगम्**) धन (**वसुत्तये**[3]) मुझ धन के दानी को। (**उद् वावृषस्व**[4]) अधिकाधिक पुनः पुनः वर्षा करो, (**मघवन्**) हे धनी! (**गविष्टये**[5]) मुझ गौओं के इच्छुक के ऊपर। (**उद् वावृषस्व**) अतिशय पुनः पुनः वर्षा करो (**इन्द्र**) हे इन्द्र प्रभु! (**अश्वमिष्टये**[6]) मुझ अश्वों के इच्छुक के ऊपर।

ऐतरेय ब्राह्मण में इन्द्र ने रोहित को उपदेश दिया है—''चलते रहो, चलते रहो, चलते रहने वाले को ही मधु मिलता है, चलते रहने वाले को ही गूलर का स्वादु फल मिलता है। सूर्य की श्रेष्ठता को देखो, जो चलते हुए कभी अलसाता नहीं[7]।'' मैं भी निरन्तर चल रहा हूँ, चलते-चलते 'चेरु' बन गया हूँ, अतिशय पुरुषार्थी हो गया हूँ। हे प्रभु! यदि पुरुषार्थी को मधु मिल सकता है, तो तुम क्यों नहीं मिल सकते। अतः मेरे पुरुषार्थ से प्रसन्न होकर मेरे पास आ जाओ। क्या कहते हो? मधु पाकर तो उसे खाकर तृप्त हो सकते हैं, मुझे पाकर क्या करोगे? तुम्हें पाकर तुमसे धन माँगूगा। किसलिये? परोपकार में लगाने के लिए। सबसे चन्दा माँगता हूँ, आज तुम्हारे आगे भी झोली पसार रहा हूँ। दो, बहुत दो, मुझ पर धन की वर्षा कर दो। सुनते हैं ऋषि 'वरतन्तु' का शिष्य कौत्स गुरुदक्षिणा के निमित्त राजा रघु के पास एक सहस्र मुद्राएँ माँगने गया था। पर रघु तो विश्वजित् यज्ञ में सर्वस्व दान कर चुके थे। फिर भी याचक को खाली कैसे लौटाते! उन्होंने दान के लिये तुम धन-कुबेर से धन माँगा। तुमने अभीष्ट राशि से भी अधिक धन की वर्षा कर दी। भले ही यह कहानी हो, पर तुम्हारा नाम तो इसके साथ जुड़ा हुआ है। मेरी भी झोली भर दो। हे भगवन्! दान के लिये माँग रहा हूँ, परोपकार में लगाने के लिये माँग रहा हूँ।

हे धन के देवता! मैं गौओं का इच्छुक हूँ। वेद की गौएँ दुधारु धेनु के अतिरिक्त भूमि, विद्या-प्रकाश, इन्द्रिय-तेज, अध्यात्म-ज्योति आदि का भी प्रतीक हैं। अतः गौओं के नाम से मैं यह सभी ऐश्वर्य माँगता हूँ। हे धनेश! मैं अश्वों का इच्छुक हूँ। वेद के अश्व सधे हुए घोड़ों के अतिरिक्त प्राण-बल, इन्द्रिय-बल, अस्त्र-बल आदि के भी प्रतीक हैं। यह सब ऐश्वर्य भी मुझे दो।

समझ गया, ऐसे न दोगे। मेरे ऋषि ने कहा है ''प्रार्थना का मुख्य सिद्धान्त यही है कि जैसी प्रार्थना करनी, वैसा ही पुरुषार्थ से कर्म का आचरण करना चाहिए[8]।'' ठीक है, 'चेरु' तो मैं हूँ ही, पुरुषार्थ करूँगा, धन की वर्षा तुम स्वयं कर दोगे।

---

१. चरतीति चेरुः तस्मै। चर गतिभक्षणयोः, भ्वादिः।
२. विदाः वेदय। विद्लृ लाभे, तुदादि, लुसणिच्क प्रयोग, लेट्।
३. वसूनि धनानि ददातीति वसुत्तिः। कर्ता अर्थ में क्तिन्।
४. उद्-वृषु सेचने, भ्वादि। यङ्लुगन्त।
५. गाः इच्छतीति गविष्टिः। गो-इषु इच्छायाम्, क्तिन्।
६. अश्वम् इच्छतीति अश्वमिष्टिः। द्वितीया विभक्ति का अलुक्, इष्, क्तिन्।
७. चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्। सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति॥ ऐत० ब्रा० पञ्चिका ७, अ० ३, खं० ३
८. दयानन्दभाष्य, यजुर्वेद ३.३५ का भावार्थ।

१२०. वह ब्राह्मण-अब्राह्मण सबको आनन्द देता है

अविप्रो वा यदविधद् विप्रो वेन्द्र ते वचः।
स प्र ममन्दत् त्वाया शतक्रतो प्राचामन्यो अहंसन॥ —ऋ० ८.६१.९

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—बृहती॥

(अविप्रः वा) ब्राह्मण से भिन्न क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र **(यद्)** यदि **(अविधत्[1])** पूजा करता है, **(विप्रो वा)** अथवा ब्राह्मण **(इन्द्र)** हे इन्द्र! **(ते वचः)** तेरे लिए स्तुति-वचन [कहता है], तो **(सः)** वह **(त्वाया[2])** तेरे प्रति प्रेम से **(प्र ममन्दत्[3])** प्रकृष्ट आनन्द प्राप्त कर लेता है। **(शतक्रतो)** हे शतकर्मा! **(प्राचा-मन्यो)** हे प्रेरक तेज वाले! **(अहं-सन)** हे 'मैं तेरा सहायक हूँ' यह कहकर भक्त को प्राप्त होने वाले!

हमारा समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में बँटा हुआ है। प्रत्येक अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करने से गुणकर्मानुसार इन नामों को पाता है। हो सकता है कि समाज ब्राह्मण का सबसे अधिक आदर करता हो और शूद्र का सबसे कम करता हो, परन्तु परमात्मा की दृष्टि में सब समान हैं। परमात्मा के दरबार में जाने का सबको समान अधिकार है। मन्त्र में परमात्मा को 'इन्द्र', 'शत-क्रतु', 'प्राचा-मन्यु' और 'अहं-सन' नामों से स्मरण किया गया है। परमैश्वर्यवान् तथा वीर होने के कारण वह इन्द्र कहलाता है।[4] अनन्त कर्मों को करने के कारण तथा अनन्त प्रज्ञाओं से युक्त होने के कारण वह शतक्रतु है। क्रतु का अर्थ कर्म तथा प्रज्ञा भी होता है और यज्ञ भी, जो इस बात को सूचित करता है कि परमेश्वर के कर्म और उसकी प्रज्ञाएँ यज्ञमय हैं अर्थात् परोपकारक हैं। 'प्राचा-मन्यु' में मन्यु का अर्थ तेज है। निरुक्त के अनुसार दीप्त्यर्थक 'मन्' धातु से यह शब्द बना है। प्राचा का अर्थ प्रकृष्ट दिशा में गति कराने वाला अर्थात् प्रेरक है। एवं 'प्राचा-मन्यु' का अर्थ होता है प्रेरक तेज वाला।[5] परमेश्वर का तेज या दिव्य प्रकाश जब मनुष्य के आत्मा और मन पर पड़ता है, तब उसका आत्मा प्रकृष्ट दिशा में गति करने लगता है। 'अहं-सन' शब्द 'अहं' और 'सन' दो शब्दों से मिलकर बना है। 'सन' सम्भजनार्थक सन् धातु से बनता है। परमेश्वर अपने भक्त को इस आश्वासन के साथ प्राप्त होता है कि मैं तुम्हारा सहायक या रक्षक हूँ, अतः वह 'अहं-सन' कहलाता है।[6] इन सम्बोधनों से परमेश्वर को स्मरण करते हुए मन्त्र में कहा गया है कि चाहे ब्राह्मण हो, चाहे ब्राह्मण-भिन्न क्षत्रिय आदि हों, जो भी तेरी पूजा करता है, तेरे प्रति स्तुति-वचनों का गान करता है, तुझमें लौ लगाता है, तुझसे प्रीति जोड़ता है, वह निश्चय ही उच्चकोटि के आनन्द और उल्लास से भरपूर हो जाता है। आनन्द मानव-जीवन की एक महान् उपलब्धि है। विषाद, उदासीनता, मन की निस्तेजस्कता, निराशावाद सब प्रभु का दिव्यानन्द पाकर दूर भाग जाते हैं और मन शान्त, प्रफुल्ल एवं तेजस्वी बनकर मनुष्य को उन्नति के चरम सोपान पर पहुँचा देता है।

आओ, हम भी प्रभु के पूजक बनकर दिव्य आनन्द प्राप्त करें।

---

१. विध परिचर्यार्थक, निघं० ३.५।
२. युष्मद् शब्द से इच्छा अर्थ में क्यच्, त्वाया। त्वाया=त्वायया, 'सुपां सुलुक्' पा० ७.१.३९ से तृतीया विभक्ति का लुक्। त्वत्प्राप्तीच्छया।
३. मदि (मन्द) स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु, भ्वादि, लेट्, छान्दस रूप।
४. इन्दति परमैश्वर्यवान् भवतीति इन्द्रः, इदि परमैश्वर्ये, भ्वादिः। अथवा इन्द्-द्र=इन्द्र, 'इन्दन् शत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा' निरु० १०.९।
५. मन्युः मन्यतेः दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा, निरु० १०.२९ प्रकर्षेण अञ्चयति प्रेरयतीति प्राचा। प्राचा मन्युर्यस्य स प्राचामन्युः।
६. अहं त्वद्रक्षकोऽस्मि इति सनति संभजते यः सः। अहं-षण सम्भक्तौ।

१२१. इन्द्र की देनें बड़ी भद्र हैं

सत्यमिद्वा उ तं वयमिन्द्रं स्तवाम नानृतम्।
महाँ असुन्वतो वधो भूरि ज्योतींषि सुन्वतो भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥

—ऋ० ८.६२.१२

ऋषिः—प्रगाथः घौरः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥

(सत्यम्) सचमुच **(इद् वै उ)** ही **(तम् इन्द्रम्)** उस इन्द्र की **(वयम्)** हम **(स्तवाम[1])** स्तुति करें, **(न अनृतम्)** झूठमूठ नहीं। **(असुन्वतः)** सोमयज्ञ न करने वाले का **(महान् वधः)** महान् वध होता है, **(भूरि ज्योतींषि)** बहुत-सी ज्योतियाँ [प्राप्त होती हैं] **(सुन्वतः[2])** सोमयज्ञ करने वाले को। **(भद्राः)** भद्र हैं **(इन्द्रस्य)** इन्द्र के **(रातयः[3])** दान।

एक भाई प्रतिदिन प्रातःकाल सार्वजनिक बगीचे में फव्वारे पर सन्ध्या-वन्दन करने बैठ जाते थे, जहाँ उनके बहुत-से परिचित लोग भ्रमणार्थ आया करते थे। वे अधखुली आँख से देखते रहते थे कि आज किन-किन परिचित जनों ने मुझे सन्ध्या करते देखा है। ऐसे लोगों को समझ लेना चाहिए कि वे संसार को भले ही ठग लें, पर प्रभु को नहीं ठग सकते। इसलिए वेदमन्त्र कहता है कि हम सच्चे रूप में ही प्रभु की स्तुति-अर्चना करें, झूठमूठ दिखावे के लिये नहीं। जिसे सच्चे अर्थों में प्रभु का भजन करना होता है, वह सार्वजनिक स्थान नहीं, एकान्त खोजता है, जहाँ प्रभु के अतिरिक्त अन्य कोई देखने वाला न हो। सबके बीच में प्रभु से घुलमिलकर बातें कैसे हो सकती हैं?

आप पूछोगे ऐसा क्यों न हो कि प्रभु-स्तवन करें ही नहीं, न सार्वजनिक स्थान में, न एकान्त में। इसका उत्तर ऋषि ने दिया है—"स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव का सुधारना, प्रार्थना से निरभिमानता, उत्साह और सहाय का मिलना, उपासना से परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होता है।"[4]

एक महात्मा ने किसी से पूछा—सन्ध्या करते हो? उत्तर मिला—नहीं। फिर पूछा—क्या कभी ऐसी इच्छा होती है कि एकान्त में जाकर बैठें, घूमें-फिरें, जहाँ बात करने वाला कोई न हो? उत्तर मिला—हाँ, अन्दर से ऐसी माँग तो प्रायः ही होती है। तब क्या करते हो? नदी के किनारे निकल जाता हूँ। वहाँ तुम्हारे मन में क्या होता है? यह तो ध्यान नहीं कि वहाँ क्या सोचता रहता हूँ, पर नदी का निर्मल जल और उससे टकरा कर आता हुआ शीतल पवन मन को प्रफुल्ल करता है। लौटकर आता हूँ तो काम में अधिक मन लगता है। तुम तो सन्ध्या-पूजन करते हो, महात्मा ने कहा।

वेद कह रहा है कि जो सोमयज्ञ नहीं करता या प्रभु के प्रति भक्ति-रूप सोमरस प्रवाहित नहीं करता, उसका वध होता है, अर्थात् वह हानि उठाता है। इसके विपरीत सोम-सवन करने वाले को अपने सम्मुख ज्योतियाँ ही ज्योतियाँ दिखायी देती हैं। इन्द्र प्रभु की देनें बड़ी भद्र हैं। जो प्रभु से भेंट करता है, उसे वे भद्र देनें उपहार में मिल जाती हैं। आओ, हम भी भद्र देनों की प्राप्ति के अधिकारी होवें।

---

१. ष्टुञ् स्तुतौ, अदादि, लेट्।
२. षुञ् अभिषवे, स्वादि, शतृ, षष्ठी एकवचन।
३. रा दाने, भ्वादि, भाव अर्थ में क्तिन्।
४. स०प्र०, समु० ७ —स्वामी दयानन्द। यु० मी० संस्करण, पृ० २८२।

१२२. देशव्यापी अमति, क्षुधा, निन्दा दूर करो

त्वं नो अस्या अमतेरुत क्षुधो३ऽभिशस्तेरव स्पृधि।
त्वं न ऊती तव चित्रया धिया शिक्षा शचिष्ठ गातुवित्॥

—ऋ० ८.६६.१४

ऋषिः–कलिः प्रागाथः॥ देवता–इन्द्रः॥ छन्दः–सतोबृहती पङ्क्तिः॥

हे इन्द्र राजन्! (**त्वम्**) आप (**नः**) हमें (**अस्याः**) इस (**अमतेः**) अमति से, (**उत**) और (**क्षुधः**) भुखमरी से, तथा (**अभिशस्तेः**) निन्दा से (**अवस्पृधि**[1]) छुड़ाओ। (**त्वम्**) आप (**नः**) हमें (**ऊती**) सुरक्षा से और (**तव**) अपनी (**चित्रया धिया**) विलक्षण बुद्धि और कर्मकुशलता से (**शिक्ष**) शिक्षा प्रदान करो, (**शचिष्ठ**[2]) हे कर्मिष्ठ! (**गातुवित्**) मार्गदर्शक आप।

हे वीर राजन्! क्या तुम्हें विदित है कि कैसे विकट समय में हमने तुम्हें राजमुकुट पहनाया है? यह राजमुकुट नहीं है, काँटों का ताज है। देश दुर्दशा से ग्रस्त है। लोगों में अमति ने घर किया हुआ है। अमति होती है, अज्ञान से। अज्ञान होता है अशिक्षा या कुशिक्षा से। तुम्हें राज्य में उचित शिक्षा के प्रबन्ध द्वारा ज्ञान का विस्तार करना है। ग्राम-ग्राम में विद्यालय खोलने हैं। नगर-नगर में महाविद्यालय चलाने हैं। स्थान-स्थान पर विश्वविद्यालय सञ्चालित करने हैं। बालक-बालिकाओं के सुशिक्षण एवं आचार-निर्माण के लिए गुरुकुल स्थापित करने हैं। राष्ट्र में भुखमरी फैली हुई है, आधे से अधिक लोगों को भरपेट भोजन नहीं मिल रहा है। तुम्हें कृषि को प्रोत्साहन देकर और किसानों को आवश्यक सुविधाएँ देकर प्रचुर अन्न उत्पन्न कराना है तथा उसके वितरण का भी सुप्रबन्ध कराना है। अच्छा बीज, अच्छा खाद, अच्छे हल, ट्रैक्टर, फसल को कीटों से बचाना, अन्नों, सब्जियों, फलों की अच्छी जातियाँ विकसित करना, नहरों का निर्माण आदि अनेक कृषि की समस्याओं की ओर तुम्हें ध्यान देना है। बढ़ती हुई मँहगाई का भी उपचार करना है। खाद्य वस्तुओं का पर्याप्त भण्डार विक्रेताओं के पास होते हुए भी उपभोक्ताओं को खाद्य-सामग्री नहीं मिल पाती, मिलती है तो चोर-बाजार से; इसका भी उपाय करना है।

आतङ्कवाद, मार-काट, चोरी-डकैती, आगजनी, बच्चों-युवकों, वृद्धों का अपहरण, भ्रष्टाचार, तस्कर-व्यापार आदि का जाल बिछ जाने के कारण राष्ट्र निन्दा का पात्र बना जा रहा है। दूसरे राष्ट्रों में हमारे राष्ट्र की स्थिति नीची हो रही है। इससे भी राष्ट्र का उद्धार करना है। हे राजन्! तुम मार्गदर्शक हो, तुम विलक्षण प्रतिभा और प्रज्ञा के धनी हो, तुम कर्मकुशल हो। तुम अरक्षितों की रक्षा करना जानते हो। तुम राजनीतिवेत्ता हो, तुम शिक्षावित् हो, तुम दलितों के उद्धारक हो, तुम आतुरों के चिकित्सक हो, तुम पीड़ितों के त्राणकर्त्ता हो, तुम निर्धनों के धन हो। तुम धर्म-धुरन्धर हो, तुम विपत्प्रतिकारक हो, तुम वर्णाश्रमधर्म के प्रसारक हो, तुम पतितों के उन्नायक हो, तुम देश के गौरव हो, तुम देशभक्त हो। तुम देश की विपदाओं को दूर कर इसे समुन्नति के शिखर पर पहुँचा दो। तुम्हारा जयजयकार होगा।

---

१. स्पृ प्रीतिसेवनयोः प्रीतिचलनयोर्वा, स्वादिः। अव-स्पृ मोचन अर्थ में।
२. शची=कर्म, निघं० २.१। अतिशयेन शचीमान् शचिष्ठः। इष्ठन् प्रत्यय, मतुप् का लुक्।

१२३. क्षत्रियों से रक्षा की पुकार

त्यान्नु क्षत्रियाँ अव आदित्यान् याचिषामहे। सुमृळीकाँ अभिष्टये॥

—ऋ० ८.६७.१

ऋषयः—मत्स्यः साम्मदः, मैत्रावरुणिः मान्यः, बहवो वा मत्स्याः जालनद्धाः॥
देवता—आदित्याः॥ छन्दः—गायत्री॥

हम (**नु**) शीघ्र ही (**त्यान्**[1]) उन (**क्षत्रियान्**) क्षत्रिय (**सुमृडीकान्**) उत्कृष्ट सुख के दाता (**आदित्यान्**[2]) राष्ट्रभूमि के पुत्र अथवा अखण्डता के पुतले, अथवा आदित्य के समान शत्रु-सन्तापक वीरों से (**अवः**[3]) रक्षा (**याचिषामहे**[4]) माँगते हैं (**अभिष्टये**[5]) अभीष्ट-प्राप्ति के लिए।

हमने अपने राष्ट्र के लिए एक आदर्श निश्चित किया हुआ है कि हम राष्ट्र को कैसा बनायेंगे। वही हमारा अभीष्ट मनोरथ है। हम चाहते हैं कि राष्ट्र में प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक आश्रम अपनी-अपनी मर्यादा का पालन करने वाला हो। "ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण हों, धनुर्धर, शूर, नीरोग, महारथी क्षत्रिय हों, दुधार गौएँ हों, विजयशील, रथारोही, सभ्य युवा पुत्र हो। इच्छानुसार बादल बरसे, फलवती ओषधियाँ परिपक्व हों। सब प्रकार से हमारा योगक्षेम होता रहे[6]।" नदी-तटों पर सुदृढ़ बाँध बँधे हों। भूमि सस्यश्यामला हो, कल-कारखाने लगे हों। देश विद्या में प्रख्यात हो। विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय खुले हों। यातायात निर्विघ्न हो। व्यापार बढ़ा-चढ़ा हो। राजा-प्रजा धार्मिक हों। यज्ञ-याग प्रचलित हों। जलयान, स्थलयान, विमान उन्नति पर हों। इसप्रकार सब गरिमाओं से परिपूर्ण हमारा राष्ट्र हो।

इस अभीष्ट की पूर्ति तभी हो सकती है, जब हम राष्ट्र की सुरक्षा के प्रति निश्चिन्त रहें। अन्यथा यदि सारा ध्यान शत्रु से राष्ट्र की रक्षा के प्रति लगा रहेगा, तो आन्तरिक उन्नति और विकास के प्रति हम तत्पर नहीं रह सकते। राष्ट्र की सुरक्षा के प्रति हम निश्चिन्त तब हो सकते हैं, जब हमारे वीर क्षत्रिय अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करने वाले हों। ऐसे बाँके वीरों का धनी हमारा राष्ट्र हो, जो शत्रु से सम्भावित आक्रमणों एवं प्रहारों से प्रजा की रक्षा करने में पटु हों और जो 'आदित्य' हों। आदित्य का अर्थ है अदिति के पुत्र। अदिति का एक अर्थ होता है राष्ट्रभूमि और दूसरा अर्थ होता है अखण्डता। वे वीर स्वयं को राष्ट्रभूमि के पुत्र मानने में गौरव अनुभव करते हों एवं राष्ट्रभूमि को माता समझकर उसकी रक्षा में तत्पर रहें। अदिति का अर्थ अखण्डता लें, तो अखण्डता के पुत्र का तात्पर्य है अखण्डता के पुतले, अर्थात् शत्रु से कभी खण्डित न किये जा सकने वाले। 'आदित्याः' का तीसरा अर्थ होगा सूर्य के समान शत्रुसन्तापक। ऐसे वीर क्षत्रियों से हम राष्ट्ररक्षा की याचना करते हैं, जिससे राष्ट्र को आदर्श बनाने का हमारा स्वप्न पूरा हो।

---

१. त्यान्=तान्। तद् का समानार्थक त्यद् शब्द। स्यः, त्यौ, त्ये; त्यम्, त्यौ, त्यान्।
२. अदिति=भूमि, निघं० १.१। अदिति=अखण्डता, दो अवखण्डने, दितिः, न दितिः अदितिः। अदितेः पुत्राः आदित्याः।
३. अव रक्षार्थक, असुन् प्रत्यय। अवः, अवसी, अवांसि।
४. याचृ याञ्चायाम्, लेट्, उत्तमपुरुष बहुवचन।
५. अभि-इष्टि=अभिष्टि, पूर्वरूप। अभीष्टि के अर्थ में अभिष्टि।
६. द्रष्टव्यः 'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्' आदि यजु० २२.२२।

१२४. हे आदित्यो! हे महापुरुषो!

नास्माकमस्ति तत् तर आदित्यासो अतिष्कदे। यूयमस्मभ्यं मृळत॥

—ऋ० ८.६७.१९

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदः, मान्यः मैत्रावरुणिः, अथवा बहवः मत्स्याः जालबद्धाः॥
देवता—आदित्याः॥ **छन्दः**—गायत्री॥

(न) नहीं **(अस्माकम्)** हमारा **(अस्ति)** है **(तत्)** वह **(तरः)** वेग **(आदित्यासः)** हे महापुरुषो! **(अतिष्कदे[1])** पार करने के लिये। **(यूयम्)** तुम **(अस्मभ्यम्)** हमारे लिये **(मृडत)** सुख दो।

जगत् के राष्ट्रों में बड़े-बड़े महापुरुष हो चुके हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। वे महापुरुष 'आदित्य' कहलाते हैं, क्योंकि वे अदिति के, अविनश्वरी जगन्माता के, सच्चे पुत्र होते हैं और आदित्यरश्मियों के समान विद्याप्रकाश से जगमगाने वाले तथा अविद्या-रूप मालिन्य को हरने वाले होते हैं। सूर्य जैसे रात्रि के तमोजाल को दूर करता है, वैसे ही वे देश में छाये हुए आलस्य, प्रमाद, निराशावाद आदि के अन्धकार को दूर करते हैं। वे बड़े-बड़े राज्यों को पलट देने की शक्ति रखते हैं। उनके अन्दर आस्तिकता की शक्ति होती है, तपस्या का बल होता है, अदम्य निर्भयता होती है, निराला उत्साह होता है, अद्भुत ईश्वर-विश्वास होता है, असीम श्रद्धा होती है, अद्वितीय जितेन्द्रियता होती है, विलक्षण जागरूकता और कर्मनिष्ठा होती है। उनके मन में सत्त्विकता होती है, वाणी में ओज होता है, स्वभाव में बुराई को दूर करने की प्रखरता होती है। ब्रह्मा, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, कपिल, कणाद, पतञ्जलि, व्यास, जैमिनि, दयानन्द इन्हीं आदित्य महापुरुषों की श्रेणी में आते हैं।

हे आदित्यो! हे ओजस्वी महापुरुषो! हमारे चारों ओर विघ्न-बाधाओं का जाल बिछा हुआ है। देश में अन्याय, अत्याचार, रिश्वतखोरी, हिंसा, अविद्या, अन्धविश्वास, वेदविरुद्ध आचार का सागर उमड़ रहा है। हम छलांग मारकर उसे पार करना चाहते हैं। पर हमारे अन्दर वह वेग कहाँ है? हम दुर्बलताओं से घिरे हैं। तुम हमारे अन्दर बल, वेग, उत्साह, स्फूर्ति, बुराइयों से लड़ने का साहस उत्पन्न कर दो। तुम्हारी सौम्य मूर्ति, अदम्य तेजस्विता, अगाध विद्या, अजस्र वाग्बल के आगे कोई भी रिपु ठहर नहीं सकता। तुम दुरित को भद्र में परिणत कर सकते हो, तुम दुर्जन को सज्जन, अविद्वान् को विद्वान्, आलसी को कर्मण्य, नास्तिक को आस्तिक बना सकते हो। तुम भद्र के प्रसार द्वारा हमें सुखी कर दो, आनन्दित कर दो। हे आदित्यो! हम तुम्हारा जयजयकार करते हैं।

---

१. अति-स्कन्दिर गतिशोषणयोः, भ्वादि। अतिष्कदे=अतिपारयितुम्।

१२५. हमें पापेच्छुकों और दुश्चिन्तकों से बचाओ

उरुष्या णो मा परा दा अघायते जातवेदः। दुराध्ये॒३ मर्ताय॥

—ऋ० ८.७१.७

ऋषिः—सुदीति-पुरुमीढौ आङ्गिरसौ, तयोर्वा अन्यतरः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥

(**उरुष्य[1] नः**) बचाओ हमें (**मा परा दाः**) मत सौंपो (**अघायते[2]**) पापेच्छुक, (**दुराध्ये[3]**) दुश्चिन्तक (**मर्ताय**) मनुष्य के लिए, (**जातवेदः[4]**) हे सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ प्रभु!

जब हम पुण्य की राह पर चल रहे होते हैं, तब बहुत से पाप-प्रेमी तथा दुश्चिन्तक लोग यह चाहते हैं कि हम पुण्य को छोड़कर पाप के अनुयायी बन जाएँ। पापेच्छु जैसे स्वयं पाप में फँसा होता है, वैसे ही दूसरों को भी पाप के पङ्क में लिप्त करना चाहता है। समाज में पापेच्छुकों का एक गुट होता है। उसकी दुष्कामना होती है कि हम-जैसे मदिरापायी, कामी, क्रोधी, लोभी, कुकर्मी, तस्कर, लुटेरे, हिंसक, अब्रह्मचारी बहुत-से लोग हो जाएँ, हमारे गुट के सदस्य बढ़ते चलें। शराबी कहता है—थोड़ी-सी पीकर तो देखो, दिल-दिमाग में कैसी स्फूर्ति आती है। तस्कर कहता है—ईमानदारी से तो तुम कङ्गाल ही बने रहोगे, तस्कर-व्यापार तुम्हें मालामाल कर देगा। रिश्वतखोर सलाह देता है—अधिक न सही, थोड़ी-सी रिश्वत ले लेने में क्या हानि है? इनकी बातों का प्रभाव कुछ न कुछ पड़ता ही है। हे सर्वरक्षक प्रभु! तुम हमें इन पापेच्छुकों से बचाओ।

दुश्चिन्तक लोग भी बुरा ही चिन्तन करते हैं। वे सोचते हैं—प्रभुभक्ति का ढोंग करने वालों की नाव उलट जाए, धर्मात्मा लोगों पर बिजली टूट पड़े, साक्षरता का अभियान चलाने वालों का दम घुट जाए, शराब की दूकानों पर धरना देने वाले महात्मा लोग जेलखानों में बन्द हो जाएँ। वे हमें भी दुश्चिन्तक बनाकर सद्वृत्ति लोगों को सताने में हमारा सहयोग लेना चाहते हैं। हे परमेश! तुम इन दुश्चिन्तकों सें भी हमारी रक्षा करो।

हे प्रभु! तुम 'जातवेदाः' हो, सर्वान्तर्यामी और सर्वज्ञ हो। तुम धर्मात्मा और पापी दोनों के मन की बात जानते हो। हम धर्मात्माओं के अन्दर ऐसा आत्मबल भरो कि हम दुरात्माओं के अहितकर परामर्शों की सदा उपेक्षा ही करते रहें; उनके पाप और दुश्चिन्तन का प्रभाव हम पर बिल्कुल ही न पड़े। तुम हमें उनकी मार से बचाओ। हे परमेश! हमें ऐसी शक्ति प्रदान करो कि हम अधर्मात्माओं को भी धर्मात्मा बना लें, दुश्चिन्तकों को भी सुचिन्तकों के रूप में परिवर्तित कर लें। यदि हम ऐसा कर सकें तो हमारा समाज देवों का समाज बन सकता है।

---

१. उरुष्यति रक्षाकर्मा, निरु० ५.२३। उरुष्य=रक्ष। संहिता में छान्दस दीर्घ, उरुष्या।
२. अघम् आत्मनः परेषां च इच्छन् अघायन् तस्मै।
३. दुर्-आ-ध्यै चिन्तायाम्, भ्वादिः। दुष्टम् आ समन्ताद् ध्यायति चिन्तमति यः सः दुराधीः तस्मै।
४. जातवेदाः कस्मात्? जातानि वेद......जाते जाते विद्यत इति वा —निरु० ७.१९। विद ज्ञाने, विद सत्तायाम्।

१२६. द्वेष दूर हों, प्रीति और शान्ति सरसे

अग्निं द्वेषो योतवै नो गृणीमस्यग्निं शं योश्च दातवे।
विश्वासु विक्ष्ववितेव हव्यो भुवद् वस्तुर्ऋषूणाम्॥

—ऋ० ८.७१.१५

ऋषिः—सुदीति-पुरुमीढौ आङ्गिरसौ॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—सतोबृहती पङ्क्तिः॥

(अग्निम्) अग्रनेता प्रभु की **(नः)** अपने **(द्वेषः[१])** द्वेष **(योतवै[२])** दूर करने के लिये [हम] **(गृणीमसि[३])** स्तुति करते हैं। **(अग्निम्)** अग्रनेता प्रभु की **(शम्)** सुख-शान्ति **(योः च)** और भय-मुक्ति **(दातवे[४])** देने के लिए [स्तुति करते हैं]। वह **(विश्वासु)** सब **(विक्षु)** प्रजाओं में **(अविता इव)** रक्षक राजा के समान **(हव्यः)** पुकारने योग्य है। वह **(ऋषूणाम्)** ऋषियों का **(वस्तुः[५])** बसाने वाला **(भुवत्)** होवे।

आज विश्व को द्वेष की लपटों ने घेरा हुआ है। राष्ट्रों के अपने अन्दर ही विद्वेष इतने अधिक हैं कि राष्ट्रों की बड़ी शक्ति उन्हें सुलझाने में ही लगी रहती है, फिर भी वे सुलझ नहीं पाते। मन्दिर-मस्जिद, गिर्जा-गुरुद्वारे की समस्या ही हल नहीं हो पाती। फिर भाषा-विवाद, नदी-जल-विवाद, सीमा-विवाद, जाति-विवाद, दलित-उच्चवर्ग-विवाद, श्रमिक-पूँजीपति-विवाद आदि अन्य अनेकों विवाद भी विद्वेष का कारण बने हुए हैं। राष्ट्रों के इन आन्तरिक विद्वेषों के अतिरिक्त राष्ट्रों के पारस्परिक विद्वेष भी कम नहीं हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से द्वेष करता है, दूसरा तीसरे से द्वेष करता है। एक-दूसरे से अपनी सामरिक शक्ति बढ़ाने में लगे हुए हैं और कौन राष्ट्र अपने पड़ोसी राष्ट्र पर या किसी अन्य राष्ट्र पर कब आक्रमण कर दे, इसका कोई ठिकाना नहीं है। हे जगदीश्वर! तुम्हीं हमें द्वेषों से छुड़ाकर हमारे अन्दर पारस्परिक सौहार्द की वृद्धि करो।

पारस्परिक विद्वेष सुख-शान्ति को लुप्त करता है और भय को जन्म देता है, क्योंकि जो शक्ति प्रजा की सुख-शान्ति की वृद्धि में लगनी चाहिए, वह घातक शस्त्रास्त्रों के निर्माण में और शत्रु से अपनी सुरक्षा करने में लग जाती है। युद्ध की विभीषिकाओं से हम इतने भयाक्रान्त हो जाते हैं कि स्वप्न में भी अपने ऊपर बम के गोले बरसते दिखायी देते हैं। इस स्थिति से भी हे परमेश! तुम हमारा उद्धार करो। तुम ऐसे ही हमारे द्वारा पुकारे जाने योग्य हो, जैसे प्रजाओं द्वारा कोई राजा रक्षार्थ पुकारा जाता है।

हे प्रभु! तुम हमारे राष्ट्र को ऐसे ऋषियों की भूमि बनाओ जो भूत-वर्तमान-भविष्य को हस्तामलकवत् देख लेते हैं, जो अध्यात्म-साधना द्वारा आत्मशक्ति प्राप्त करके जगत् में प्रीति की लहरें उठा सकते हैं, जिनका एक दृष्टिनिपात ही द्वेषों को समाप्त कर सकता है, जो कलहाग्नि को सौहार्द की शान्त-धारा में बदल सकते हैं।

हे परमेश! हमारे हृदयों में प्रेम की लहरें, तरंगें उठाओ, हमें द्वेषों से मुक्त कर दो, शान्ति सरसाओ, भय दूर करो।

---

१. द्वेषस् शब्द का द्वितीया एकवचन। द्वेषः, द्वेषसी, द्वेषांसि।
२. यु मिश्रणे ऽ मिश्रणे च। तुमुन् के अर्थ में तवै प्रत्यय।
३. गृ शब्दे, क्र्यादि। गृणीमसि=गृणीमः।
४. दा धातु, तुमुन् अर्थ में तवेन् प्रत्यय। दातवे=दातुम्।
५. वस्तुः वासयिता। वस निवासे, तुन् प्रत्यय।

१२७. उद्बोधन

अभि प्र भर धृषता धृषन्मनः श्रवश्चित् ते असद् बृहत्।
अर्षन्त्वापो जवसा वि मातरो हनो वृत्रं जया स्वः॥

—ऋ० ८.८९.४

ऋषिः—नृमेध-पुरुमेधौ आङ्गिरसौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—सतोबृहती पङ्क्तिः॥

(**धृषन्मनः**) हे धर्षणशील मन वाले! तू (**धृषता**) अपने धर्षण-सामर्थ्य से (**अभि प्र भर**[1]) चारों ओर प्रहार कर। (**श्रवः चित्**) यश भी (**ते**) तेरा (**बृहत् असत्**[2]) महान् हो। (**अर्षन्तु**[3]) बहें (**मातरः आपः**) निर्मात्री धाराएँ (**जवसा**) वेग से। (**हनः**[4]) नष्ट कर (**वृत्रम्**) अन्धकार को, (**जय**[5]) जीत ले (**स्वः**) प्रकाश को।

हे मनुष्य! तू अन्धकार से, तामसिकता से, पैशाची शक्तियों से, अभद्र के काले बादलों से घिरा हुआ है। तेरे चारों ओर दुरित पनप रहा है, हिंसा भड़क रही है, अन्याय बेकाबू हो रहा है। अधर्म जड़ पकड़ रहा है, अनाचार फैल रहा है, पारस्परिक घृणा मुँह बा रही है, असत्य नग्न नृत्य कर रहा है। पूँजीवाद सिर उठा रहा है, कृपणता घर कर रही है, वैमनस्य उछल रहा है, दम्भ हर्षित हो रहा है, अविद्या सरस रही है। हे वीरपुङ्गव! क्या तेरी वीरता किसी काम न आयेगी? क्या तेरा मनोबल पराजित ही होता रहेगा? तू स्वयं को पहचान। तेरे मन में विकराल धर्षण-शक्ति है, रिपु-संहार का अदम्य सामर्थ्य है। प्रहार कर वृत्र पर, चकनाचूर कर दे उसे। अपनी सामरिक शक्ति से परास्त कर दे अत्याचारी को।

'वृत्र' अवरोधक बनकर अन्तरिक्ष के जल को बरसने नहीं देता। सूर्य-रूप इन्द्र उसका संहार करके अवरुद्ध जलों को बरसा देता है। वर्षा से भूमि सरस हो जाती है। नदियाँ निर्बाध बहने लगती हैं। ऐसे ही समाज में दुरित के 'वृत्र' ने सद्विद्या और सदाचार के निर्मल जल को बरसने से रोका हुआ है। तू दुरित पर प्रहार करके उसे ध्वस्त कर दे। तेरा महान् यश चारों दिशाओं में फैल जायेगा। दुरित-रूप 'वृत्र' के छिन्न-भिन्न हो जाने से राष्ट्र में सद्विद्या और सदाचार का निर्मल सलिल बरस पड़ेगा। जीवन-निर्मात्री धाराएँ बहने लगेंगी। प्रेम और न्याय की मन्दाकिनी तरंगित हो पड़ेगी। दान, दया, अहिंसा की त्रिवेणी तरलित हो जायेगी। विद्या की सरस्वती प्रवाहित होने लगेगी। सार्वभौम धर्म की यमुना चञ्चल हो उठेगी। सत्य की सतलुज सत्पथ पर चल पड़ेगी। सौहार्द की सिन्धु बहने लगेगी। रुकी हुई अध्यात्म की धारा से धरणी आप्लावित हो जायेगी।

हे इन्द्र! हे वीर! तामसिकता के 'वृत्र' को विनष्ट कर दे, प्रकाश को जीत ले। राष्ट्र में सूर्य-जैसी ज्योति चारों ओर प्रसारित कर दे। जनता तेरे विजय-गीत गायेगी।

---

१. प्र भर=प्र हर। ह् को भ् छान्दस।
२. अस भुवि, लेट् लकार।
३. अर्षन्तु=ऋषन्तु=गच्छन्तु। ऋषी गतौ, तुदादि, व्यत्यय से शप्।
४. हन हिंसागत्योः, अदादि। लेट्, मध्यमपुरुष, एकवचन। हनः=जहि।
५. जि जये, भ्वादि। संहिता में 'जया' में दीर्घ छान्दस।

१२८. कैसी बुद्धि और क्रिया हमें चाहिए?

स नो वृषन्त्सनिष्ठया सं घोरया द्रवित्न्वा। धियाविड्ढि पुरन्ध्या॥

—ऋ० ८.९२.१५

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

(सः) वह आप **(नः)** हमें **(वृषन्)** हे वर्षक इन्द्र प्रभु! **(सनिष्ठया[1])** सर्वाधिक लाभ पहुँचाने वाली, **(घोरया)** घोर, **(द्रवित्न्वा[2])** द्रवित होने वाली **(पुरन्ध्या[3])** बहुतों को धारण करने वाली **(धिया)** सद्बुद्धि एवं सत्क्रिया से **(सम् अविड्ढि[4])** भली-भाँति रक्षित करो।

वेद में बुद्धि के वाचक शब्द प्रायः कर्म या क्रिया के वाचक भी होते हैं। अतः जहाँ-जहाँ वेदों में धी, क्रतु, केतु, शची, माया, वयुन आदि शब्दों से बुद्धि की प्रार्थना मिलती है, वहाँ कर्मशीलता की प्रार्थना भी समझनी चाहिए। प्रस्तुत मन्त्र में इन्द्र प्रभु से याचना की गयी है कि वह हमें बुद्धि और क्रिया देकर हमारी रक्षा करे।

हे इन्द्र! तुम वृषा हो, वर्षक हो। हमारे ऊपर हितकर वस्तुओं की वर्षा करने वाले हो। अतः तुम्हीं हमें बुद्धि एवं क्रिया भी प्रदान कर सकते हो। तुम हमें ऐसी बुद्धि एवं क्रिया प्रदान करो, जो 'सनिष्ठा' हो, अतिशय लाभ देने वाली हो। बुद्धि और क्रिया जब विपरीत दिशा में चलती हैं, तब वे लाभकारी होने के स्थान पर विनाशकारी हो जाती हैं। क्या विपरीत बुद्धि और विपरीत क्रिया के बल से संसार में संहार-लीलाएँ नहीं हुई हैं, भीषण युद्ध नहीं मचे हैं, जन-धन की अपार क्षति नहीं हुई है? अतः हमें तो तुम हितकर बुद्धि एवं क्रिया ही प्रदान करो। साथ ही हमें तुम दस्युवृत्ति वाले लोगों के लिए, पिशाचों के लिए 'घोर' बुद्धि एवं क्रिया भी दो, जिससे हम उनके द्वारा मचायी जाने वाली पैशाचिकता से लोहा ले सकें। हे इन्द्र! तुम हमें 'द्रवित्नु' बुद्धि और क्रिया का भी दान करो, जो दीन-दुःखियों को देखकर द्रवित हो सके। दीनों, असहायों, आपद्ग्रस्तों के सम्मुख जो कठोर बनी रहे, उनकी रक्षा और सहायता के लिए न उमड़ पड़े, ऐसी बुद्धि और क्रिया कैसी भी तीव्र क्यों न हो संसार के भला किस काम की है? तुम हमें 'पुरन्धि' नामक बुद्धि और क्रिया का भी पात्र बनाओ। 'पुरन्धि' उसे कहते हैं जो बहुतों का धारण-पोषण कर सके, क्योंकि संसार में धारण-पोषण की ही आवश्यकता है, संहार की नहीं।

हे देव! तुम्हारी कृपा से यदि हम ऐसी बुद्धि और क्रिया प्राप्त कर लेंगे तो सचमुच समाज के, राष्ट्र के और विश्व के निर्माण में हमारा भी कुछ योगदान हो सकेगा।

---

१. अतिशयेन सनित्री सनिष्ठा। षण सम्भक्तौ, इष्ठन्।
२. द्रवित्न्वा=द्रावयित्र्या। द्रु गतौ, इत्नुच् प्रत्यय।
३. पुरून् बहून् दधाति धारयतीति पुरन्धिः तया।
४. अव रक्षणादिषु। अविड्ढि=अव, लोट्, मध्यमपुरुष, एकवचन, छान्दस रूप।

१२९. 'सूर्य' किनके प्रति उदित होता है?

उद् घेद्भि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम्। अस्तारमेषि सूर्य॥ —ऋ० ८.९३.१

ऋषिः—सुकक्षः आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

(**घ इत्**) निश्चय ही (**श्रुतामघम्**[१]) वेदशास्त्र को तथा श्रुत उपदेश को धन मानने वाले, (**वृषभम्**) बरसाने वाले अर्थात् विद्या, भौतिक सम्पदा आदि की दूसरों पर वर्षा करने वाले, (**नर्यापसम्**[२]) नरहितकारी कर्म करने वाले और (**अस्तारम्**[३]) विघ्न-बाधाओं को दूर फेंक देने वाले मनुष्य के (**अभि**) प्रति, तुम (**उत् एषि**) उदित होते हो, (**सूर्य**) हे सूर्य! हे इन्द्र!

आकाश का सूर्य तो राजा-रङ्क, धनी-गरीब, पुण्यात्मा-पापी, पूँजीपति-श्रमिक सभी के प्रति उदित होता है। अतः मन्त्रोक्त सूर्य कोई दूसरा ही सूर्य होना चाहिए, जो कुछ विशेष लोगों के प्रति ही उदित होता है। यह हैं परमेश्वर-रूप सूर्य, जो भौतिक सूर्य के समान ही, बल्कि उससे भी अधिक, प्रकाश देता है। भौतिक सूर्य का प्रकाश भी भौतिक है, किन्तु परमेश्वर-रूप सूर्य का प्रकाश दिव्य है, आध्यात्मिक स्तर का है। जो परमेश्वर की केवल रट लगाये रहते हैं, वाणी से उसका 'इन्द्र' नाम उच्चारते रहते हैं, परमेश्वर के 'सूर्य' नाम की अलख जगाये रहते हैं, उनके प्रति वह उदित नहीं होता, क्योंकि उनका परमात्म-स्मरण वास्तविक न होकर बनावटी होता है। वे भगवान् का नाम तो लेते हैं, किन्तु उससे अनुमोदित कर्म नहीं करते हैं।

परमेश्वर-रूप सूर्य उदित होता है उनके प्रति, जो 'श्रुतामघ', 'वृषभ', 'नर्यापस्' और 'अस्ता' होते हैं। 'श्रुतामघ' वे कहलाते हैं जो वेदादि प्रामाणिक शास्त्रों को अपना अमूल्य धन समझकर उनका अध्ययन-अध्यापन करते हुए उनकी रक्षा में तत्पर रहते हैं। ये लोग शास्त्रों को पढ़कर तदनुकूल अपना जीवन बनाते हैं। 'श्रुतामघ' लोग ऋषि-महर्षियों एवं सन्त-महात्माओं से सुने हुए उपदेश को भी बहुमूल्य धन के समान मानते हैं। ज्ञानियों के उपदेशों का वे श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार करके उन्हें अपने क्रियात्मक जीवन का अङ्ग बनाते हैं। जो लोग 'श्रुतामघ' नहीं होते, वे अपने अधकचरे या भ्रान्त ज्ञान को ही प्रामाणिक मानकर राहों में भटकते रहते हैं। 'वृषभ' का अर्थ होता है बरसाऊ बादल। जो लोग बादल बनकर विद्या, धर्म, भौतिक सम्पदा आदि की दूसरों पर वर्षा करते रहते हैं, वे लोग 'वृषभ' कहलाते हैं। बादल के पास जो शुद्ध पानी होता है, उसे बरसाकर वह भूमि को सस्यश्यामला कर देता है। ऐसे ही 'वृषभ' लोगों के पास जो भी धन-धान्य, सद्गुण आदि होते हैं, उन्हें वे अभावग्रस्त लोगों पर बरसाकर उन्हें हरा-भरा करते हैं। 'नर्यापस्' वे कहलाते हैं, जिनके कर्म नरों का या मानव-समाज का हित करने वाले होते हैं। सामान्यतः मनुष्य में स्वार्थवृत्ति पनपती देखी जाती है। कुछ लोग तो यह सोचते हैं कि परार्थ को कोई क्यों देखे? सब अपना-अपना स्वार्थ देखकर अपने ही लिए धन-सम्पत्ति, सुख-सुविधा आदि का उपार्जन करें, तो स्वतः सभी सुखी हो जायेंगे। इसकी क्या आवश्यकता है कि कोई दूसरे के लिए कुछ करे? जो अपना सुख स्वयं अर्जित नहीं कर सकते, दूसरे लोग भी उनकी चिन्ता क्यों करें? परन्तु 'नर्यापस्' लोगों की यह विचारधारा नहीं होती। वे वैसे ही दूसरों का हित करते हैं, जैसे अपने परिवार का करते हैं। उनकी परिवार की सीमा ही विशाल हो जाती है। वे सारे राष्ट्र को या सारी वसुधा को ही अपना कुटुम्ब समझते हैं। फलतः मानवमात्र के हित-संपादन में संलग्न रहते हैं। 'अस्ता' वे कहलाते हैं, जो मार्ग में आनेवाली समस्त विघ्न-बाधाओं को परे फेंककर आगे बढ़ सकते हैं। सूर्य के समान प्रकाशमय तथा प्रकाशदाता 'इन्द्र' नामक परम प्रभु इन्हीं चारों प्रकार के लोगों के हृदय-प्राङ्गण में उदित होते हैं।

अतः आओ, हम भी मन्त्रोक्त गुणों को अपने अन्दर धारण करके सूर्यसम प्रभु के दिव्य आलोक को पाने के अधिकारी बनें।

---

१. श्रुतानि वेदादिशास्त्राणि श्रुतः उपदेशो वा मघं धनं यस्य स श्रुतमघः। स एव श्रुतामघः। दीर्घ छान्दस।
२. नर्याणि नरहितकराणि अपांसि कर्माणि यस्य स नर्यापाः, तं नर्यापसम्।
३. अस्यति क्षिपति विघ्नबाधादिकं यः तम्, असु क्षेपणे, दिवादिः।

१३०. भद्र 'इष्' और 'ऊर्ज्' की याचना

भ॒द्रंभ॑द्रं न॒ आ भ॑रे॒षमूर्जं॑ शतक्रतो। यदि॑न्द्र मृ॒ळया॑सि नः॥

—ऋ० ८.९३.२८

ऋषिः—सुकक्षः आङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥

(**भद्रं-भद्रम्**) भद्र ही भद्र (**नः**) हमारे लिए (**आ भर**) लाओ (**इषम्**) इष् और (**ऊर्जम्**) ऊर्ज्, (**शतक्रतो इन्द्र**) हे शतप्रज्ञ तथा शतकर्मा इन्द्र प्रभु! (**यत्**) जब (**मृडयासि नः**) आप हम पर कृपालु होते हो।

जब कोई राजा, राज्याधिकारी, संन्यासी, उपदेशक, माता, पिता आदि सांसारिक मनुष्य हम पर कृपालु होते हैं, तब वे हमारे लिए अपने-अपने भण्डार मे से अनेक अद्‌भुत वस्तुओं का उपहार हमें दे देते हैं। पर उनका भण्डार स्वयं ही बहुत सीमित होता है, अतः वे कितना भी हमें दें, अपर्याप्त ही रहता है। दूसरी बात यह कि उनके भण्डार में अधिकतर भौतिक वस्तुएँ ही होती हैं, इसलिए वे ही उनसे हमें प्राप्त हो पाती हैं। परन्तु प्रभुदेव के भण्डार में भौतिक-दिव्य सब प्रकार की वस्तुएँ विद्यमान हैं, साथ ही उनका भण्डार कभी खाली होनेवाला नहीं है। अतः वे भौतिक तथा दिव्य सब वस्तुएँ अपरिमित रूप से हमें दे सकते हैं।

हे इन्द्र परमेश! हमारे सत्कर्म, सदाचार, न्यायप्रियता आदि के कारण आज आप हम पर कृपालु हुए हैं। दया की दृष्टि आपने हमारे ऊपर पसारी है। इससे हम धन्य हुए हैं। आप 'शतक्रतु' हो, अनन्त प्रज्ञा वाले हो, अनन्त कर्मों वाले हो। आपसे हमारा निवेदन है कि आप हमें भद्र ही भद्र 'इष्' और 'ऊर्ज्' प्रदान करो। 'इष्' और 'ऊर्ज्' शब्द वेद के उन सारगर्भित शब्दों में से हैं, जो विविध बाह्य और आन्तरिक अर्थ को अपने अन्दर समेटे हुए हैं। 'इष्[१]' वाचक है समस्त स्वास्थ्यप्रदायक अन्नादि भोज्य-पदार्थों का, समृद्धि का, सत्सङ्कल्प का, महत्वाकांक्षा का, सिद्धिप्रदायक इच्छाशक्ति का, सत्प्रेरणा का, प्रगतिशीलता का, विज्ञान का, ब्रह्मबल एवं दिव्यता की प्राप्ति का और 'ऊर्ज्[२]' में प्राणशक्ति, आत्मबल, क्षात्रबल, ऊर्जा, पौरुष, पराक्रम, क्रियाशक्ति, ऊर्ध्वारोहण, लक्ष्य-प्राप्ति आदि समाविष्ट हैं। ये सब वस्तुएं स्वयं ही मङ्गलरूप हैं, फिर भी इनके साथ भद्र पद का प्रयोग करके हम पूर्ण सतर्कता बरत रहे हैं कि ये भी यदि कभी किसी दृष्टि से अभद्र हो सकती हैं तो इन्हें अभद्रता से रहित करके पूर्ण भद्र रूप में ही हमें प्राप्त कराओ।

हे देव! कृपापूर्वक हमारे परम उत्थान में सहायक होते हुए हमारी इस याचना को पूर्ण करो।

---

१. इष गतौ, दिवादि। इष आभीक्ष्ण्ये, क्र्यादि। इषु इच्छायाम्, तुदादि। इषति गतिकर्मा, निघं० २.१४। इषम्=अन्न, निघं० २.७।

२. ऊर्ज बलप्राणनयोः, चुरादि। ऊर्ज्=अन्न, निघं० २.७। ऊर्ज्=अन्न, रस, निरु० ९.४१, ११.२६।

१३१. शुद्ध प्रभु की शुद्ध रक्षाएँ

इन्द्र शुद्धो न आ गहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः।
शुद्धो रयिं नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्यः॥

—ऋ० ८.९५.८

ऋषिः—तिरश्चीः आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

(इन्द्र) हे इन्द्र प्रभु! **(शुद्धः)** शुद्ध आप **(नः आगहि[1])** हमारे पास आओ। **(शुद्धः)** शुद्ध आप **(शुद्धाभिः ऊतिभिः)** शुद्ध रक्षाओं के साथ [आओ]। **(शुद्धः)** शुद्ध आप **(रयिम्)** ऐश्वर्य **(निधारय)** प्राप्त कराओ। **(शुद्धः)** शुद्ध **(सोम्यः)** सौम्य आप **(ममद्धि[2])** आनन्दित करो।

शुद्ध निश्छल व्यक्ति का सम्पर्क बड़ा ही मधुर और कल्याणकारक होता है। किसी शुद्ध अन्तःकरण वाले महात्मा के पास बैठकर देखो। उसके पास से पवित्रता की तरंगें अपने अन्दर आती हुई स्पष्ट प्रतिभासित होती हैं। फिर हे प्रभु! तुम तो शुद्ध ही शुद्ध हो। तुम मेरे पास आकर अपनी शुद्धता से मेरे आत्मा को भी शुद्ध कर दो। हे प्रभु! तुम अपनी पवित्र रक्षाओं के साथ मेरे पास आओ।

अपवित्र मनुष्य की रक्षाएँ रक्षाएँ न होकर विपदाएँ होती हैं। एक भाई अपने मित्र को एक सहस्र रुपये थमाते हुए बोले, यह रख लो, तुम भाभी को अच्छी साड़ी भी नहीं पहना पाते हो, हर महीने कुछ देता रहूँगा। अगले दिन आकर कहने लगे—भाभी, भैय्या बाहर गये हुए हैं, तुम अकेली घर में घुट रही हो, चलो सिनेमा ही देख आते हैं, मनोरञ्जन हो जायेगा। भाभी ने उनके दिये रुपये मेज पर रखते हुए कहा—तुम्हारे भैया इन्हें वापिस करने को कह गये हैं, हमें नहीं चाहिएँ। एक पैदल यात्री गठरी सिर पर लिये जङ्गल में से गुजर रहा था। गठरी में स्वर्ण-मुद्राएँ थीं। मार्ग में कुछ साथी भी मिल गये थे। राह-बीच लुटेरों ने भाँप लिया, उसे लूटने लगे। तब साथियों ने ही उसे बचाया। जङ्गल पार करने पर एक साथी का गाँव आ गया, उसने मुद्राओं वाले यात्री को भी अपने घर ठहरने के लिए बाध्य किया। उसने भी सोचा, ठीक है, मुद्राएँ सुरक्षित रहेंगी, सबेरे उठकर चल दूँगा। मुद्राओं की पोटली उसने साथी गृहपति को थमा दी, इसे रख लो, भोर में जाते समय ले लूँगा। वह खा-पीकर सो गया। पर सोता ही रह गया, गृहपति ने उसे विष दे दिया था। इस प्रकार अशुद्ध रक्षाएँ ठगने वाली या जानलेवा होती हैं। अतः हे प्रभु! हम तुम्हारी शुद्ध रक्षाओं की याचना करते हैं।

हे शुद्ध परमेश! तुम हमें शुद्ध ऐश्वर्य प्रदान करो। पाप और दूसरों के शोषण से प्राप्त सम्पत्ति हमें नहीं चाहिए। पसीने और सच्चाई की कमाई थोड़ी भी हो, तो हम उससे सन्तोष कर लेंगे। भौतिक धनों के अतिरिक्त हम तुमसे शुद्ध सत्य, न्याय, दान, दया आदि के ऐश्वर्य की भी याचना करते हैं।

हे सौम्यमूर्त्ति! हे शान्ति के अग्रदूत! हे आनन्दस्वरूप प्रभुवर! शुद्ध तुम हमें अपनी शुद्ध आनन्द की गङ्गा में नहलाकर शुद्ध कर दो। हम तुम्हारे होकर तुमसे प्रार्थना कर रहे हैं, पूर्ण करो।

---

१. गम्लृ गतौ। आगहि=आगच्छ, छान्दस रूप।
२. मदी हर्षे, णिच्। ममद्धि=मादयस्व, छान्दस रूप।

१३२. ऐसे लोगों से हमें बचाओ

न यः संपृच्छे न पुनर्हवीतवे न संवादाय रमते।
तस्मान्नो अद्य समृतेरुरुष्यतं बाहुभ्यां न उरुष्यतम्॥

—ऋ० ८.१०१.४

ऋषिः—जमदग्निः भार्गवः॥ **देवता**—मित्रावरुणौ॥ **छन्दः**—सतोबृहती पङ्क्तिः॥

हे मित्र और वरुण! **(न)** न **(यः)** जो **(संपृच्छे[१])** ठीक प्रकार से प्रश्न करने के लिए, **(न पुनः)** न ही **(हवीतवे[२])** आहुति देने के लिए, **(न)** न ही **(संवादाय)** परस्पर मिलकर एक-मत होने के लिए **(रमते)** आनन्द मानता है, **(तस्मात् समृतेः[३])** उस समरालु से **(अद्य)** आज **(नः)** हमें **(उरुष्यतम्[४])** बचाओ, **(बाहुभ्याम्)** उसकी भुजाओं से **(नः)** हमें **(उरुष्यतम्)** बचाओ।

समाज में ब्राह्मण सबको यथोचित शिक्षा देकर सबसे मैत्री का निर्वाह करने के कारण 'मित्र' कहलाता है और क्षत्रिय शत्रुओं का निवारण करने के कारण 'वरुण' संज्ञक होता है। ये दोनों ब्राह्मण तथा क्षत्रिय मिलकर समाज को ठीक राह पर चलाते हैं और विपत्तियों से समाज की रक्षा करते हैं। मन्त्र में मित्र-वरुण नाम से ब्राह्मण-क्षत्रियों से निवदेन किया गया है कि तुम अवांछित लोगों से हमारी रक्षा करो। जिनसे रक्षा करनी है ऐसे तीन प्रकार के व्यक्तियों के नाम गिनाये गये हैं। पहले प्रकार के लोग वे हैं, जो न ज्ञानी हैं और न ही ज्ञान प्राप्त करने के लिए ज्ञानी लोगों के पास जाकर प्रश्न पूछते हैं। जिज्ञासु बनकर शिष्यभाव से ज्ञानियों के समीप पहुँचना, उनसे प्रश्न पूछना, शङ्का-समाधान करना विद्वान् बनने का उत्कृष्ट उपाय है। जो इस रुचि को अपने अन्दर जागरित न करके अविद्वान् ही बने रहना चाहते हैं, वे समाज के लिए अभिशाप-रूप होते हैं, क्योंकि अज्ञानी और अविवेकी मनुष्य समाज को बहुत बड़ी हानि पहुँचाता है। दूसरे प्रकार के लोग वे हैं, जो ज्ञान से परिपक्व तो होते हैं, परन्तु उनके अन्दर स्वार्थवृत्ति इतनी अधिक होती है कि समाज के हितार्थ अपना होम तो बहुत दूर की बात है, अपनी किसी वस्तु का भी होम नहीं कर सकते। वे भले ही करोड़पति हों, परन्तु अन्न के दो दानों को तरसने वाले किसी गरीब भाई-बहिन पर कुछ खर्च नहीं कर सकते, समाज के हित की योजना में कोई योगदान नहीं कर सकते। ये लोग भी समाज के शत्रु हैं। तीसरे प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं, जो भले ही गल्ती पर हों, परन्तु अपनी बात पर अड़े रहते हैं। परस्पर मिल-जुलकर विचार-विनिमय करके दूसरों के साथ एकमत होने का कोई रास्ता निकालने को तैयार नहीं होते। इनके अड़ियल रुख के कारण सही मार्ग नहीं निकल पाता। अतः ये भी समाज-विघातक होते हैं।

हे राष्ट्र के ब्राह्मणो और क्षत्रियो! तुम समाज की उन्नति के बाधक उक्त तीनों प्रकार के हिंसक लोगों से हमारी रक्षा करो। हे ब्राह्मणो! तुम अपने सत्परामर्श से उन्हें सदाचारी बनाकर और हे क्षत्रियो! तुम उन्हें कुमार्ग पर चलने का कठोर दण्ड देकर उनसे हमारी रक्षा कर सकते हो। तुम उक्त समाज-वैरियों की बाहुओं से अर्थात् बाहुओं से किये जानेवाले उनके कुटिल कर्मों से हमारी रक्षा करके समाज को पूर्ण समुन्नत करने में हमारे सहायक बनो।

---

१. संपृच्छे=संप्रश्नाय। संपृच्छ्, चतुर्थी एकवचन।
२. हु दानादनयोः, तुमर्थ में तवेन् प्रत्यय।
३. सम्-ऋ हिंसायाम्, स्वादि, क्तिन्।
४. उरुष्य धातु रक्षार्थक, निरु० ५.२३।

१३३. आकाश को छूने वाला यज्ञ

आ नो यज्ञं दिविस्पृशं वायो याहि सुमन्मभिः।
अन्तः पवित्र उपरि श्रीणानो३ऽयं शुक्रो अयामि ते॥

—ऋ० ८.१०१.९

ऋषिः—जमदग्निः भार्गवः॥ देवता—वायुः॥ छन्दः—बृहती॥

(आ याहि) आओ, **(वायो)** हे वायु के समान क्रियाशील विद्वन्! आप **(नः)** हमारे **(दिविस्पृशम्)** गगनचुम्बी अर्थात् अत्यन्त उच्च **(यज्ञम्)** यज्ञ में **(सुमन्मभिः[1])** सुविचारों के साथ। **(अन्तः पवित्रे)** पवित्र अन्तःकरण में और **(उपरि)** ऊपर अर्थात् बाहर शरीर में **(श्रीणानः[2])** स्वयं को पकाता हुआ **(अयं शुक्रः[3])** यह पवित्र और तेजस्वी मैं **(ते अयामि[4])** तुझे प्राप्त हो रहा हूँ।

हमने महान् यज्ञ का शुभारम्भ किया है। उस यज्ञ की महत्ता को बताने के लिए कह सकते हैं कि वह 'दिविस्पृश्' है, इतना ऊँचा है कि आकाश को छूता है। यद्यपि कोई वैचारिक क्रान्ति का यज्ञ या क्रियात्मक क्रान्ति का यज्ञ सचमुच आकाश को छूनेवाला नहीं होता, तो भी जिस बात को बहुत उच्च या महत्त्वपूर्ण बताना होता है, उसे गगनचुम्बी कह देने का मुहावरा भाषा में प्रयुक्त होता है। स्वभावतः तुम पूछोगे कि यह कौन-सा यज्ञ है? यह यज्ञ है संसार को वेदमार्ग पर चलाने का यज्ञ, मानव को देवत्व की ओर ले जाने का यज्ञ। आज का मानव देवत्व की ओर जाने की तो बात ही क्या, मानवत्व से भी च्युत होकर दैत्य बन रहा है। हमारा यज्ञ यह क्रान्ति लाने के लिए है कि पहले तो मानव दैत्यपन को तिलाञ्जलि देकर मानव बने और फिर मानवत्व से देवत्व की ओर अग्रसर हो। यह बात कहने में भले ही आसान लगती हो, पर करने में बहुत अधिक कठिन है। पशुता मानव के जीवन का ऐसा अङ्ग बन गयी है कि वह उसे सहसा छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता है। वेद ने पग-पग पर मनुष्य को उत्थान या ऊर्ध्व-यात्रा के लिए प्रेरित किया है। वेद हमें सन्देश देता है कि पार्थिव स्तर से उठकर हम अन्तरिक्ष के स्तर पर पहुँच जाएँ, अन्तरिक्ष से उठकर द्युलोक के स्तर पर पहुँच जाएँ और द्युलोक से उठकर स्वर्लोक के स्तर पर पहुँच जाएँ। यह निरन्तर ऊर्ध्व-यात्रा करते रहने की दिव्य प्रेरणा है।

हे वायु! हे वायु के समान जन-मानस में सुगन्ध फैलानेवाले क्रियाशील विद्वन्! तुम इस यज्ञ की पूर्ति में हमारे सहायक बनो। तुम अपने सुविचारों से जनता में उच्चता की तरंग उठाओ। हे विद्वन्! हम मार्गदर्शन के लिए तुम्हारे पास आ रहे हैं। हमने अपने अन्तःकरण को भी तप से पका लिया है। तपस्या से पवित्र और तेजस्वी बनकर हम दिव्य वैदिक प्रेरणा पाने के लिए तुम्हारे समीप पहुँच रहे हैं। हमें वेदमार्ग दर्शाकर हमारे ऊर्ध्वगामिता के यज्ञ को सफल करो।

---

१. मन्मानि मननानि, निरु० ८.६।
२. श्रीञ् पाके, क्र्यादि, शानच्।
३. शुचिर पूतीभावे, दिवादि। शुच ज्वलनार्धक, निघं० १.१६।
४. अय गतौ, भ्वादि, लट्, उत्तमपुरुष, एकवचन।

१३४. हमें ज्योति, सुख और सौभाग्य प्रदान करो

सना ज्योतिः सना स्व१र्विश्वा च सोम सौभगा। अथा नो वस्यसस्कृधि॥

—ऋ० ९.४.२

ऋषिः—हिरण्यस्तूपः आङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥

(**सन**[१]) प्रदान करो (**ज्योतिः**) ज्योति। (**सन**) प्रदान करो (**स्वः**) आनन्द। (**विश्वा**[२] **च**) और सब (**सोम**) हे सोम प्रभु! (**सौभगा**) सौभाग्य [प्रदान करो]। (**अथ**) और (**नः**) हमें (**वस्यसः**[३]) अतिशय वसुमान् (**कृधि**) कर दो।

हे भक्त के प्रति रस बहानेवाले सोम प्रभु! हे चाँद के समान आह्लाददायक सोम प्रभु! आज हम भक्तिभाव से तुम्हारे समीप कुछ प्रार्थना लेकर आए हैं। चन्द्रमा जैसे अपनी शीतल चाँदनी से जग को तृप्त करता है, ऐसे ही तुम हमें अपनी मधुर ज्योति से अनुप्राणित कर दो। तामसिकता के अन्धकार में रहते-रहते हम तङ्ग आ चुके हैं। उससे उद्धार पाने के लिए व्याकुल हो रहे हैं। तुम हमें अपनी सलोनी ज्योति का दर्शन कराकर कृतकृत्य कर दो। तुम्हारी दिव्य ज्योति से जब हमारा आत्मा, हमारा मन, हमारी बुद्धि, हमारा प्राण, हमारी चक्षु-श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ आलोकित हो जायेंगी, तब हमारा यह देह-रूप प्रासाद जगमग-जगमग करने लगेगा। अन्धकार का लवलेश भी नहीं रहेगा। हमें किस मार्ग से जाना है, यह स्पष्ट भासित होने लगेगा। किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की भूलभुलैया से हम पार हो जायेंगे। विवेक द्वारा कर्त्तव्यज्ञान सुगम हो जायेगा।

दूसरी वस्तु हम तुमसे माँगते हैं 'स्वः', अर्थात् सुख या आनन्द। अँधेरे का परिणाम दुःख और ज्योति का परिणाम सुख होता ही है। अँधेरे में ठोकरें खाकर दुःख ही भोगना पड़ता है और प्रकाश में मार्ग स्पष्ट हो जाने से आसानी से पड़ाव पर पहुँच सकते हैं। अभीष्ट पड़ाव पर पहुँचने से अवर्णनीय सुख की प्राप्ति होती ही है। हमें सांसारिक सुख भी प्राप्त हों और दिव्य आनन्द के भी भागी हम बन सकें।

तीसरी वस्तु जो हम पाना चाहते हैं, वह है सर्वविध सौभाग्य। हमें धन-दौलत का सौभाग्य भी मिले, वैदुष्य का सौभाग्य भी मिले, यश का सौभाग्य भी मिले, जन-नायक होने का सौभाग्य भी मिले, वैराग्य का सौभाग्य भी मिले और हे सोम प्रभु! तुम्हारे प्रेम का पात्र बनने का सौभाग्य भी मिले। हे मेरे आह्लादक चन्द्र, तुम सब प्रकार के दुर्भाग्यों से मुझे उबारकर सौभाग्य-सिन्धु में स्नान कराते रहो। हे देव! तुम मुझे अतिशय वसुमान् भी बना दो। 'वसु' धन को भी कहते हैं और निवास को भी। वह दिव्य धन तुम मुझे प्राप्त करा दो, जिसके सम्मुख समस्त सांसारिक ऐश्वर्य फीके पड़ जाते हैं। तुम अपनी उस अद्भुत दिव्य शरण में निवास करा दो, जिसका निवासी बन जाने पर सब भौतिक राजप्रासाद आदि के निवास तुच्छ लगने लगते हैं।

---

१. षण सम्भक्तौ, लेट्, मध्यमपुरुष, एकवचन। संहिता में 'सना' में दीर्घ छान्दस।
२. विश्वा सौभगा=विश्वानि सौभगानि।
३. वस्यसः वसीयसः, अतिशयेन वसुमतः।

१३५. अन्तरात्मा में सोमरसों का अवतरण

एते वाताइवोरवः पर्जन्यस्येव वृष्टयः। अग्नेरिव भ्रमा वृथा॥

—ऋ० ९.२२.२

ऋषिः—असितः काश्यपः देवलो वा॥ **देवता**—पवमानः सोमः॥ **छन्दः**—गायत्री॥

(**एते**) ये सोमरस (**उरवः वाताः इव**) विशाल पवनों के समान (**पर्जन्यस्य इव वृष्टयः**) बादल की वृष्टियों के समान और (**अग्नेः इव भ्रमाः**) अग्नियों के ज्वालासञ्चारों के समान (**वृथा**[1]) अनायास ही [व्यानशुः[2]] हमारे आत्मा में व्याप्त हो रहे हैं। [यहाँ 'व्यानशुः' पद उत्तर मन्त्र से लाया गया है]।

देखो, रसागार सोम प्रभु के पास से ब्रह्मानन्द-रूप सोमरस हमारे अन्तरात्मा में व्याप्त हो रहे हैं। सोमरसों के व्याप्त होने के विषय में तीन उपमाएँ मन्त्र में दी गयी हैं। पहली उपमा है विशाल पवनों की। जैसे विशाल पवन झंझावात के रूप में आते हैं और अपने साथ भूतल की मलिनता को हर ले जाते हैं, ऐसे ही प्रभु से दिव्य आनन्दरस तीव्र झोंके के साथ हमारे अन्तरात्मा में आये हैं और इन्होंने आत्मा के समस्त मालिन्य को हरकर आत्मा को निर्मल बना दिया है। जैसे पवन विशाल होते हैं, ऐसे ही ये ब्रह्मानन्द भी विशाल हैं। जैसे पवन भूतल के कोने-कोने में प्रविष्ट हो जाते हैं, ऐसे ही ये आनन्दरस मन, बुद्धि, प्राण, ज्ञानेन्द्रिय आदि सब में व्याप्त हो गये हैं। दूसरी उपमा है पर्जन्य-वृष्टियों की। जैसे पर्जन्य से कभी रिमझिम और कभी मूसलाधार वर्षाएँ भूमि पर गिरकर उसकी प्यास बुझाती तथा उसे संतृप्ति प्रदान करती हैं, ऐसे ही परम व्योम में या परमोच्च स्तर में विद्यमान सोमप्रभु की आनन्दरस की वृष्टियों ने हमारे आत्मा, मन और प्राण की भूमियों पर गिरकर उन्हें संतृप्त कर दिया है। तीसरी उपमा अग्नि के ज्वालासंचारों की है। जैसे अग्नि की ज्वालाएँ उमड़ती-घुमड़ती जङ्गल में आगे बढ़ती हुई पुराने झाड़ी-झंखाड़ों को जलाकर वन-भूमि को नवीन झुरमुटों एवं तरु-वल्लरियों के उत्पन्न करने योग्य बना देती हैं, ऐसे ही दिव्य सोमाग्नि की प्रज्वलित शिखाएँ मानस के मालिन्य को दग्धकर आत्मा एवं मन को आशाओं, उत्कण्ठाओं तथा दिव्य भावों के उदय एवं विकास के योग्य कर देती हैं।

आओ, हे सोमरस के विशाल पवनो! हे सोमरस की दिव्य वृष्टियो! हे सोमाग्नि की दिव्य ज्वालाओ! तीव्रता के साथ हमारे अन्तरात्मा में एवं मानस में अवतीर्ण होकर हमें कृतार्थ करो।

शान्ति-रस को भी सोम-रस कहते हैं। वेद में धरती-आकाश, वन-पर्वत, ओषधि-वनस्पति, तरु-लता, सरिता-समुद्र, अन्तरिक्ष-पर्जन्य सबसे शान्ति की पुकार मचायी गयी है। शान्ति-रस भी वायु में झोकों के समान हमारे हृदय में आयें, वर्षा की बूँदों के समान हमारे हृदय में आयें, अग्नि की ज्वालाओं के समान हमारे हृदय में आयें।

---

१. वृथा अव्यय के दो अर्थ होते हैं, व्यर्थ और अनायास।
२. वि-आ-नश व्याप्तिकर्मा, निघं० २.१८।

१३६. सोम प्रभु की लहरियाँ

ये ते॑ प॒वित्र॑मू॒र्मयो॑ऽभि॒क्षर॑न्ति॒ धार॑या। तेभि॑र्नः सोम मृळय॥

—ऋ० ९.६१.५

ऋषिः—अमहीयुः आङ्गिरसः॥ **देवता**—पवमानः सोमः॥ **छन्दः**—गायत्री॥

(ये) जो **(ते)** तुम्हारी **(पवित्रम् अभि)** पवित्र अन्तःकरण में **(ऊर्मयः[१])** लहरियाँ **(क्षरन्ति)** क्षरित होती हैं, आकर बहती हैं **(धारया)** धारारूप में, **(तेभिः[२])** उनसे **(नः)** हमें **(सोम)** हे सोम प्रभु! **(मृळय)** सुखी करो।

भूमि बंजर पड़ी हुई है, उसमें दाना भी नहीं उगता है। कुछ दूरी पर ऊँची-नीची लहरियों के साथ विशाल नदी बह रही है। पर उस नदी से उस बंजर भूमि को कुछ लाभ नहीं पहुँच रहा है। लाभ तो पहुँचे तब, जब वे लहरियाँ किसी प्रकार उस भूमि पर पहुँचें। यह लो, नदी से नहर निकलकर उत्पादक मिट्टी के साथ बंजर भूमि में पहुँच गयी है। उससे भूमि सरस और उपजाऊ होकर सोना उगलने लगी है। यह देखो, हरी-भरी फसल खड़ी हुई सबके मन को मोह रही है।

यही स्थिति हमारी हृदय-भूमि की है। वह भी सूखी पड़ी हुई है। कोई भी सद्गुण, कोई भी सत्प्रेरणा, कोई भी उच्च-भावना उसमें पैदा नहीं हो रही है। हे सोम प्रभु! हे रसागार! हे रस के परम स्रोत! अपनी सरस प्रेरणामयी लहरियों को हमारे अन्तःकरण में भेजो। धारा-रूप में चलती हुई अपनी लहरियों से हमारे हृदय को, हमारे अन्तरात्मा को उपजाऊ कर दो। तुम्हारी दिव्य तरंगों से उर्वर हुआ हमारा हृदय, हमारा आत्मा, सलोने भावों को उपजाने लगेगा। न्याय, उदारता, विश्वप्रेम, त्याग, तप, शान्ति, सहृदयता, धर्मानुराग, ऊर्ध्वगामिता की फसल पैदा करने लगेगा। तुम्हारी वे सरस लहरें हमें आनन्दित करेंगी, हम पर सुख-शान्ति बरसायेंगी, हमें ऊँचा उठायेंगी, हमें स्वर्गधाम में पहुँचायेंगी, हमें दिव्यता का सङ्गीत सुनायेंगी, हमें जागृति देंगी, हमारे रोम-रोम को प्रफुल्ल और पुलकित करेंगी, हमें मर्यादा-पालन का सन्देश देंगी, हमें विश्व का विश्वासपात्र बनायेंगी, हमें आन्तरिक शक्ति प्रदान करेंगी, हमें उल्लास का वातावरण देंगी, हमें मानव से देव बनायेंगी। हे सोम प्रभु! हमें अपनी ऊर्मियों में स्नान कराकर निर्मल कर दो।

मन्त्र में हृदय को 'पवित्र' शब्द से स्मरण किया गया है। 'पवित्र' उस पात्र को भी कहते हैं, जिसमें सोमलता का रस निचोड़ा जाता है, अभिषुत किया जाता है। पात्र पहले ही मलिन हो तो उसमें निचोड़ा हुआ स्वादु, निर्मल सोमरस भी मलिन हो जाता है। ऐसे ही हमारा हृदय यदि पवित्र न होकर कलुषित है, तो सोम प्रभु की लहर भी उसे उर्वर नहीं बना सकती। इसलिए हृदय को पवित्र करना तो हमारा उत्तरदायित्व है। पवित्र हृदय में पहुँचकर सोम प्रभु की रसधार उसे सरस करके महती शक्तियों को उपजानेवाला कर देगी। हे सोम प्रभु! अपनी मधुस्रावी ऊर्मियों से हमारे प्रति बहो, हमें आप्लावित करो।

---

१. ऊर्मिः ऊर्णोतेः, निरु० ५.२३। ऊर्णुञ् आच्छादने, औणादिक मि प्रत्यय।
२. तेभिः=तैः। अतो भिस ऐस्, बहुलं छन्दसि पा० ७.१.९,१०।

१३७. सत्य की धारा के साथ बहते सोमरस

एते असृग्रमाशवोऽति ह्वरांसि बभ्रवः। सोमा ऋतस्य धारया॥

—ऋ० ९.६३.४

ऋषिः—निध्रुविः काश्यपः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥

(**एते**) ये (**आशवः**) क्रियाशील, शीघ्रगामी (**बभ्रवः**[१]) धारण-पोषण करनेवाले (**सोमाः**) सोमरस (**ह्वरांसि**[२] **अति**) कुटिलताओं को अतिक्रान्त एवं विनष्ट करते हुए (**ऋतस्य धारया**) सत्य की धारा के साथ (**असृग्रम्**[३]) बह रहे हैं।

चिरकाल से हमारी मनोभूमि मरुस्थल बनी हुई थी। हमारा आत्मा-रूप तरु रस के बिना कुम्हलाया जा रहा था, बुद्धि-वल्लरी नीरस होकर नये-नये आविष्कारों के पुष्प-गुच्छों से वञ्चित हुई आभाहीन हो रही थी। हम बाट जोह रहे थे कि कहीं से रस की धारा आकर हमारे मानस को, हमारे आत्मा को, हमारी बुद्धि को सिक्त करके पुनः सरसा दे। प्रचण्ड ग्रीष्म से तपती प्यासी-धरती की आशा एक न एक दिन पूर्ण होती ही है, पर्जन्यदेव वृष्टि करके उसे पुनः सरस, संतृप्त और हरी-भरी कर देते हैं। ऐसे ही आज हमारी आशा भी पूर्ण हो रही है। सोमप्रभु अपनी रसधार हमारी ओर प्रवाहित कर रहे हैं। सोमदेव के पावन प्रेरणा-रस हमारे मन, आत्मा और बुद्धि को आप्लावित कर रहे हैं। ये दिव्य प्रेरणा-रस 'आशु' हैं, बड़े वेग से हमारे समीप आये हैं। जैसे वेग से लगा झटका सोये पड़े मनुष्य को हिलाकर खड़ा कर देता है, ऐसे ही इन्होंने हमारे प्रसुप्त मन, आत्मा और बुद्धि को झटका देकर, जगाकर खड़ाकर दिया है। ये अद्भुत प्रेरणा-रस 'बभ्रु' हैं, धारण-पोषण करनेवाले हैं। ये हमारे मन, आत्मा और बुद्धि को धारित-पालित-पोषित करके सुदृढ़, कार्यक्षम और विरोधी-सङ्घर्षों को सहन करने में समर्थ बना रहे हैं। ये 'ऋत' की धारा के साथ बहते हुए हमारे समीप आये हैं।

प्रेरणा सत्यात्मक भी होती है और असत्यात्मक भी। जहाँ सत्य प्रेरणा सर्जन, मार्जन, परिष्कार, नवीकरण का कार्य करती है, वहाँ असत्य प्रेरणा उत्पन्न वस्तुओं या भावों को विकृत, मलिन, जर्जर एवं विनष्ट करती है। अतः हमारे विकास में सत्य प्रेरणा ही सहायक होती है। सौभाग्य का विषय है कि प्रभु के प्रेरणा-रस सत्य की धारा के साथ उछलते, कूदते, तरंगित होते हुए हमारे पास आये हैं। परिणामतः इन दिव्य प्रेरणा-रसों ने हमारे मन, आत्मा और बुद्धि को सत्य की ओर अग्रसर कर दिया है। इन्होंने हमारे अन्दर से कुटिलताओं को उखाड़ फेंका है। अब हम सरल, निष्कलुष, पवित्र, क्रियाशील, अग्रगामी एवं ऊर्ध्वारोही बन गये हैं।

हे प्रभु की दिव्य प्रेरणा के सोमरसो! तुम निरन्तर हमारे अन्दर प्रवाहित होते हुए हमें कृतार्थ करते रहो।

---

१. डुभृञ्=भृ धारणपोषणयोः। उणादि कु=उ प्रत्यय।
२. ह्वृ कौटिल्ये, असुन् प्रत्यय, ह्वरस्। ह्वरः-ह्वरसी-ह्वरांसि।
३. असृग्रम्=असृज्यन्त। सृज विसर्गे, तुदादि।

१३८. हमारी यात्रा का मार्ग विस्तीर्ण और निर्भय हो

एतानि सोम पवमानो अस्मयुः सत्यानि कृण्वन् द्रविणान्यर्षसि।
जहि शत्रुमन्तिके दूरके च य उर्वी गव्यूतिमभयं च नस्कृधि॥

—ऋ० ९.७८.५

ऋषिः—कविः भार्गवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—जगती॥

(**सोम**) हे सोम परमेश्वर! (**अस्मयुः**[1]) हम से प्रीति करनेवाले, (**पवमानः**) पवित्र करनेवाले आप (**एतानि द्रविणानि**) इन ऐश्वर्यों को (**सत्यानि कृण्वन्**) सत्य करते हुए (**अर्षसि**) प्राप्त होते हो। आप (**जहि**) नष्ट कर दो (**शत्रुम्**) शत्रु को (**अन्तिके दूरके च**) समीप और दूर है (**यः**) जो। (**उर्वी गव्यूतिम्**) विशाल मार्ग को (**अभयं च**) और अभय को (**नः**) हमारे लिए (**कृधि**) करो।

हे नव सर्जन करने हारे, प्रेरक, रसमय, शान्तिदायक जड़तापहारक, आधिव्याधि-विनाशक सोम प्रभु! तुम हमारे ही हो, हमसे प्रीति रखनेवाले हो, हमारे अन्दर विद्यमान मालिन्य, दुर्गुण, पाप आदि को दूर करके हमें पवित्र करनेवाले हो। तुममें एक विशेषता यह है कि हमारे जो गाय, घोड़े, रथ बग्धी, मोटरकार, चाँदी-सोना आदि ऐश्वर्य भरे पड़े हैं, उन्हें सच्चे अर्थों में ऐश्वर्य बना देते हो। यदि सचमुच ये सब वस्तुएँ ऐश्वर्य होतीं, तो इन्हें प्राप्त करके हम सदा सुखी ही रहते। पर देखने में तो यह आता है कि जिनके पास ये ऐश्वर्य हैं, वे ऐश्वर्यहीनों की अपेक्षा अधिक दुःखी रहते हैं। जब तक हम ऐश्वर्यों को उन्नति एवं विकास का साधन नहीं, अपितु भोगने की वस्तुएँ समझे रहते हैं, तब तक ये ऐश्वर्य हमारे लिए अनैश्वर्य ही सिद्ध होते हैं। भोग-भावना तो कभी समाप्त नहीं होती, बल्कि बढ़ती ही चलती है। सोम प्रभु भोगों को भोगने की हमारी मनोवृत्ति को ही बदल देते हैं। इस प्रकार वे हमारे ऐश्वर्यों को सच्चा ऐश्वर्य बना देते हैं।

हे सोम देव! विकासोन्मुख होकर आगे बढ़ते हुए हमारे मार्ग में अनेक शत्रु आते हैं। कुछ समीप के शत्रु हैं, जिन्हें आन्तरिक शत्रु कहा जा सकता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, अनुत्साह आदि समीप के आन्तरिक शत्रु हैं। बाहर के मानव शत्रु, दैवी प्रकोप आदि दूरस्थ शत्रु हैं। हे प्रभु! तुम ऐसी कृपा करो कि इन सब रिपुओं से मैं पूर्णतः लोहा लेकर विजयी हो सकूँ।

हे देव! तुम हमारी विकासयात्रा के लिए हमारे सम्मुख विस्तीर्ण मार्ग उद्घाटित कर दो, क्योंकि मार्ग जितना संकुचित होता है, विकास भी उतना ही संकुचित होता है। साथ ही उस दीर्घयात्रा में हमें सर्वात्मना निर्भय भी कर दो, जिससे हम सोत्साह सदा आगे ही बढ़ते चलें। भय हमें हो सकता है विघ्नों का, बाधाओं का, कठिनाइयों का, असफलताओं का, प्रहारों का, विपत्तियों का, मृत्यु का। किन्तु जब प्रयाण का बिगुल बज गया, तब निर्भयता के साथ लक्ष्य पर पहुँचना ही हमारा उद्देश्य होना चाहिए।

---

१. अस्मान् कामयते इति अस्मयुः। अस्मद् शब्द से इच्छा अर्थ में क्यच्। क्याच्छन्दसि पा० ३.२.१७० से उ प्रत्यय।

१३९. समाज से 'अराति' का भाव दूर हो

उत स्वस्या अरात्या अरिर्हि ष उतान्यस्या अरात्या वृको हि षः ।
धन्वन् न तृष्णा समरीत ताँ अभि सोम जहि पवमान दुराध्यः ॥

—ऋ० ९.७९.३

ऋषिः—कविः भार्गवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—जगती॥

(उत) और **(स्वस्याः अरात्याः)** मनुष्य की अपनी अराति का **(अरिः हि)** शत्रु है निश्चय ही **(सः)** वह सोम परमेश्वर। **(उत)** और **(अन्यस्याः अरात्याः)** समाज के दूसरे लोगों की अराति का **(वृकः हि)** भेड़िये के समान विदारक है। **(सः)** वह **(धन्वन्[1])** मरुभूमि में **(न)** जैसे **(तृष्णा)** प्यास [सताती है], वैसे ही **(तान् अभि)** उन [अराति के उपासक लोगों] के प्रति **(तृष्णा)** प्यास **(समरीत[2])** प्राप्त हो। **(पवमान सोम)** हे पवित्रकर्ता सोम प्रभु! **(जहि)** नष्ट कर दो **(दुराध्यः[3])** दुर्भावना रखनेवालों को।

'अराति' बहुत भयङ्कर वस्तु है। 'अ-राति' दान न देना, परोपकार न करना, दूसरे को दुःखी एवं विपद्ग्रस्त देखकर उसकी सहायता न करना, स्वार्थसाधन में ही लगे रहना, परार्थ की कुछ चिन्ता न करना, सङ्कटग्रस्त व्यक्ति भले ही मरता रहे, वह तो मरने के लिए ही पैदा हुआ है ऐसी भावना रखना, दुःखी व्यक्ति न भी मरता हो तो मार देना—ये सब अराति के लक्षण हैं। 'राति' का अर्थ होता है दान, सहयोग, सहानुभूति, तन-मन-धन से सहायता। उसका विपरीत 'अराति' है। यह 'अराति' का भाव मेरे अन्दर भी हो सकता है और दूसरे लोगों के अन्दर भी। सोम प्रभु सबके सहायक हैं, दीनों पर कृपा करनेवाले हैं, आपद्ग्रस्तों की आपत्ति को हरनेवाले हैं। स्वभावतः वे 'अराति' के विद्वेषी हैं। मेरे अपने अन्दर जो अराति है, उसके वे वैरी हैं। या तो मेरी 'अराति' का ही उच्छेद करके रहते हैं, या मेरा ही विध्वंस कर देते हैं। समाज के अन्य मनुष्यों के अन्दर जो 'अराति' है, उसके लिए वे 'वृक' हैं, भेड़िये के तुल्य हैं। या तो 'अराति' को छोड़ने के लिए उन्हें तैयार कर लेते हैं, या फिर 'अराति' के उपासकों को ही भेड़िये के समान चीर-फाड़ डालते हैं। जो सङ्कटापन्न के साथ हमदर्दी नहीं दिखाता, तन-मन-धन से उसकी सहायता नहीं करता, उन्हें मरने देता है, उसे स्वयं भी जीने का अधिकार नहीं है।

मरुस्थल में पानी के अभाव में जैसे प्यास मनुष्य को व्याकुल कर देती है, ऐसे ही जो अराति-रूप दुर्गुण से ग्रस्त है, उन्हें भी भगवान् करे अन्न-धन-वस्त्र आदि की प्यास से एक दिन व्याकुल होना पड़े। तब वे 'राति' या 'दान' का महत्त्व समझ पायेंगे, तब दुःखी के जख्म पर मरहम लगाने की सीख ले सकेंगे। हे पवमान सोम! हे सबके हृदयों में बहनेवाले पवित्रकर्ता प्रभु! तुम 'दुराधि' लोगों को, दूसरों के प्रति दुर्भावना रखनेवालों को समाज से विनष्ट कर दो। या उन 'दुराधियों' को स्वाधियों में परिवर्तित कर दो, अथवा वे इस परिवर्तन के लिए यदि तैयार नहीं हैं, तो उन पर वज्रपात कर दो। अन्यथा समाज पारस्परिक भाई-चारे के अभाव में छिन्न-भिन्न हो जाएगा।

---

१. धन्व=मरुस्थल। धन्व निरुदको देशः तस्मिन् —सायण। धन्वन्=धन्वनि, सप्तमी विभक्ति का लुक्।
२. समरीत=समर्यात्=प्राप्नुयात्। ऋ गतिप्रापणयोः, विधिलिङ्, छान्दस रूप।
३. दुर्-आ-ध्यै चिन्तायाम्, 'दुराधिः', द्वितीया बहुवचन दुराधीन् के स्थान पर दुराध्यः।

१४०. वसु बरसाकर हमें भी वसु बना दो

आ नः सोम पवमानः किरा वस्विन्दो भव मघवा राधसो महः।
शिक्षा वयोधो वसवे सु चेतुना मा नो गयमारे अस्मत् परा सिचः॥

—ऋ० ९.८१.३

ऋषिः—वसुः भारद्वाजः॥ **देवता**—पवमानः सोमः॥ **छन्दः**—जगती॥

(सोम) हे सोम परमात्मन्! **(पवमानः)** पवित्र करनेवाले आप **(नः)** हमारे लिए **(आ किर[१])** बखेर दो **(वसु)** धन-संपदा को। **(इन्दो[२])** हे तेजस्वी परमेश! **(मघवा)** धनवान् आप **(राधसः)** सिद्धि एवं सफलता के **(महः[३])** दाता **(भव)** होवो। **(शिक्ष[४])** प्रदान करो **(वयोधः)** हे जीवनदाता! **(वसवे)** मुझ निवासक के लिए **(सु)** सुमङ्गल को। **(चेतुना[५])** अपने संज्ञान से आप **(नः गयम्[६])** हमारे प्राण-बल को **(अस्मत् आरे)** हमसे पृथक् **(मा परा सिचः)** मत करो।

हम प्रचुर धन के अभिलाषी हैं। हे पवित्र करने हारे सोम प्रभु! तुम हमारे लिए प्रभूत धन-संपदा बखेर दो, उसकी वर्षा कर दो। संपदा की याचना करते हुए 'पवमान' विशेषण से हम तुम्हें इस हेतु से स्मरण कर रहे हैं कि हमारे पास आयी वह सम्पत्ति पवित्र ही होनी चाहिए, पवित्र साधनों से अर्जित होनी चाहिए। पाप से कमाई हुई सम्पत्ति वस्तुतः सम्पत्ति नहीं, अपितु कमानेवाले के लिए विपत्ति या मौत बनकर आती है।

हे इन्दु! हे यश से प्रदीप्त सोम प्रभु! हम यह भी जानते हैं कि धन अपने-आप में कोई संग्रहणीय वस्तु नहीं है, किन्तु धन-प्राप्ति का उद्देश्य कार्यसिद्धि या सफलता पाना होता है। हमारे पास धन के कोठे भी क्यों न भरे हों, पर यदि हम सदुद्देश्य के लिए उसका व्यय नहीं कर रहे हैं, तो व्यर्थ है। इसलिए हे सोम प्रभु! हम तुमसे यह भी प्रार्थना करते हैं कि जिस भी सत्कार्य का हम शुभारम्भ करें उसमें सद्यः सिद्धि भी आप हमें प्रदान करते रहो, जिससे हम एक के बाद दूसरे नवीन-नवीन कार्यों को हाथ में लेते रहें।

हे 'वयोधाः'! हे जीवनदाता प्रभुवर! धन को 'वसु' इस कारण कहते हैं कि वह निवासप्रद होता है। 'वसु' पाकर हम स्वयं भी वसु अर्थात् निवासक बन जाना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि हमारी स्तुति में लोग यह न कहें कि हम करोड़पति हैं, अपितु यह कहें कि हम करोड़ों बेघरों को निवास देनेवाले हैं, करोड़ों दुर्दशाग्रस्तों को सहारा देनेवाले हैं। तभी हमारा वसुमान् होना सार्थक हो सकेगा। हे देव! आप हमें अपने संज्ञान से, अपनी शुभ देख-भाल से सदा सुमङ्गल ही प्रदान करते रहो। आपसे हमारी यह प्रार्थना भी है कि आप हमारे 'गय' को अर्थात् ओजस्वी और परोपकारी प्राण-बल को हमसे पृथक् मत करो, जिससे हम चिरकाल तक महान् कार्यों को करते रहें।

---

१. कृ विक्षेपे, तुदादि, लोट्। संहिता में 'किरा', छान्दस दीर्घ।
२. इन्दुः इन्धेः उनत्तेर्वा, निरु० १०.४०। इन्धी दीप्तौ, रधादि। इन्धे दीप्यते इति इन्दुः।
३. मंहते=ददाति, निघं० ३.२०।
४. शिक्षति=ददाति, निघं० ३.२०।
५. चिती संज्ञाने, भ्वादि।
६. प्राणा वै गयाः, श० ब्रा० १४.८.१५.७।

१४१. कर्मफल-व्यवस्था

ग॒न्ध॒र्व इ॒त्था प॒दम॑स्य रक्षति॒ पाति॑ दे॒वानां॒ जनि॑मा॒न्यद्भु॑तः।
गृ॒भ्णाति॑ रि॒पुं नि॒धया॑ नि॒धाप॑तिः सु॒कृत्त॑मा॒ मधु॑नो भ॒क्षमा॑शत॥ —ऋ० ९.८३.४

ऋषिः—पवित्रः आङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—जगती॥

(**गन्धर्वः**[१]) लोक-लोकान्तरों का धारणकर्त्ता जगदीश्वर (**इत्था**) सचमुच (**अस्य**) इस [जीवात्मा-रूप सोम] के (**पदम्**[२]) पद का, आवागमन का (**रक्षति**) रक्षण, अर्थात् नियन्त्रण करता है। वही (**अद्भुतः**) अद्भुत परमेश्वर (**पाति**) नियन्त्रित करता है (**देवानाम्**) जीवात्माओं के (**जनिमानि**) जन्मों को। (**गृभ्णाति**[३]) पकड़ लेता है (**रिपुम्**) रिपु को (**निधया**[४]) पाश-समूह से (**निधापतिः**) जाल-पाश का स्वामी वह परमेश्वर। (**सुकृत्-तमाः**) अतिशय शुभ कर्म करनेवाले लोग (**मधुनः**) मधुर फल के (**भक्षम्**) सेवन को (**आशत**) प्राप्त करते हैं।

जो गन्धर्व नामक जगदीश्वर सब लोक-लोकान्तरों को धारित तथा नियन्त्रित करनेवाला है, वही इस सोम नामक जीव के नाना जन्मों के आवागमन का भी नियन्त्रण करता है। गन्धर्व में 'गो' शब्द पृथिव्यादि लोकों का वाचक है, 'धृ' धातु धारणार्थक है। अतः गन्धर्व का अर्थ है पृथिव्यादि लोकों का धारणकर्त्ता परमेश्वर। सोम शब्द उत्पत्ति अर्थवाली 'सु (षु)' धातु से बना है। जीव स्वभाव से अमर होता हुआ भी देहधारण-रूप जन्म को पाने के कारण सोम कहलाता है। इस मन्त्र में जीव को 'देव' भी कहा गया है। 'देव' शब्द क्रीडा, जीतने की इच्छा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति अर्थवाली 'दिवु' धातु से निष्पन्न होता है। इन-इन क्रियाओं को करने के कारण जीव 'देव' कहलाता है। वह कर्मानुसार नाना जन्मों को धारण करता है। "जब पाप बढ़ जाता, पुण्य न्यून होता है, तब मनुष्य का जीव पश्वादि नीच शरीर और जब धर्म अधिक तथा अधर्म न्यून होता है, तब देवों, अर्थात् विद्वानों का शरीर मिलता है और जब पुण्य-पाप बराबर होता है, तब साधारण मनुष्य-जन्म होता है। इसमें भी पुण्य-पाप के उत्तम, मध्यम और निकृष्ट होने से मनुष्यादि में भी उत्तम, मध्यम, निकृष्ट शरीरादि होते हैं।"[५] यह सब व्यवस्था गन्धर्व परमेश्वर करता है। कैसे अद्भुत सामर्थ्यवाला है वह कि असंख्यों जीवों की कर्मफल-योजना को बिना किसी भूल-चूक के क्रियान्वित करता रहता है।

वह जगत्संचालक ईश्वर 'निधापति' है, अर्थात् पाशों का स्वामी है। दुष्कर्म-कर्त्ता जीव उसके रिपु हैं। दुष्कर्म करते ही वह उन रिपुओं को पाशों से बाँध लेता है तथा फलभोग करने के उपरान्त ही वे उन हथकड़ियों से छूट पाते हैं। "जो अत्यन्त तमोगुणी हैं वे स्थावर वृक्षादि, कृमि-कीट, मत्स्य, सर्प, कच्छप, पशु और मृग के जन्म को प्राप्त होते हैं। मध्यम तमोगुणी हैं वे हाथी, घोड़ा, शूद्र, म्लेच्छ, निन्दित कर्म करने हारे सिंह, व्याघ्र, वराह के जन्म को प्राप्त होते हैं। जो इन्द्रियों के वश होकर विषयी, धर्म को छोड़कर अधर्म करने हारे अविद्वान् हैं, वे नीच-जन बुरे-बुरे दुःखरूप जन्म को पाते हैं।"[६] इसके विपरीत जो अतिशय शुभ कर्म करनेवाले जीव हैं, वे मधुर फलों के भागी होते हैं। वे पुनर्जन्म में तापस, यति, वेदपाठी, वैज्ञानिक, नक्षत्रज्ञ, याज्ञिक, ऋषि आदि बनते हैं।[७]

आओ, हम भी शुभ कर्मों को करते हुए शुभ फलों के भागी हों।

---

१. गाः पृथिव्यादिलोकान् धारयतीति गन्धर्भः। २. पद गतौ। पदं गमनागमनरूपम्।
३. ग्रह उपादाने, क्र्यादि। गृभ्णाति=गृह्णाति।
४. निधा पाश्या भवति, यन्निधीयते। पाश्या पाशसमूहः। निरु० ४.२।
५. स० प्र०, समु० ९ —स्वामी दयानन्द। यु० मी० संस्करण, पृ० ३९८। स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाश्च कच्छपाः। पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः॥ —मनु० १२.४२ की भाषा।
६. स० प्र०, समु० ९, यु० मी० संस्करण, पृ० ३९९। इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च। पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः॥ —मनु० १२.५२ की भाषा।
७. द्रष्टव्यः मनु० १२.४८।

१४२. पवमान सोम की रसधार

प्र त आशवः पवमान धीजवो मदा अर्षन्ति रघुजाइव त्मना।
दिव्याः सुपर्णा मधुमन्त इन्दवो मदिन्तमासः परि कोशमासते॥

—ऋ० ९.८६.१

ऋषयः–अकृष्टाः माषाः॥ **देवता**–पवमानः सोमः॥ **छन्दः**–जगती॥

(पवमान) हे पवित्रतादायक सोम प्रभु! **(ते)** तेरे **(आशवः)** शीघ्रगामी **(धीजवः[१])** बुद्धि एवं मन को वेग देनेवाले **(मदाः)** आनन्द **(रघुजाः[२] इव)** शीघ्रगामी नदियों के समान **(त्मना[३])** स्वयं, अनायास **(प्र अर्षन्ति)** प्रवाहित हो रहे हैं। **(दिव्याः)** दिव्य **(सुपर्णाः[४])** शुभ पूर्णता लानेवाले, **(मधुमन्तः)** मधुर, **(मदिन्तमासः)** अतिशय मस्ती लानेवाले **(इन्दवः)** सोमरस **(कोशम्)** आनन्दमय कोश में **(परि आसते)** उमड़-उमड़कर स्थित हो रहे हैं।

हे पवमान सोम! हे पवित्रता के देव! तुम्हारे समीप से पवित्रता की धाराएँ बहती हैं, जिनसे तुम अपने स्तोता के हृदय की समस्त मलिनताओं को धोकर उसे पूर्णतः पवित्र कर देते हो। जब तुम्हारा आराधक तुममें लौ लगा लेता है, तब तुमसे उसकी ओर तीव्रता के साथ आनन्द-रस अनायास प्रवाहित होने लगता है, जैसे नदियाँ, नीचे की ओर स्वभावतः बहती हैं। तुम्हारे आनन्द-रस में स्नात होकर उसके बुद्धि और मन में स्फूर्ति आ जाती है, उन्हें सही दिशा में चलने के लिये वेग मिल जाता है, उसके मन की सङ्कल्प-शक्ति जाग उठती है। वह दृढ़ सङ्कल्प के बल से बड़े से बड़े कार्य करने में समर्थ हो जाता है। उसकी बुद्धि में किंकर्तव्यविमूढ़ता के समयों में भी ठीक निश्चय लेने का प्रबल सामर्थ्य आ जाता है।

हे परमेश! मैं आज साक्षात् अनुभव कर रहा हूँ कि तुम्हारी दिव्य आनन्द-धाराएँ मेरे आनन्दमय कोश में प्रवेश कर रही है और वहाँ से वे विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय एवं अन्नमय कोशों को भी सरस कर रही हैं। मेरी प्रज्ञा, मेरा मन, मेरे प्राण, मेरी इन्द्रियाँ, मेरा अङ्ग-अङ्ग सब पुलकित हो उठे हैं। उनमें दिव्य शक्ति का संचार हो गया है। हे प्रभु! तुम्हारे आनन्द-रस छिद्रों को दूर करके पूर्णता को लानेवाले हैं। मानव तो न्यूनताओं और दुर्बलताओं से घिरा होता है। पर तुम्हारे दिव्य रसों से मेरे आत्मा की न्यूनताएँ और दुर्बलताएँ नष्ट हो गयी हैं। मैं स्वयं को अपार शक्ति का पुंज अनुभव कर रहा हूँ। हे मेरे आराध्य देव! तुमसे मिलने वाले दिव्य आनन्द-रस बड़े ही मधुर हैं। उनकी मधुरता के आगे सब सांसारिक मिठास फीके पड़ गये हैं। तुम्हारे दिव्य आनन्द मस्ती लानेवाले हैं। मैं संतृप्त होकर झूम रहा हूँ, रीझ रहा हूँ। मैं तो आज तुम राजराजेश्वर से सम्बन्ध जोड़कर निहाल हो गया हूँ। हे प्रभु! अपने दिव्य रस की मीठी धार बहाते चलो, मैं उसका स्वाद लेता रहूँ। तुम्हारे अमृत को पीकर अमर हो जाऊँ। तुम्हारी आनन्दधारा में नहाकर निर्मल हो जाऊँ। तुम पिलाते रहो, मैं पीता रहूँ। तुम धारा बहाते रहो, मैं उसमें बहता रहूँ। तुम हरसाते रहो, मैं हरसता रहूँ। हे आनन्दी प्रभु! मुझे भी आनन्दी बनाओ।

---

१. धीनां मनोबुद्ध्यादीनां जूः वेगो यैः ते धीजवः। धी-जुङ् गतौ, भ्वादि।
२. रघ्व्यः लघ्व्यः शीघ्रगामिन्यः जायन्ते याः ताः।
३. त्मना=आत्मना। आ का लोप छान्दस, 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' पा० ६.४.१४१
४. शोभनः पर्णः पूर्णता यैः ते। पृ पालनपूरणयोः।

१४३. जो धर्म की शिक्षा देकर पवित्र करता है

विश्वा धामानि विश्वचक्ष ऋभ्वसः प्रभोस्ते सतः परि यन्ति केतवः।
व्यानशिः पवसे सोम धर्मभिः पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि॥

—ऋ० ९.८६.५

ऋषयः—अकृष्टाः माषाः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—जगती॥

(**विश्वा धामानि**) सब [आत्मा-रूप] धामों में, (**विश्वचक्षः**[1]) हे विश्वद्रष्टा! हे सर्वज्ञ! (**प्रभोः सतः ते**) तुझ प्रभु के (**ऋभ्वसः**[2]) महान् (**केतवः**[3]) ज्ञान (**परियन्ति**) पहुँचते हैं। (**व्यानशिः**[4]) सर्वव्यापक तू (**सोम**) हे शुभगुण-प्रेरक जगदीश्वर! (**पवसे**) पवित्र करता है (**धर्मभिः**) धर्मों से। (**विश्वस्य भुवनस्य**) सारे भुवन का (**पतिः**) स्वामी तू (**राजसि**) राजा बना हुआ है।

हे जगदीश्वर! तुम सर्वशक्तिमान् और सर्वकर्मक्षम होने से 'प्रभु' कहलाते हो। तुम 'विश्वचक्षाः' हो, तुमने सकल जगत् को अपनी पैनी आँखों से देखा है। तुम सर्वज्ञ हो, ज्ञान के परिपूर्ण भण्डार हो। तुम्हीं सृष्टि के आरम्भ में समस्त विद्याओं के निधिभूत वेदज्ञान को देते हो, तुम्हीं समय-समय पर हम किंकर्त्तव्यविमूढ़ आत्माओं में विवेक का प्रकाश पहुँचाते हो और तुम्हीं ने हमें ज्ञान-प्राप्ति के लिए मन, बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रिय-रूप ज्ञान-साधन प्रदान किये हैं। जैसे सूर्य ग्रह-उपग्रहों के धामों में अपने किरण-केतुओं को पहुँचाता है, वैसे ही तुम ज्ञान-केतुओं को सबके आत्माओं में पहुँचाते हो। तुम 'व्यानशि' अर्थात् सर्वव्यापक एवं सर्वान्तर्यामी हो। शतपथ के बृहदारण्यक में उद्दालक आरुणि ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया है कि वह अन्तर्यामी कौन है जो इहलोक, परलोक तथा सब भूतों के अन्दर रहता हुआ उनका नियन्त्रण करता है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया है कि परमेश्वर ही वह अन्तर्यामी है जो पृथिवी, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ, आदित्य, दिशा, चन्द्र-तारक, प्राण, वाक्, चन्द्र, श्रोत्र, मन आदि के अन्दर विद्यमान होता हुआ उनका नियमन करता है।

तुम अपरिपक्व आत्माओं में धर्म का प्रकाश करके उन्हें पवित्र करते हो। तुमने वेदों के माध्यम से हमें बताया है कि सत्य में श्रद्धा और अनृत में अश्रद्धा, अहिंसा, सर्वभूतमैत्री, दीक्षा, श्रम, तप, स्वाध्याय, शम, दम, ब्रह्म, क्षत्र, श्री, यश, दान, यज्ञ, सत्सङ्ग, सांमनस्य आदि सार्वभौम धर्म हैं, जिनका पालन समाज में पवित्रता और पारस्परिक स्नेह उत्पन्न करता है। तुम सर्वोत्कृष्ट धर्मोपदेष्टा बनकर अधर्म से हमें बचाते हो। हे सोम प्रभु! तुम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी तथा सम्राट् हो। हम मानव छोटे-छोटे भूखण्डों को अपने अधीन करके स्वयं को राजा घोषित करते हैं तथा उनके स्वामित्व का अभिमान करते हैं। पर जब हम तुम्हारे सकलभुवनपतित्व को देख लेते हैं, तब हमारा स्वामित्व का गर्व पानी में उत्पन्न बुलबुलों के समान क्षणभर में विलीन हो जाता है।

हे सर्वज्ञ! हे ज्ञानदाता! हे सर्वान्तर्यामी! हे विश्वसम्राट्! तुम हमें अपनी शरण में लेकर ज्ञानी, धर्मात्मा, धर्मप्रचारक और भूपति बना दो।

---

१. विश्वं चष्टे पश्यति इति विश्वचक्षाः। सम्बोधन में विश्वचक्षः।
२. ऋभ्वसः। ऋभ्वाः इति महन्नाम, महान्तः —सायण। ऋभ्वस्-ऋभ्वाः, ऋभ्वसौ, ऋभ्वसः।
३. कित ज्ञाने, जुहोत्यादि।
४. व्यानशिः व्यापनशीलः —सायण। वि-आ-नश व्याप्त्यर्थक, निघं० २०.१८।

१४४. नदियों का राजा, द्युलोक का स्वामी

राजा सिन्धूनां पवते पतिर्दिव ऋतस्य याति पथिभिः कनिक्रदत्।
सहस्रधारः परि षिच्यते हरिः पुनानो वाचं जनयन्नुपावसुः॥

—ऋ० ९.८६.३३

ऋषयः—अकृष्टाः माषाः, सिकता निवावरी, पृश्नयः अजाः॥
देवता—पवमानः सोमः॥ **छन्दः**—जगती॥

(**सिन्धूनाम्**) नदियों-समुद्रों का (**राजा**) राजा, (**दिवः**) द्युलोक का (**पतिः**) स्वामी सोम प्रभु, (**पवते**[१]) हमारे अन्दर पहुँचा है। वह (**ऋतस्य पथिभिः**) सत्य के मार्गों से (**याति**) जाता है (**कनिक्रदत्**[२]) गर्जना करता हुआ। (**सहस्रधारः**) सहस्र धाराओंवाला (**परिषिच्यते**) सींचा जा रहा है (**हरिः**) चित्तहारी सोम प्रभु। (**पुनानः**[३]) पवित्र करता हुआ, (**वाचं जनयन्**) वाणी को उत्पन्न करता हुआ वह (**उपावसुः**[४]) धन को समीप लानेवाला [सिद्ध हो रहा है]।

देखो, नदियों और सागरों का राजा तुम्हारे पास आया है। द्युलोक का स्वामी तुम्हारे समीप उपस्थित हुआ है। क्या तुम ऐसे ही बैठे रहोगे? क्या तुम उसका स्वागत नहीं करोगे? क्या उसकी अगवानी नहीं करोगे? ऐसा सौभाग्य किसे मिलता है कि कोई महाराजा किसी की कुटी में पधारे? शायद तुम सोचो कि हमें उसकी क्या परवाह है। नदियों और समुद्रों का राजा है, तो उन पर शासन करे। द्युलोक का स्वामी है, तो उस पर अपना स्वामित्व दर्शाए। हमें उससे क्या लेना देना है? यदि ऐसा सोचते हो, तो गल्ती करते हो। नदी, सागर, आकाश का जो राजा है, वही तुम्हारा भी राजा है। ये जो अनगिनत विलक्षण वस्तुएँ ब्रह्माण्ड में संचालित हो रही हैं, उन सबके राजा अलग-अलग नहीं हैं, किन्तु उन सबका राजा एक ही है। उसे कभी हम सोम कहकर पुकारते हैं, कभी इन्द्र नाम से उसकी स्तुति करते हैं और कभी अग्नि, वायु, मातरिश्वा, मित्र, वरुण, अर्यमा, आदित्य आदि नामों से उसका आह्वान करते हैं। तो भाइयो! तुम्हारा अपना राजा तुम्हारे हृदयकुटीर को पवित्र करने आया है। उसकी विशेषता यह है कि वह सत्य के पथों पर ही चलता है। साथ ही गर्जता हुआ अन्यों को भी अपने साथ सत्य पथों पर चलने का निमन्त्रण देता रहता है। वह हरि, वह चित्तहारी, सहस्र धारोंवाला सोम प्रभु भक्तों द्वारा हृदय में सींचा जाता है। वह अपनी सहस्र धाराओं से भक्त के हृदय को पवित्र कर देता है। हृदय में बैठकर वह भक्त के हित की वाणी उठाता रहता है। उस वाणी को जो अनसुना कर देता है, वह अभागा है, किन्तु जो उस वाणी को सुनकर, उसका मर्म समझकर उसके अनुसार आचरण करने में तत्पर होता है, वह धन्य हो जाता है। वह सोम प्रभु 'उपावसु' है, नाना प्रकार के दिव्य ऐश्वर्यों को भक्त के समीप पहुँचानेवाला है।

आओ, घर पर आए उस राजाधिराज का स्वागत करें, अभिनन्दन करें और उसकी प्रेरणाएँ पाकर कृतार्थ हों।

---

१. पवते=गच्छति, निघं० २.१४।
२. क्रदि आह्वाने रोदने च। धातु को द्वित्व, निक् का आगम, शतृ। कनिक्रदत्=क्रन्दमानः।
३. पूञ् पवने, क्र्यादि, शानच्।
४. उप समीपे वसु येन स उपवसुः। छान्दस दीर्घ, उपावसुः।

१४५. सोम की धारा का रस लूट लो

एषाऽऽ ययौ परमादन्तरद्रेः कूचित् सतीरूर्वे गा विवेद।
दिवो न विद्युत् स्तनयन्त्यभ्रैः सोमस्य ते पवत इन्द्र धारा॥

—ऋ० ९.८७.८

ऋषिः—उशना काव्यः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**एषा**) यह सोमधारा (**आययौ**) आयी है (**परमात् अद्रेः अन्तः**) परमोच्च पहाड़ के अन्दर से। (**कूचित्**[1] **सती**) कहीं [उच्च स्थान में] विद्यमान इसने (**ऊर्वे**) बाड़े के अन्दर (**गाः**) गौओं को (**विवेद**[2]) पा लिया है। (**अभ्रैः स्तनयन्ती**) बादलों से गर्जती हुई (**दिवः विद्युत् न**) आकाश की बिजली के समान (**अभ्रैः**[3] **स्तनयन्ती**)[4] प्राणों से शब्द करती हुई (**सोमस्य धारा**) सोम की धारा (**इन्द्र**) हे जीवात्मा! (**ते**) तेरे लिए (**पवते**) बह रही है।

नदी की धारा पहाड़ से निकलती है। यह सोम की धारा भी पहाड़ से निकली है। अन्तर इतना ही है कि नदी की धारा का पहाड़ भौतिक होता है, किन्तु सोम की धारा का पहाड़ दिव्य है। सोम रसमय परमात्मा का नाम है, परमात्मा से जीवात्मा की ओर बहनेवाली ब्रह्मानन्द-रस की धारा ही सोम की धारा है। वह जिस 'परम अद्रि' से, परमोच्च पर्वत से निकलकर बहती है, वह ईश्वरीय चेतना का पर्वत है। उससे परिस्रुत होकर यह सोम प्रभु के दिव्यानन्द की धारा उपासक के आत्मा में अवतीर्ण हुई है। उपासक की गौओं को अर्थात् अन्तःप्रकाश की किरणों को पणि नामक चोर चुरा ले गये थे, अन्धकार एवं तामसिकता की वृत्तियाँ अपहरण कर ले गयी थीं। यह ब्रह्मानन्द की सोम-धारा उन अन्तःप्रकाश की किरणों को भी खोजकर अपने साथ लेती आयी है। इस प्रकार उपासक का आत्मा अब ब्रह्मानन्द तथा दिव्य अन्तःप्रकाश दोनों से परिपूर्ण हो गया है।

ईश्वरीय आनन्द और अन्तःप्रकाश दोनों अन्योन्याश्रित हैं। आत्मा में अन्तःप्रकाश होने पर ईश्वरीय दिव्य आनन्द की अनुभूति के लिए भूमि तैयार हो जाती है और अन्तःप्रकाश होता है ईश्वरीय ज्योति के दर्शन से। जैसे अन्तरिक्षवर्ती बादलों में बिजली गरजती है, ऐसे ही यह सोम की धारा उपासक के प्राणों में शब्दायमान हो रही है, जीवन के एक-एक श्वास के साथ थिरक रही है, उल्लसित हो रही है; तरंगित हो रही है। हे इन्द्र! हे जीवात्मन्! तेरे लिए ही यह सोम प्रभु की दिव्यानन्दमयी धारा बह रही है। तू इसका रसपान कर, जी-भरकर इसमें स्नान करके रोमाञ्चित हो, गौरवान्वित हो, कृतकृत्य हो।

---

१. कूचित्=क्वचित्।
२. विद्लृ लाभे, अदादि, लिट्।
३. अद्भिः भ्रियन्ते इति अभ्राः प्राणाः (अब्-भ्राः)। 'आपोमयः प्राणः' छा० उप० ६.५.४।
४. 'अभ्रैः स्तनयन्ती' में श्लेष है। विद्युत् और सोम-धारा दोनों पक्षों में इसकी अर्थयोजना होती है। एवं यहाँ श्लिष्टोपमालंकार है।

१४६. तू कैसा है?

राज्ञो नु ते वरुणस्य व्रतानि बृहद् गभीरं तव सोम धाम।
शुचिष्ट्वमसि प्रियो न मित्रो दक्षाय्यो अर्यमेवासि सोम॥

—ऋ० ९.८८.८

ऋषिः—उशना काव्यः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(वरुणस्य राज्ञः नु[1]) प्रजा द्वारा निर्वाचित राजा के समान **(ते व्रतानि)** तेरे व्रत हैं। **(बृहत्)** महान् और **(गभीरम्)** अगाध है **(तव)** तेरा **(सोम)** हे सोम परमेश्वर! **(धाम)** तेज। **(शुचिः)** पवित्र **(त्वम्)** तू **(असि)** है। तू **(प्रियः न मित्रः)** प्रिय मित्र के समान है। **(अर्यमा[2] इव)** आदित्य के समान **(दक्षाय्यः[3])** बलदायक एवं प्राणदायक **(असि)** है, **(सोम)** हे सोम जगदीश्वर!

जब प्रजा द्वारा कोई मनुष्य राजा चुना जाता है तब वह कुछ प्रतिज्ञाएँ लेता है, कुछ व्रतों का ग्रहण करता है। हे सोम प्रभु! तुम भी सकल ब्रह्माण्ड के सम्राट् हो, तुमने भी कुछ व्रत ग्रहण किये हुए हैं, जिनके अनुसार तुम विश्व को चला रहे हो। उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, ऋतुचक्र-परिवर्तन, कर्मफल-व्यवस्था, न्यायनिष्ठा आदि व्रतों का तुम पालन कर रहे हो। चुने हुए राजा का तेज या प्रभाव प्रजाओं पर होता है। सज्जन उसके तेज से सत्कर्मों के प्रति उत्साहित होते हैं, तथा दुर्जन उसके तेज के कारण दुष्कर्म करने से भयाक्रान्त होते हैं। हे सम्राट् प्रभु! तुम्हारा तेज सामान्य राजे-महाराजों की अपेक्षा बहुत महान् तथा अथाह है। सूर्य, चाँद, तारे आदि सब तुम्हीं से तेज पाते हैं और तुम्हारे ही तेज से प्रभावित होकर अपने-अपने कार्यों को बिना प्रमाद के कर रहे हैं। तुम्हारे ही तेज के भय से अग्नि ताप देता है। तुम्हारे ही तेज के भय से सूर्य प्रकाश देता है। तुम्हारे ही तेज के भय से बिजली, वायु और मृत्यु अपने-अपने व्यापार में लगे हैं। तुम्हारे ही तेज के भय से प्रभावित होकर बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, आचार्य आदि अपने कार्यों में संलग्न हैं।

हे सोम प्रभु! तुम पवित्र ही पवित्र हो। तुम्हारे सम्पर्क में आकर हम भी पवित्र हो जाते हैं। तुमसे निकलनेवाला पवित्रता का स्रोत दुष्कर्मियों को भी पवित्र कर देता है। हे सौम्य परमेश! तुम मित्र के समान प्यारे हो। जैसे कोई मित्र अपने मित्र को प्यार भरे परामर्शों से सत्कार्यों के प्रति प्रेरित तथा असत्कार्यों से विरत करता है, ऐसे ही तुम भी करते हो।

हे बल और प्राण के स्रोत सोम! तुम आदित्य के समान बलदायक और प्राणदायक भी हो। आदित्य प्रभातवेला में अपनी रश्मियों से प्राण बखेरता हुआ तथा सब प्राणियों को बल देता हुआ उदित होता है और दिनभर यह कार्य करता रहता है। जब हमारे गोलार्ध में रात्रि होती है, तब दूसरे गोलार्ध में जाकर यही कार्य करता है। इसीप्रकार हे प्रभु! तुमसे भी हम प्राण और बल पाते हैं। तुम निष्प्राणों के प्राण, निरुत्साहों के उत्साह, निर्जीवों के जीवन तथा निर्बलों के बल हो।

हे प्रभु! तुम हमें भी व्रती, तेजस्वी, शुचि, प्राणवान् तथा बलवान् बना दो।

---

१. नु-अथाप्युपमार्थे भवति, 'वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः' वृक्षस्येव ते पुरुहूत शाखाः। निरु० १.४।

२. अर्यमा आदित्यः, अरीन् नियच्छति, निरु० ११.२०।

३. दक्ष वृद्धौ, भ्वादि। दक्ष=बल, निघं० २.९। दक्षयति वर्द्धयतीति दक्षाय्यः। आय्य प्रत्यय, 'श्रुदक्षिस्पृहिगृहिभ्य आय्यः' उ० ३.९६।

१४७. तेरा मधु का झरना हमारे अन्दर झरे

विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्या विश्वा उत क्षितयो हस्ते अस्य।
असत् त उत्सो गृणते नियुत्वान् मध्वो अंशुः पवत इन्द्रियाय॥

—ऋ० ९.८९.६

ऋषिः—उशना काव्यः॥ **देवता**—पवमानः सोमः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥

सोम परमेश्वर (**विष्टम्भः**) थामनेवाला है, (**दिवः**) द्युलोक का; (**पृथिव्याः**) भूमि का (**धरुणः**) आधार है। (**उत**) और (**विश्वाः क्षितयः**) सब मनुष्य (**हस्ते**) हाथ में हैं (**अस्य**) इसके। हे सोम प्रभु! (**असत्**) होवे (**ते**) तेरा (**उत्सः**) झरना (**गृणते**) स्तोता के लिये (**नियुत्वान्**[१]) नियुक्त। (**मध्वः**) मधुर आनन्द का (**अंशुः**[२]) सोमरस (**पवते**) प्रवाहित होता रहे (**इन्द्रियाय**[३]) आत्मबल के लिए।

क्या तुम जानते हो कि आकाश में जो चाँद, सूर्य, सितारे, मङ्गल, बुध आदि ग्रह और उनके उपग्रह हैं, उन्हें विना खम्भों के किसने थामा हुआ है? जगदुत्पादक सोम प्रभु ही उन्हें थामनेवाला है, वही इन गेंदों से क्रीडा करनेवाला खिलाड़ी है। क्या तुमने कभी सोचा है कि जिस भूमि पर हम स्थित हैं, उसका आधार कौन है, किस कीली पर वह टिकी हुई है? कोई कहता है शेषनाग के फनों पर टिकी है, दूसरा कहता है बैल के सींग पर टिकी हुई है। पर इसका वास्तविक धारक तो सोम परमेश्वर ही है। वही ब्रह्माण्ड-रूप रथ को खींचने के कारण 'बैल' है तथा प्रलयकाल में भी बचा रहने के कारण 'शेष' कहलाता है। सूर्य के आकर्षण से भूमि का टिका रहना भी परमेश्वर-कृत होने से अन्तिम धारक परमेश्वर ही ठहरता है।

योनियों में मनुष्य-योनि को सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। परन्तु सब मनुष्य भी कर्म करने में चाहे कितने ही स्वतन्त्र हों, इस परमेश्वर के ही हाथ में हैं, क्योंकि कार्य करने की शक्ति और साधन देनेवाला वही है। मनुष्य को मन, मस्तिष्क, प्राण और चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ भला किसने दी हैं? जल, वायु, सूर्य आदि भला किसने दिये हैं? हे जगदीश! ये समस्त बाह्य और आन्तरिक साधन तो तुमने मनुष्य के लिये जुटाए ही हैं, अब एक कृपा और कर दो। तुम्हारे अन्दर जो दिव्य आनन्द भरा हुआ है, उसका झरना मुझ स्तोता के आत्मा में प्रवाहित कर दो। वह 'उत्स', वह झरना, मेरे लिये सदा ही 'नियुत्वान्' रहे, सदा ही झर-झर करता हुआ झरता रहे और मैं रस-पान करता रहूँ। ओह, कितने प्यारे शब्द हैं—'मधु' और 'उत्स'! मधु ही जीवन का सार है, उसकी एक बूँद भी मानव का कायापलट कर सकती है, उसे देव बना सकती है, फिर मधु का उत्स या झरना झर पड़े, तब तो कहना ही क्या है? बस, मनुष्य के अन्दर काया पलटवाने की और देव बनने की अभीप्सा होनी चाहिए।

हे सोम! हे सौम्यता के पुञ्ज! हे मधु के भण्डार! हमें अपने मधु की रसधार से संतृप्त करते रहो और आत्मबल प्रदान करते रहो।

---

१. नि युज्-मतुप्। धातु के ज् को त्। 'नियुतो नियमनाद् वा नियोजनाद् वा' निरु० ५.२८।
२. अंशु=सोमरस। अंशुः शम् अष्टमात्रो भवति, अननाय शं भवतीति वा, निरु० २.५।
३. इन्द्रेण आत्मना जुष्टम् इन्द्रियम् आत्मबलम्। इन्द्र शब्द से जुष्ट अर्थ में घच्=इय प्रत्यय, पा० ५.२.८३।

१४८. हर्षित करो, हर्षित करो

मत्सि सोम वरुणं मत्सि मित्रं मत्सीन्द्रमिन्दो पवमान विष्णुम्।
मत्सि शर्धो मारुतं मत्सि देवान् मत्सि महामिन्द्रमिन्दो मदाय॥

—ऋ० ९.९०.५

ऋषिः–वसिष्ठः मैत्रावरुणिः॥ **देवता**–पवमानः सोमः॥ **छन्दः**–त्रिष्टुप्॥

(मत्सि[१]) हर्षित करो **(सोम)** हे सोम परमेश्वर! मेरे अन्दर **(वरुणम्)** पाप-निवारण के गुण को। **(मत्सि)** हर्षित करो **(मित्रम्)** मित्रता के गुण को। **(मत्सि)** हर्षित करो **(पवमान)** हे पवित्रतादायक प्रभु! **(इन्द्रम्)** वीरता के गुण को और **(विष्णुम्)** व्यापकता, अर्थात् उदारता के गुण को। **(मत्सि)** हर्षित करो **(मारुतं शर्धः)** प्राणों के बल को। **(मत्सि)** हर्षित करो **(देवान्)** मन, बुद्धि ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय-रूप देवों को। **(मत्सि)** हर्षित करो **(इन्दो)** हे मेरे चाँद! **(महाम् इन्द्रम्)** महान् आत्मा को **(मदाय)** आनन्द के लिये।

परमेश्वर के 'सोम' नाम से प्रमुखतः उसके शान्त और मधुर आनन्दमय स्वरूप का बोध होता है। अतएव सोम प्रभु हमारे अन्दर शान्ति, माधुर्य एवं आनन्द की सरिता बहानेवाले हैं। 'इन्दु' नाम भी सोम के लिये प्रयुक्त होता है, जिसका योगार्थ है 'गीला करनेवाला'। परमेश्वर हमें आनन्द-रस से आर्द्र करने के कारण 'इन्दु' कहलाते हैं। 'सोम' और 'इन्दु' दोनों शब्द चन्द्रमा अर्थ को भी देते हैं। हमारे ऊपर शीतलता की चाँदनी बरसाने के कारण भी परमेश्वर सोम और इन्दु नामों से पुकारे जाते हैं। सोम और इन्दु नामों के साथ 'पवमानः' विशेषण भी जुड़ा हुआ है, जो प्रभु के पवित्रकर्त्ता रूप का परिचायक है।

हम प्रभु के शान्ति, माधुर्य, आनन्द एवं पवित्रता के गुणों को प्राप्त करें, इससे पूर्व कतिपय अन्य गुण हमारे अन्दर आ जाने आवश्यक हैं। वे गुण मन्त्र में वरुण, मित्र, इन्द्र एवं विष्णु शब्दों से सूचित किये गये हैं। वरुण पापकर्त्ता को अपने पाशों से बाँधकर दण्डित करते हैं। उनके इस स्वरूप का चिन्तन हमें पापों से बचाता है। अतः वरुण से पाप-निवारण का गुण सूचित होता है। मित्र मैत्री के सन्देशवाहक हैं, जो मित्रता के गुण का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्द्र का अधिकांश वैदिक वर्णन वीर तथा शत्रु-संहारक के रूप में हुआ है, जिससे वीरता के गुण का बोध होता है। विष्णु व्यापकता के देव हैं, जो हमें यह शिक्षा देते हैं कि हम अपने दृष्टिकोण को व्यापक तथा उदार बनाएँ। उदारता का गुण आने से मनुष्य सारी वसुधा को अपना कुटुम्ब समझने लगता है, एवं सबकी उन्नति में अपनी उन्नती मानता है। हे प्रभु! तुम हमारे अन्दर इन सब गुणों को उद्बुद्ध करो, हर्षित करो। तुम हमारे अन्दर प्राण-बल को भी हर्षित करो। हमारे शरीर में जो मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियरूप विभिन्न देव बैठे हुए हैं, उनके बल को भी हर्षित करो और जो जीवात्मा-रूप महान् इन्द्र है, उसे भी हर्षित, प्रफुल्ल एवं भूरि-भूरि प्रवृद्ध करो। इन सब गुणों के हमारे अन्दर विकसित हो जाने से तथा प्राणबल, मनोबल, बुद्धिबल एवं आत्मबल के समुन्नत हो जाने से तुम्हारी शान्ति, मधुरता, आनन्द, शीतलता और पवित्रता की धार हमें स्वतः ही प्राप्त होने लगेगी।

---

१. मत्सि मादयस्व। मदी हर्षे, छान्दस रूप।

१४९. ऋषि बनानेवाला सोम प्रभु

ऋषिमना य ऋषिकृत् स्वर्षाः सहस्रणीथः पदवीः कवीनाम्।
तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप्॥

—ऋ० ९.९६.१८

ऋषिः—प्रतर्दनः दैवोदासिः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**यः**) जो (**ऋषिमनाः**) ऋषियों में मन रखनेवाला, (**ऋषिकृत्**) ऋषि बनानेवाला, (**स्वर्षाः**[१]) सुख देनेवाला, (**सहस्रणीथः**[२]) सहस्रों का नेतृत्व करनेवाला और (**कवीनाम्**) कवियों को (**पदवीः**[३]) परम पद प्राप्त करानेवाला है, वह (**तृतीयं धाम**) तृतीय धाम मोक्ष को (**सिषासन्**[४]) प्रदान करने की इच्छावाला, (**महिषः**[५]) महान् (**ष्टुप्**[६]) सर्वाधार (**सोमः**) जगदुत्पादक सौम्य परमेश्वर (**विराजम् अनु**) विराट् शक्ति पाये हुए जीवात्मा के साथ-साथ (**राजति**) स्वयं भी प्रकाशित अर्थात् यशस्वी होता है।

यदि जीवात्मा प्रभु से सम्पर्क स्थापित करे, तो प्रभु का प्रयास सदा यही रहता है कि वह जीवात्मा को उत्कर्ष की ओर ले जाए। प्रभु 'ऋषिमनाः' हैं, ऋषियों में मन लगाते हैं, उनसे प्रीति करते हैं। ऋषि कहते हैं उस अन्तर्दृष्टा तथा दूरद्रष्टा मनुष्य को जो कभी राग-द्वेषादि रिपुओं के वशीभूत न होकर स्वयं सदा उत्थान की ओर अग्रसर रहता है तथा समाज को भी उसी ओर ले जाता है। केवल बहिर्मुख तथा आज को ही देखनेवाला मनुष्य प्रभु का प्रीतिभाजन नहीं होता। प्रभु 'ऋषिकृत्' भी हैं। जो उनके उन्मुख होता है, उसे वे अपने चुम्बकीय प्रभाव से ऋषि बना देते हैं। प्रभु 'स्वर्षाः' हैं, सुख बाँटनेवाले हैं। सुख मिलता है समर्पण से। एक बड़ा जागीरदार किसी महात्मा के पास पहुँचकर बोला—मुझे भगवान् ने सब कुछ दिया है, मेरे पास धन-दौलत की कमी नहीं है, मेरी कोठियाँ राजभवनों को मात करती हैं, नौकर-चाकर हैं, रथ-बग्घी आदि सभी साधन हैं, केवल सुख ही है जो मेरे पास नहीं है। महात्मा ने कहा—सुख मिलता है किसी को बड़ा मानकर उसके आगे झुकने से। तुम्हारे अन्दर दौलत का अभिमान भरा है। धन का नशा उतारकर जिसने धन दिया है उसके चरणों में झुको, सुख स्वयं दौड़ा चला आयेगा।

प्रभु 'सहस्रणीथ' हैं, सहस्रों के नेता हैं, सहस्रों को मार्ग दिखानेवाले हैं। न जाने कितनों को राह दिखाकर तार चुके हैं? वे कवियों को परम पद दिलानेवाले हैं। कवि वह क्रान्तदर्शी, अन्तःप्रज्ञ मनुष्य होता है, जो संसार में रहता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता। वह महान् जगदुत्पादक सौम्य प्रभु अधिक से अधिक लोगों को तृतीय धाम मुक्तिलोक में पहुँचाना चाहते हैं। उन्हें यह चिन्ता नहीं है कि सभी मुक्त हो जायेंगे तो संसार कैसे चलेगा? आवश्यकता इस बात की है कि हम मुमुक्षु तथा कवि बनें। प्रभु की शरण में जाने से जीवात्मा में विराट् शक्ति आ जाती है, उससे शरणागत जीव और शरणदाता प्रभु दोनों ही परम यशस्वी हो जाते हैं। आओ, हम भी प्रभु के शरणागत हों।

---

१. स्वः सुखं सनति संभजति सनोति ददाति वा यः स स्वर्षाः। स्वर्-षण सम्भक्तौ, षणु दाने।
२. सहस्रं जनान् नयतीति सहस्रणीथः। सहस्र-णीञ् प्रापणे, क्थन् प्रत्यय।
३. पदं वाययति प्रापयतीति पदवीः। पद-वी गत्यादिषु।
४. सिषासन् सनितुं दातुम् इच्छन्। षणु दाने, सन्। सन्नन्त सिषास धातु से शतृ प्रत्यय।
५. महिषः=महान्, निघं० ३.३।
६. स्तुभु स्तम्भे, भ्वादिः। स्तोभति धारयति सर्वं जगद् यः स ष्टुप् जगदाधारः।

१५०. मुझ बद्ध को बन्धन-मुक्त कर दो

ग्रन्थिं न वि ष्य ग्रथितं पुनान ऋजुं च गातुं वृजिनं च सोम।
अत्यो न क्रदो हरिरा सृजानो मर्यो देव धन्व पस्त्यावान्॥

—ऋ० ९.९७.१८

ऋषिः—व्याघ्रपाद् वासिष्ठः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**ग्रन्थिं न**) गाँठ के समान (**विष्य**[1]) खोल दो (**ग्रथितम्**[2]) बँधे हुए को (**पुनानः**) पवित्र करते हुए आप। (**ऋजुं च गातुम्**) और ऋजु मार्ग (**वृजिनं**[3] **च**) तथा बल [प्रदान करो] (**सोम**) हे सोम परमात्मन्! (**अत्यः**[4] **न**) घोड़े के समान (**क्रदः**[5]) शब्द करो (**हरिः**) पापहर्ता (**आसृजानः**[6]) छूटते हुए आप। (**देव**) हे देव! (**धन्व**[7]) आओ (**मर्यः**[8]) मारनेवाले (**पस्त्यावान्**[9]) प्रजावाले आप।

मैं पूर्वाग्रहों से, पापों से, दुर्व्यसनों से अविवेक से, अधर्म से, बँधा हुआ हूँ। परन्तु यह स्थिति मेरे लिये अहितकर है, यह मैंने भली-भाँति समझ लिया है। इसलिए मैं इन अभद्र बन्धनों से मुक्त होना चाह रहा हूँ। हे पवित्रकर्त्ता प्रभु! तुम इन बन्धनों से मुझे ऐसे ही खोल दो, जैसे कोई गाँठ खोलता है। किसी रस्सी में बहुत-सी गाँठे लगी हों, तो उन गाँठों को खोल देने पर रस्सी लम्बी हो जाती है। ऐसे ही इन बन्धनों की गाँठे जब मुझसे खुल जायेंगी, तब मैं संकुचित के स्थान पर उदार बन जाऊँगा। दूसरी प्रार्थना मैं तुमसे यह करता हूँ कि मेरे मार्ग को सरल कर दो। अब तक मैं कुटिलपथगामी बना हुआ हूँ। मेरा कुटिल मार्ग पर चलना इतना चर्चित हो चुका है कि कभी सरलमार्ग पर भी चल रहा होता हूँ तो साथी-सङ्गी यही कहते हैं कि इसमें भी इसकी कुछ कुटिलता छिपी हुई है। समाज में मेरा विश्वास उठ चुका है। हे बलदाता सोम देव! तुम मुझे ऐसा बल प्रदान करो कि जो भी बुराइयाँ मेरे अन्दर हैं, उनके प्रति विद्रोह का झण्डा उठाकर मैं सदाचार की दृढ चट्टान पर खड़ा हो जाऊँ। तुम्हारे दिये बल में ऐसी अद्भुत शक्ति है कि बड़े-बड़े दुर्जन भी सज्जनों के अग्रगण्य बन चुके हैं। मुझे भी उन सुजनों की पंक्ति में खड़ा कर दो।

हे सोम! तुम हरि हो, पाप-ताप के हर्त्ता हो। अन्तरात्मा में अब तक तुम्हें मैंने अपने से अलग रखा हुआ था। अब तुम मेरे अन्तरात्मा में छूट पड़ो। 'हरि' घोड़े को भी कहते हैं। जैसे खुला छूटने पर घोड़ा आनन्द से हिनहिनाता है, वैसे ही तुम मेरे अन्दर छूटकर हिनहिनाओ, खिलखिलाओ, मुझसे बतियाओ, मेरे दुर्व्यसनों पर गर्जो-तर्जो। मीठा भी कहो, कड़वा भी कहो। हे गुण-निधान! तुम 'मर्य' हो। मर्य तो मैं भी हूँ, पर मैं मरनेवाला होने के कारण 'मर्य' कहलाता हूँ और तुम 'मारनेवाले' होने से 'मर्य' नाम से प्रसिद्ध हो। तुम दुर्जन की दुर्जनता को मारकर उसे सज्जन बना देते हो। इसप्रकार तुम्हारे मारने की कला भी निर्माण के लिए है। तुम 'पस्त्यावान्' हो, प्रजावान् हो, तुम्हारे सद्गुणों और सत्कर्मों की प्रजा तुम्हारे साथ रहती है। हे देव! तुम अपनी उस प्रजा के साथ मेरे पास आओ, और मुझे भी 'पस्त्यावान्' बना दो।

---

१. वि-षो अन्तकर्मणि, दिवादिः, लोट्। विष्य विमुञ्च। २. ग्रन्थ बन्धने, चुरादिः, ग्रथ-क्त प्रत्यय।
३. 'वृजन' शब्द बलवाची नामों में पठित है, निघं० २.९। 'वृजिन' सामान्यतः वर्जनीय पाप का वाचक है, किन्तु बल के लिए भी प्रयुक्त होता है। 'वृजिनानि बलानि' —द० भाष्य, ऋ० ५.१२.५।
४. अत्यः=अश्व, निघं० १.१४। अतति गच्छतीति अत्यः, अत सातत्यगमने, भ्वादि।
५. क्रदि आह्वाने रोदने च, लेट्। ६. आ-सृज विसर्गे, दिवादि, तुदादि, शानच्।
७. धन्व धातु गत्यर्थक, निघं० २.१४। ८. मारयतीति मर्यः, मृङ् प्राणत्यागे।
९. विशो वै पस्त्याः, श० ब्रा० ५.३.५.१९।

१५१. वेदकथा का पान करने आओ

अरश्मानो येऽरथा अयुक्ता अत्यासो न ससृजानास आजौ।
एते शुक्रासो धन्वन्ति सोमा देवासस्ताँ उप याता पिबध्यै॥

—ऋ० ९.९७.२०

ऋषिः—शक्तिः वासिष्ठः॥ देवता—पवमानः सोम॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(ये) जो **(आजौ[1])** युद्ध में **(ससृजानासः)** छोड़े जाते हुए **(अत्यासः न)** घोड़ों के समान **(अ-रश्मानः)** बन्धन से रहित, **(अ-रथाः)** रथ-रहित और **(अ-युक्ताः)** अ-युक्त हैं, ऐसे **(एते)** ये **(शुक्रासः)** पवित्र एवं प्रदीप्त **(सोमाः)** वेदोपदेश **(धन्वन्ति)** बह रहे हैं। **(देवासः)** हे सज्जनो! **(उप यात)** आओ, **(तान् पिबध्यै[2])** उन्हें पान करने के लिए।

'आजि' संग्राम को भी कहते हैं और यज्ञ को भी। संग्राम में घोड़े प्रवृत्त होते हैं और यज्ञ में वेदोपदेश। सधे हुए घोड़े जिन पर न लगाम लगी है, न जिनके साथ रथ जुड़ा है, न जिन पर सवार बैठा है, शत्रुसेना की ओर छोड़ दिये जाएँ, तो शत्रु यह समझकर कि दुश्मन के शस्त्रास्त्रों से लैस घुड़सवार दौड़े चले आ रहे हैं, भाग खड़े होते हैं। ऐसे ही यज्ञ में सोमरस अर्थात् वेदोपदेश छोड़े जाते हैं, जिनसे श्रोताओं की अन्तरात्मा में बैठे षड्-रिपु भाग जाते हैं।

'अरश्मानः', 'अरथाः' और 'अयुक्ताः' विशेषण घोड़ों और वेदोपदेशों दोनों की ओर घटित होते हैं। संग्राम के घोड़े 'अ-रश्मानः' लगाम के बन्धन से रहित होते हैं और यज्ञ के वेदोपदेश इस बाध्यता के बन्धन से रहित होते हैं कि सभी को सुनने के लिए अवश्य बैठना है। जिसकी श्रद्धा है, शान्ति से बैठे, जिसकी श्रद्धा नहीं है, वह न बैठे। संग्राम के घोड़े और वेदोपदेश दोनों 'अ-रथाः' अर्थात् बिना रथ के होते हैं। वेदोपदेश बिना रथ के दो दृष्टियों से हैं। एक तो यह दृष्टि कि ऐसा नहीं है कि उपदेश कैसेट में भरे हुए हैं और कैसेटों को कोई रथारोही रथ पर रखे हुए सड़कों पर बजाता फिर रहा है। इसके विपरीत वेदोपदेश यज्ञशाला या सत्सङ्ग-भवन के शान्त वातावरण में हो रहे हैं, जहाँ जिज्ञासु लोग ही सुनने पहुँचते हैं। दूसरे, उपदेश इस कारण भी 'अ-रथाः' हैं कि श्रोतागण पैदल आते हैं या मोटरकार में आते हैं, इसका कोई विचार उपदेशों में नहीं रखा जाता है। कोई कैसे भी आए, यथास्थान एक के पीछे एक शान्ति से बैठते चलते हैं। संग्राम के घोड़े और वेदोपदेश दोनों 'अ-युक्त' हैं। घोड़े तो इस कारण कि वे सवार से युक्त नहीं हैं और उपदेश इस कारण कि वे किसी साम्प्रदायिक संकुचित वृत्ति से युक्त नहीं हैं।

वेदोपदेश शुभ्र अर्थात् पवित्र एवं तेजोमय है, जो श्रोताओं के मन एवं आत्मा को पवित्र करते हैं तथा तेजस्वी बनाते हैं। हे सज्जनो! हे देवो और देवियो! इन वेदोपदेशों का पान करने के लिए आप सप्रेम निमन्त्रित हैं।

---

१. आजि=संग्राम, निघं० २.१७। अज गतिक्षेपणयोः। अजन्ति कर्मकरणार्थम् ऋत्विजो ऽत्र इत्याजिर्यज्ञः —सायण।

२. पा पाने। धातु को पिब आदेश, तुमर्थ में कध्यैन्=अध्यै प्रत्यय।

१५२. मेरी तीनों वाणियाँ उसी के गीत गाती हैं

तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः॥

—ऋ० ९.९७.३४

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(तिस्रः वाचः) तीन वाणियों को **(प्र ईरयति)** प्रेरित कर रहा है **(वह्निः)** यज्ञ का वाहक यजमान। वह **(ऋतस्य)** सत्य की **(धीतिम्)** धारणा को और **(ब्रह्मणः)** वेद की **(मनीषाम्)** प्रज्ञा को [अपने अन्दर प्रेरित कर रहा है]। **(गावः)** इन्द्रियाँ **(यन्ति)** [अपने-अपने ग्राह्य विषयों की ओर] जा रही है, मानो **(गोपतिम्)** इन्द्रियाधीश को **(पृच्छमानाः)** पूछती हुई। **(सोमं यन्ति)** सोम प्रभु के पास जा रही हैं **(मतयः)** मतियाँ **(वावशानाः[1])** अतिशय पुनः पुनः कामना करती हुई।

मैं आज प्रभु-भक्ति के यज्ञ का यजमान बना हूँ। कभी उमङ्ग में भरकर गद्य-गीत गाता हूँ, कभी पद्य-गीत गाता हूँ और कभी परमेश प्रभु की स्तुति में गद्य-पद्य-मिश्रित काव्य-रचना करता हूँ। इन तीनों प्रकार की वाणियों से मैं प्रभु को रिझा रहा हूँ। पर प्रभु रीझते तब हैं, जब उपासक 'सत्य' की धारणा से युक्त हो। ऊपर से प्रभु-स्तवन कर रहा हो और अन्दर विद्रोह मचा हो, ऐसी स्तुति किसी काम की नहीं है। केवल स्तुति में ही सत्यनिष्ठा नहीं, किन्तु सम्पूर्ण जीवन में सत्य की व्याप्ति होनी चाहिए। जो कुछ चिन्तन करें, बोलें, आचरण करें, सब सत्यमय होना चाहिए। ऋत की धीति का अर्थ है ऋत का पूर्णरूप से मन और आत्मा में धृत हो जाना। ऐसी स्थिति जब हो जाती है, तब मनुष्य के अन्दर मनसा, वाचा, कर्मणा किसी भी रूप में अनृत प्रवेश नहीं कर पाता। प्रभु का प्रसाद पाने के लिए जिस दूसरी वस्तु की आवश्यकता है, वह है वेदोक्त प्रज्ञा। वेद में प्रज्ञा की आकांक्षा केतु, क्रतु, धी, शची आदि नामों से की गयी है। इस प्रज्ञा में ज्ञान, कर्म, सङ्कल्प, ध्यान, शक्ति, आशावादिता, महत्त्वाकांक्षा आदि अनेक तत्त्व निहित हैं। ऊर्ध्वगामिता की उत्कट अभीप्सा इसकी केन्द्रभूत विशेषता है। इसप्रकार सत्य की धारणा और वेदोक्त प्रज्ञा इन दोनों को पाथेय-रूप में लेकर प्रभु-मिलन के लिए आगे बढ़ना होता है।

मेरी चक्षु, श्रोत्र आदि गौएँ दृश्य, श्रव्य आदि विषय-रूप चरागाहों की ओर दौड़ रही हैं। मानो इस खोज में दौड़ रही हैं कि हमारा गोपति, हमारा रक्षक, संचालक और व्यवस्थापक कौन है। वे जिसे पाती हैं, उससे मानो पूछती हैं कि हमारे गोपति का पता बता दो। आशय यह है कि उनकी भी चरितार्थता गोपति प्रभु को पाने में ही है, विषयों की ओर भागने में नहीं। मेरी मतियाँ, विचारधाराएँ सोम प्रभु की कामना करती हुई, उसी में लौ लगाती हुई विचर रही हैं। इस प्रकार मेरी विविध वाणियाँ, मेरी ऋत की धारणा, मेरी वेदोपदिष्ट प्रज्ञा, मेरी इन्द्रियरूप गौएँ, मेरी मतियाँ सबका एक लक्ष्य है—परम प्रभु का प्रसाद पाना। आओ, सभी मिलकर प्रभु-प्रसाद के भागी हों।

---

१. वश कान्तौ, अदादिः। कान्तिः इच्छा। वावश-यङ्लुगन्त, शानच्।

१५३. ज्ञानरस का चमत्कार

एवा नः सोम परिषिच्यमान आ पवस्व पूयमानः स्वस्ति।
इन्द्रमा विश बृहता रवेण वर्धया वाचं जनया पुरन्धिम्॥

—ऋ० ९.९७.३६

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**एव**) सचमुच (**सोम**) हे ज्ञान-रस! तू (**परिषिच्यमानः**[1]) [आत्मा में] सींचा जाता हुआ, (**पूयमानः**[2]) पवित्र किया जाता हुआ (**नः**) हमें (**स्वस्ति**) कल्याण (**आ पवस्व**) प्राप्त करा। (**इन्द्रम्**) आत्मा में (**आ विश**) प्रवेश कर (**बृहता रवेण**) महान् शब्द-शास्त्र के साथ। (**वर्धय**) बढ़ा (**वाचम्**) वाणी को। (**जनय**[3]) उत्पन्न कर (**पुरंधिम्**[4]) बहुत बुद्धिमान् को।

ज्ञान का पारावार असीम है। मनुष्य जन्म से लेकर अन्त तक कुछ-न-कुछ ज्ञान अर्जित करता ही रहता है। आरम्भ में वह माता-पिता से शिक्षा प्राप्त करता है। तदनन्तर आचार्याधीन वास करके विद्या में निष्णात होता है। पर तब भी विद्यार्जन समाप्त नहीं होता। समावर्तन संस्कार के समय आचार्य उसे उपदेश करता है—'**स्वाध्यायान्मा प्रमदः**', स्वाध्याय में कभी प्रमाद न करना। वह विद्वानों के ग्रन्थों से ज्ञान प्राप्त करता है। वह विद्वान् उपदेशकों एवं संन्यासियों के उपदेशों से अपना ज्ञान बढ़ाता है। वह कितना ही ज्ञान आत्मसात् कर ले, उसका वह ज्ञान समुद्र में बिन्दुवत् होता है। उन्नीस विद्याओं के पूर्ण पण्डित हो चुकने के बाद नारद सनत्कुमार के समीप और अधिक ज्ञान ग्रहण करने गये थे।[5] वैसे तो सब विद्याओं का ज्ञान कई जन्म लगाकर भी नहीं हो पाता। फिर कोई समस्त अपरा विद्याओं में पारंगत हो भी जाए, तो परा विद्या अवशिष्ट रह जाती है।

जब आचार्य एवं विद्वज्जनों द्वारा ज्ञान-रस जिज्ञासु के आत्मा में सींचा जाता है तथा सदाचार की शिक्षा के द्वारा उसे ज्ञान-रस से पवित्र किया जाता है, तब वह जिज्ञासु को महान् कल्याण प्रदान करता है। केवल जिज्ञासु के लिए ही नहीं, किन्तु हम सब के लिए वह स्वस्ति-प्रदायक होता है, क्योंकि जिज्ञासु ज्ञानार्जन के पश्चात् अन्यों को ज्ञान देता है और यह परम्परा चलती ही रहती है।

महान् शब्दशास्त्र के साथ ज्ञान-रस शिष्य की आत्मा में प्रवेश करके उसे प्रकाण्ड ज्ञानी बना देता है। ज्ञान-रस से उसकी वाक्शक्ति की भी वृद्धि होती है। वह बुद्धिमान् भी बन जाता है। इसप्रकार महान् ज्ञानी, वाग्मी और मेधावी बनकर वह संसार का उपकार करता है।

आओ, ज्ञान-रस का पान कर तथा उत्तरोत्तर अपने ज्ञान को बढ़ाकर हम भी महान् ज्ञानी, वाग्मी और मेधावी बनें तथा अन्यों को भी बनायें। इस प्रकार सम्पूर्ण राष्ट्र में ज्ञान की गङ्गा बहने लगे। कोई भी राष्ट्रवासी अशिक्षित और अपण्डित न रहे।

---

१. परि-षिच् क्षरणे, कर्म में यक्, शानच्।
२. पूञ् पवने, क्र्यादि। कर्म में यक्, शानच्।
३. संहिता में 'जनया', छान्दस दीर्घ। जनी प्रादुर्भावे, णिच्, लोट्।
४. पुरन्धिः बहुधीः —निरु० ६.१३।
५. द्रष्टव्य: छा० उप०, प्रपा० ७, खण्ड १-३।

१५४. कुछ बूँदें हम पर भी बरसा दो

मध्वः सूदं पवस्व वस्व उत्सं वीरं च न आ पवस्वा भगं च।
स्वदस्वेन्द्राय पवमान इन्दो रयिं च न आ पवस्वा समुद्रात्॥

—ऋ० ९.९७.४४

ऋषिः–पराशरः शाक्त्यः॥ **देवता**–पवमानः सोमः॥ **छन्दः**–त्रिष्टुप्॥

(**मध्वः**) मधु के (**सूदम्**[१]) क्षरण को (**पवस्व**) प्रवाहित कर और (**वस्वः**[२]) प्राण के (**उत्सम्**) झरने को। (**वीरं च**) और वीर को (**नः**) हमारे लिए (**आ पवस्व**) प्रदान कर, (**भगं च**) तथा सौभाग्य को। (**स्वदस्व**) स्वादु लग (**इन्द्राय**) आत्मा को (**पवमान इन्दो**) हे पवित्रतादायक दयार्द्र सोम प्रभु! (**रयिं च**) और दिव्य ऐश्वर्य (**नः**) हमारे लिए (**आ पवस्व**) प्रवाहित करके ला (**समुद्रात्**) [अपने] ऐश्वर्य-समुद्र से।

हे सर्वेश्वर! आप पवमान हो, जन-मानस को पवित्र करनेवाले हो। आप 'इन्दु' हो, दुःखियों के प्रति करुणा से आर्द्र हो जानेवाले तथा उन्हें अपनी स्नेह-सहानुभूति से आर्द्र कर देनेवाले हो। आप मधुमय हो, हमारे ऊपर भी अपने मधु की वर्षा करो। आप जिधर से चखो मीठे ही मीठे हो, हमें भी मीठा बना दो। आप मधुर आनन्द-रस से भरपूर हो, हमें भी आनन्दित कर दो। आप वसुमान् हो, हमारे लिए भी वसु का झरना झराओ। वसु वे प्राण कहाते हैं, जिनके नियन्त्रण से शरीर के सब इन्द्रिय आदि निवास को प्राप्त कर लेते हैं। उन वसु प्राणों को वश में करने से हम वसिष्ठ ऋषि बन सकते हैं।

हे सोम प्रभु! आप वीर-रस के धनी हो, हमारे मन और आत्मा को भी वीर-रस से आप्लावित करो। जब हमारे अन्दर वीर-रस हिलोरें लेने लगेगा, तब काम, क्रोध आदि षड्-रिपु हमारा कुछ भी न बिगाड़ सकेंगे। वे हमारे सामने से ऐसे ही भाग खड़े होंगे, जैसे सिंह को सम्मुख पाकर मृग, या सूर्य को सम्मुख पाकर तमःपुंज पलायन कर जाते हैं। हे सौभाग्यशाली सोम प्रभु! आप हमें सौभाग्य भी प्रदान करो। सौभाग्य उस प्रताप को कहते हैं, जिससे सब प्रकार की अनुकूलताएँ स्वयं होती चलती हैं।

हे मधुरता के देव! आप मेरे आत्मा को स्वादु लगने लगो। फिर तो उसे तुम्हारा स्वाद पाने का ऐसा चस्का लग जाएगा कि सांसारिक सब मधुरताएँ उसे फीकी लगने लगेंगी। जिसने एक बार आपका स्वाद पा लिया, वह जन्म-भर के लिए आपका ही हो जाता है। हे सब ऐश्वर्यों के अधिपति सोम परमेश्वर! आप अपने दिव्य ऐश्वर्य के समुद्र में से कुछ ऐश्वर्य की बूँदें हमारे ऊपर भी गिरा दो। हमें भी अहिंसा और सत्य का पुजारी बना दो, हमें भी अस्तेय एवं ब्रह्मचर्य का दीवाना बना दो, हमें भी दया, दान और सरलता का प्रेमी बना दो, हमें भी विद्या और कर्मनिष्ठा का अनुरागी बना दो।

---

१. षूद क्षरणे, भ्वादि, चुरादि।
२. वस्वः=वसुनः। प्राणा वाव तेषां (देवानां) वामं वसु आसीत्, जै० १.१४२।

१५५. दिव्य और पार्थिव वसु हमें दो

अभी नो अर्ष दिव्या वसून्यभि विश्वा पार्थिवा पूयमानः।
अभि येन द्रविणमश्नवामाभ्यार्षेयं जमदग्निवन्नः॥

—ऋ० ९.९७.५१

ऋषिः—कुत्सः आङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**नः अभि**) हमारे प्रति (**अर्ष**[१]) पहुँचाओ (**दिव्या**[२] **वसूनि**) दिव्य धनों को। (**अभि अर्ष**) हमारे प्रति पहुँचाओ (**विश्वा पार्थिवा**[३] **वसूनि**) सब पार्थिव धनों को (**पूयमानः**) पवित्र-रूप में प्रकट किये जाते हुए आप। (**येन**) जिससे (**द्रविणम्**[४]) बल को (**अभि अश्नवाम**) [हम] प्राप्त करें। (**नः अभि**) हमारे प्रति [पहुँचाओ] (**आर्षेयम्**[५]) ऋषित्व को (**जमदग्निवत्**) जमदग्नि के समान।

सम्पदाएँ दो प्रकार की हैं, एक दिव्य और दूसरी पार्थिव या भौतिक। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, धृति, क्षमा, जितेन्द्रियता, बुद्धि, विद्या, विवेक, धर्मात्मता, शान्ति, निर्भयता आदि दिव्य सम्पत्तियाँ कहलाती हैं। पार्थिव या भौतिक संपदा में चाँदी, सोना, हीरे, मोती, गाय, घोड़े, हाथी, कोठियाँ, बङ्गले, बाग-बगीचे, अन्न, दूध, घी, ट्रांजिस्टर, टी०वी०, कूलर, हीटर, बिजली के पङ्खे आदि आते हैं। वैदिक स्तोता दोनों प्रकार की सम्पदाओं की याचना करता है। दिव्य सम्पदा से रहित अकेली पार्थिव सम्पदा किसी काम की नहीं है। धनी मनुष्य भी वही पूजित होता है, जो आचारवान् और गुणवान् है। हे सब सम्पदाओं के धनी सोम प्रभु! पूयमान रूप में हमारे अन्तरात्मा में प्रकट होते हुए तुम हमें उक्त उभयविध सम्पदाएँ प्रदान करो। जब हम प्रभु को सांसारिक वासनाएँ हृदय में धारण करके भजते हैं, तब वह 'पूयमान' नहीं कहलाता। मन और आत्मा को सांसारिक वासनाओं से रिक्त करके जब हम प्रभु का भजन करते हैं, तभी वह 'पूयमान' होकर हमें हमारी मुँहमाँगी वस्तुएँ प्राप्त कराने में हमारा सहयोग करता है।

जब हमें उभयविध सम्पदाएँ मिल जायेंगी, तब हम स्वयं को बली अनुभव करेंगे, क्योंकि सम्पदा ही बल है। तब हमारे अन्दर चरित्रबल भी होगा और भौतिक धन-दौलत का बल भी। चरित्र-बल से हम बड़े-से-बड़े शत्रु को अपने सम्मुख झुका सकेंगे और धन के बल से दीन-दुःखियों की सेवा कर सकेंगे।

इसके अतिरिक्त हे पवमान सोम प्रभु! तुम हमें 'आर्षेय' या ऋषित्व भी प्राप्त कराओ। हमें मन्त्रद्रष्टा और दूरद्रष्टा भी बनाओ। जैसे तुम जमदग्नि[६] को अर्थात् अपने अन्दर अग्नि प्रज्वलित करनेवाले तेजस्वी मनुष्य को ऋषि बनाते हो, ऐसे ही हमें भी बनाओ।

---

१. ऋषी गतौ, तुदादि, ऋषति। अर्ष=ऋष, छान्दस रूप।
२. दिव्या वसूनि=दिव्यानि वसूनि।
३. विश्वा पार्थिवा वसूनि=विश्वानि पार्थिवानि वसूनि।
४. द्रविण=बल, धन, निघं० २.९, २.१०। द्रु गतौ-इन। बल, जिससे गति या कर्म करते हैं। धनं द्रविणम् उच्यते, यद् एनद् अभिद्रवन्ति। बलं वा द्रविणं, यद् एनेन अभिद्रवन्ति —निरु० ८.१।
५. ऋषीणाम् इदम् आर्षेयम्, छान्दस ढक् प्रत्यय।
६. जमदग्नयः प्रजनिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा, निरु० ७.२५। जम धातु गत्यर्थक या दीप्त्यर्थक।

१५६. आओ, सोम प्रभु को भजें

तं सखायः पुरोरुचं यूयं वयं च सूरयः।
अश्याम वाजगन्ध्यं सनेम वाजपस्त्यम्॥

—ऋ० ९.९८.१२

ऋषिः—अम्बरीषः वार्षागिरः, ऋजिश्वा भारद्वाजः॥ **देवता**—पवमानः सोमः॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥

(सखायः) हे साथियो! **(यूयं वयं च)** तुम और हम **(सूरयः)** भक्त विद्वान् लोग [मिलकर] **(पुरोरुचम्)** सामने चमकते हुए **(वाजगन्ध्यम्)** ब्रह्मबल की सुगन्ध से युक्त **(तम्)** उस सोम प्रभु को **(अश्याम)** प्राप्त करें, **(वाजपस्त्यम्[१])** क्षात्रबल के गृहभूत उस सोम प्रभु को **(सनेम)** भजें।

देखो, वह सामने कौन चमक रहा है? क्या कहते हो? हमें तो कोई अनोखी वस्तु चमकती दिखायी नहीं दे रही। चमकीला सूरज दीखता है, चमकीला चाँद दीखता है, चमकीली आग दीखती है, चमकीली बिजली दीखती है। ये प्रतिदिन दीखनेवाली सामान्य वस्तुएँ हैं। तुम कौन-सी चमक-दमकवाली अद्भुत वस्तु दिखा रहे हो? मैं दिखा रहा हूँ उसे जो सूरज में भी बैठा चमक रहा है, चाँद में भी बैठा चमक रहा है, आग में भी बैठा चमक रहा है और बिजली में भी बैठा चमक रहा है। वह है 'सोम' नामक सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक प्रभु, जिसकी चमक से ये सब चमकीले पदार्थ चमक रहे हैं। आओ, मित्रो! तुम-हम मिलकर उस प्रभु को प्राप्त करें, भजें, उसके गीत गायें, उसका अभिनन्दन करें, उसे अपने हृदय-मन्दिर में बैठाएँ, उसे अपने आत्मा के सिंहासन पर आसीन करें।

वह सोम प्रभु 'वाजगन्ध्य' है, उसमें से ब्रह्मबल का सौरभ निकलकर सारे वातावरण को सुगन्धित कर रहा है। वह हमारे आत्मा को भी ब्रह्मबल की सुगन्ध से सुरभित करनेवाला है। ब्रह्मबल एक अद्भुत बल है। ब्रह्मबल फकीर को राजाधिराज बना देता है। ब्रह्मबल बिना रक्तपात के शत्रु को झुका लेता है। ब्रह्मबल हत्या के इरादे से आये व्यक्ति को अपने चरणों पर नँवा लेता है। ब्रह्मबल नास्तिक को आस्तिक कर देता है। सोम प्रभु की शरण में जाकर हम भी ब्रह्मबल के सौरभ से सुरभित हो जाएँ। सोम प्रभु 'वाजपस्त्य' है, क्षात्रबल का सदन है। क्षात्रबल शत्रु का उन्मूलन कर सकता है, क्षात्रबल दीनों की रक्षा कर सकता है, क्षात्रबल प्रहारों से त्राण कर सकता है। क्षात्रबल समाज और राष्ट्र के लिए हँसते-हँसते आत्म-बलिदान करा सकता है। हम भी सोम प्रभु को भजकर क्षात्रबल के धनी बनें। जैसे सोम प्रभु ब्रह्मबल और क्षात्रबल दोनों से युक्त हैं, ऐसे ही प्रत्येक मनुष्य को अपने अन्दर दोनों बलों का विकास करना चाहिए। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सबमें दोनों बलों का समन्वय आवश्यक होता है।

आओ, साथियो! सब मिलकर 'पुरोरुच्' प्रभु को भजें, 'वाजगन्ध्य' प्रभु को भजें, 'वाजपस्त्य' प्रभु को भजें।

---

१. पस्त्य=गृह, निघं० ३.४। वाज=बल, निघं० २.९।

१५७. सोम की विविध धाराएँ

क्रत्वे दक्षाय नः कवे पवस्व सोम धारया।
इन्द्राय पातवे सुतो मित्राय वरुणाय च॥

—ऋ० ९.१००.५

ऋषिः—रेभसूनू काश्यपौ॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

(**नः**) हमारे (**क्रत्वे**[1]) प्रज्ञा, कर्म, सङ्कल्प एवं यज्ञ के लिए और (**दक्षाय**) आत्मबल एवं दक्षता के लिए (**कवे सोम**) हे कवि सोम प्रभु! (**पवस्व**) बहो (**धारया**) धारा के साथ। तुम (**इन्द्राय**) आत्मा के लिए (**मित्राय**) मित्रभूत मन के लिए, (**वरुणाय च**) और दोषनिवारक प्राण के लिए (**पातवे**) पीने को (**सुतः**) प्रस्तुत किये गये हो।

हे सोम प्रभु! तुम कवि हो। कवि स्वयं सहृदय होता है तथा अपने काव्य से सहृदयों को चमत्कृत भी करता है। उसका सहृदय-हृदयाह्लादक काव्य शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त इन नवों रसों की धारा बहाकर अलौकिक आनन्द की सृष्टि करता रहता है। कवि अपनी काव्य-धाराओं के साथ बहता-बहता काव्य-पिपासुओं तक पहुँच जाता है। ऐसे ही हे सोम! तुम भी धारा के साथ बहते-बहते उपासक के हृदय तक पहुँचो। कभी तुम आनन्द की धारा के साथ बहकर जगत् को आनन्द की तरंगिणी से सींचो। कभी शान्ति की धारा के साथ बहकर विश्व में शान्ति की धारा सरसाओ। कभी मैत्री की धारा के साथ बहकर सर्वत्र मित्रता का सूत्रपात करो। कभी सार्वभौम धर्म की धारा के साथ बहकर विश्व में दिव्य धर्म की लहर लहराओ। कभी अहिंसा और सत्य की धारा के साथ बहकर जगती को अहिंसा और सत्य से आप्लावित करो। कभी दिव्यता की धारा के साथ बहकर विश्व को दिव्यता से नहलाओ। कभी ज्ञान और कर्म की धारा के साथ बहकर ज्ञान और कर्म की गङ्गा में संसार को स्नान कराओ। कभी सत्सङ्कल्प और यज्ञ की धारा में बहकर शिवसङ्कल्प और यज्ञ की लहरें उठाओ। कभी ऋषित्व की धारा के साथ बहकर साधकों को ऋषि बनाओ। कभी तपस्या की धारा के साथ बहकर लोगों का ध्यान तपस्या में केन्द्रित करो। कभी श्रद्धा और आध्यात्मिकता की धारा के साथ बहकर जन-मानस को श्रद्धा और आध्यात्मिकता की तरंगों से तरंगित करो। बहो, बहो, हे सोम प्रभु! धाराओं के साथ बहो।

हे प्रभु! धाराओं के साथ बहकर हमें प्रज्ञानवान्, कर्मनिष्ठ, दृढ़ सङ्कल्प का धनी तथा यज्ञशील बनाओ। सारा विश्व यज्ञ की ही धुरी पर घूम रहा है। यज्ञ की भावना समाप्त होते ही विश्व भङ्गुर होकर तितर-बितर हो जाए। हे परमेश! हमें आत्मबल की धारा में बहा ले चलो। बलहीन का संसार में कोई सहारा नहीं बनता। इसके विपरीत जिसमें आत्मबल है वह बड़ी-से-बड़ी विपत्ति और बाधाओं को पार कर जाता है। हे रसीले सोम प्रभु! हमने तुम्हें परिस्रुत करके तुममें से अनेक धाराएँ बहायी हैं। वे धाराएँ हमारे आत्मा में पैठें, हमारे मानस में पैठें, हमारे प्राण में पैठें।

---

१. क्रत्वे=क्रतवे। जसादिषु छन्दसि वा वचनम् वा० ७.३.१०९ से गुण का विकल्प।

१५८. बहते ज्ञानरसों में डुबकी लगा लो

सोमा॑: पवन्त॒ इन्द॑वो॒ऽस्मभ्यं॑ गातु॒वित्त॑मा: ।
मि॒त्रा: सु॑वा॒ना अ॑रे॒पस॑: स्वा॒ध्य॑: स्व॒र्विद॑: ॥

—ऋ० ९.१०१.१०

ऋषि:–मनु: सांवरण:॥ देवता–पवमान: सोम:॥ छन्द:–अनुष्टुप्॥

(सोमा:) ज्ञान-रस **(पवन्ते)** बह रहे हैं **(इन्दव:)** आत्मा को ज्ञान से आर्द्र करनेवाले और **(अस्मभ्यं)** हमारे लिए **(गातुवित्-तमा:)** अतिशय मार्गदर्शक। ये **(मित्रा:)** मित्र हैं, **(सुवाना:)** सद्‌गुणों को उत्पन्न करनेवाले, **(अ-रेपस:)** निर्मल, **(स्वाध्य:)** उत्कृष्ट चिन्तन करानेवाले और **(स्वर्विद:)** अन्त:प्रकाश प्राप्त करानेवाले हैं।

परमेश्वर की कृपा से और गुरुजनों के आशीर्वाद से हमारे अन्तरात्मा में आज ज्ञान-रसों का प्रवाह बह रहा है। इन ज्ञान-रसों में डुबकी लगाकर हमारा आत्मा परम ज्ञानियों, साक्षाद्-द्रष्टाओं, दूरदर्शियों की श्रेणी में जा पहुँचा है। अब तक हम ज्ञानी जनों के पास अपनी जिज्ञासाओं का समाधान करने जाते थे, अब हमारे पास लोग शिष्यभाव से ज्ञान-ग्रहणार्थ आने लगे हैं। इन अर्जित ज्ञान-रसों ने हमारे सम्मुख गन्तव्य मार्ग को स्पष्ट कर दिया है। आज हमें दूसरों से यह पूछने की आवश्यकता नहीं रही कि हम किन मार्गों पर जाएँ और किन मार्गों पर नहीं। हम स्वयं तो सन्मार्ग पर चलने ही लगे हैं, अन्यों को भी सन्मार्ग पर चलाने का पुण्यलाभ कर रहे हैं। ये ज्ञानरस हमारे सच्चे मित्र सिद्ध हुए हैं। जैसे मित्र मित्र पर उपकार करता है, ऐसे ही ये हमारे लिए परमोपकारी बन गये हैं। ये सद्‌गुणों को, सत्य को, शिव को, सौन्दर्य को हमारे अन्दर उत्पन्न कर रहे हैं।

ये ज्ञान-रस अज्ञान से मिश्रित न होने के कारण निर्दोष, निर्मल, सन्देह एवं भ्रान्ति से रहित तथा यथार्थ हैं। ये शुभचिन्तन करानेवाले हैं, शुभ भावनाओं से अनुप्राणित करानेवाले हैं। ये 'स्वर्विद्' हैं, दिव्य अन्त:प्रकाश प्राप्त करानेवाले हैं।

आओ, इन ज्ञान-रसों को हम अपने आत्मा का स्थायी अङ्ग बना लें और ज्ञान के आदान-प्रदान की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए हम अपने ज्ञान-प्रवाह को दूसरों के अन्दर बहाते रहें। कवि भर्तृहरि ने ठीक कहा है—'विद्याधन को न चोर चुरा सकता है, न राजा छीन सकता है, न भाई-बन्धु बाँट सकते हैं। यह ऐसा अद्भुत धन है कि व्यय करने पर भी नित्य बढ़ता चलता है[१]।' ''विद्या मनुष्य का उज्ज्वल रूप है, प्रच्छन्न-गुप्त धन है। विद्या सम्पत्ति का भोग करानेवाली है, यश और सुख उत्पन्न करनेवाली है। विद्या गुरुओं की गुरु है। विद्या विदेश जाने पर बन्धु-जन का काम करती है। विद्या परम देवी है। राजाओं में विद्या की पूजा होती है, धन की नहीं। विद्या-विहीन मनुष्य पशु होता है।''[२]

---

१. न चोरहार्यं न च राजहार्यं, न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि। व्यये कृते वर्धत एव नित्यं, विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्॥ —नीतिशतक

२. विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं, विद्या भोगकरी यश:सुखकरी विद्या गुरूणां गुरु:। विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता, विद्या राजसु पूज्यते न तु धनं विद्याविहीन: पशु:॥ —वही

१५९. प्रगति कर, जागरूक हो

प्र धन्वा सोम जागृविरिन्द्रायेन्दो परि स्रव।
द्युमन्तं शुष्ममा भरा स्वर्विदम्॥

—ऋ० ९.१०६.४

ऋषिः—चक्षुः मानवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—उष्णिक्॥

(**प्र धन्व**[1]) प्रगति कर (**सोम**) हे सौम्य जन! (**जागृविः**[2]) जागरूक [हो]। (**इन्द्राय**) परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए (**इन्दो**) हे चन्द्रतुल्य मानव! (**परिस्रव**) प्रवाहित हो, समर्पित हो। (**द्युमन्तम्**[3]) तेजस्विता से युक्त (**शुष्मम्**[4]) बल (**आभर**) [अपने अन्दर] उत्पन्न कर, (**स्वर्विदम्**) जो सुख पहुँचानेवाला हो।

हे मानव! तू सोम बन, तू इन्द्र बन। 'सोम' चन्द्रमा का एक नाम है। चन्द्रमा सौम्य, शीतल और आह्लादक होता है, समुद्र-जल में ज्वार लाता है, ओषधि-वनस्पतियों की उत्पत्ति और वृद्धि करता है। तू भी सौम्य, शीतल आह्लादक एवं वृद्धि करनेवाला बन। 'इन्दु' भी चन्द्रमा को कहते हैं, क्योंकि वह आर्द्रता लाता है (उन्दी क्लेदने)। तू भी मानसिक आर्द्रता अर्थात् भक्ति एवं दयालुता को जन-जन में उत्पन्न कर। सोम और इन्दु एक लता के भी नाम हैं, जिसका रस बुद्धि एवं वीरता को बढ़ाता है। उस लता के समान तू समाज में ज्ञान एवं वीरता को बढ़ानेवाला भी बन।

हे मानव! तू प्रगति कर। जिस स्तर पर खड़ा है, उसी स्तर पर सदा खड़े रहना तो उदासीनता का लक्षण है। तू क्रमशः उच्च-उच्च स्तरों पर पग रखता हुआ निर्धारित लक्ष्य पर पहुँच। ऐसा तू तभी कर सकेगा, जब जागरूक बनेगा। अतः अपने अन्दर जागृति ला। अपने आत्मा, मन प्राण और शरीर में तेजस्विता से युक्त बल पैदा कर। बल के साथ 'तेजस्विता से युक्त' विशेषण इस हेतु लगाया गया है कि बल उदासीन, निष्क्रिय, दुर्भावनाओं से विकृत, कान्तिहीन एवं फलोत्पादन में असमर्थ न होकर प्रखर और सशक्त हो। आत्मबल से तू जग में क्रान्ति ला सकता है। मनोबल से तू कठिन-से-कठिन कार्यों को सिद्ध कर सकता है। प्राणबल से तू अन्य जनों के साथ अपनी एकात्मता पैदा कर सकता है। शरीरबल से तू आर्तों की रक्षा कर सकता है। तू अपने अन्दर ऐसा बल उत्पन्न कर जो 'स्वर्विद्' हो, समाज, राष्ट्र और विश्व में आनन्द की सरिता बहा सके। इन्द्र प्रभु ही सब बलों का स्रोत है, अतः तू राजाधिराज इन्द्र के प्रति अपने भक्तिभाव को प्रवाहित कर। उसके प्रति परिस्रुत हो जा, द्रवित हो जा, समर्पित हो जा। उस प्रभु से तुझे अपार शक्ति प्राप्त होगी, जिससे तू जगत् की कायापलट कर सकेगा, जगत् को दिव्य बना सकेगा।

---

१. धन्वति=गत्यर्थक, निघं० २.१४।
२. जागृ निद्राक्षये, अदादि, उणादि क्विन्=वि प्रत्यय।
३. द्योतते इति द्युः, निरु० १.६। मतुप् प्रत्यय।
४. शुष्म=बल, निघं० २.९। शुष्ममिति बलनाम, शोषयतीति सतः, निरु० २.२३।

१६०. तुमने सूर्य बनाया, बादल बनाये

अजीजनो हि पवमान सूर्यं विधारे शक्मना पयः।
गोजीरया रंहमाणः पुरंध्या॥ —ऋ० ९.११०.३

ऋषिः—त्र्यरुणः त्रैवृष्णः, त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः॥ **देवता**—पवमानः सोमः॥
छन्दः—पिपीलिकामध्या अनुष्टुप्॥

(**अजीजनः**[१]) उत्पन्न किया है (**हि**) निश्चय से (**पवमान**) हे पवित्रतादायक सोम प्रभु! तुमने (**सूर्यम्**) आध्यात्मिक तथा भौतिक सूर्य को, (**विधारे**[२]) विधारक अन्तरिक्ष में तथा विधारक आत्मा में (**शक्मना**[३]) सामर्थ्य से तुमने (**पयः**) रस को [उत्पन्न किया है]। तुम (**गो-जीरया**[४]) भूमि को तथा वाणी को गति देने के लिए (**रंहमाणः**[५]) क्रिया कर रहे हो (**पुरंध्या**) बहुत अधिक बुद्धि के साथ।

सच्चिदानन्दस्वरूप सोम प्रभु के कार्य बड़े ही महिमामय हैं। वह ब्रह्माण्ड की सब वस्तुओं का उत्पादक होने से सोम कहाता है और उन सब उत्पादित वस्तुओं को पवित्र करते रहने के कारण 'पवमान' नाम से भी पुकारा जाता है। यदि उसकी पवित्र करने की क्रिया निरन्तर प्रवृत्त न रहे, तो संसार की सब वस्तुएँ इतनी मलिन, अपवित्र और विषैली हो जाएँ कि समस्त प्राणियों के लिए विपत्ति आ खड़ी हो। वह प्रभु ही सूर्य, वायु, वृष्टि आदि के माध्यम से उत्पन्न वस्तुओं को सदा पवित्र करता रहता है और पवित्रता का माध्यम बननेवाले सूर्य, वायु, जल आदि में भी पवित्रता लाता रहता है।

हे पवमान सोम परमेश्वर! तुम्हारी एक अनोखी महिमा यह है कि तुमने 'सूर्य' को उत्पन्न किया है। अनगिनत सूर्यों को तुमने गगन में चमकाया है और उन सब की अधीनता में रहनेवाले अनेक सौरमण्डल भी बनाये हैं। ये सूर्य अपने-अपने सौरमण्डलों का संचालक कर रहे हैं। तुमने बाहर ही नहीं, किन्तु हमारे अन्दर भी आध्यात्मिक सूर्य को चमकाया है, जिससे हमारे आत्मा के सम्मुख प्रकाश ही प्रकाश हो गया है। तुम्हारी दूसरी विशेषता यह है कि तुम विधारक अन्तरिक्ष में अपनी शक्ति से मेघ-जल का संचय करते हो और फिर उसे संतप्त भूमि पर बरसा देते हो। आकाश में जल के संचित होने तथा उसके बरसने की कैसी अद्भुत प्रक्रिया है! बाहर के समान तुम हमारे आत्मा में भी आनन्दरस को संचित करते हो।

तुम्हारी तीसरी विशेषता यह है कि भूमि को अपनी धुरी पर तथा अण्डाकृति मार्ग पर सूर्य के चारों ओर गति देने के लिए निरन्तर क्रियाशील हो रहे हो। भूमि के घूमने के कारण दिन-रात्रि का तथा ऋतुओं का चक्रप्रवर्तन अनायास होता रहता है, यह क्या कम अचरज की बात है! इसीप्रकार शरीर में मुख से वाणी का उच्चारण कराने के लिए तुमने जो उत्तम व्यवस्था की हुई है, वह भी अनोखी है।

हे परमेश! यों तो तुम्हारी अनगिनत विशेषताएँ हैं, जिन पर हम मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते, पर उक्त मन्त्र में परिगणित विशेषताओं से ही हम तुम्हारे प्रति बार-बार नतमस्तक हो रहे हैं।

---

१. जनी प्रादुर्भावे, दिवादि, णिच्, लुङ्।
२. विधारे विधारके अन्तरिक्षे —सायण।
३. शक्लृ शक्तौ, स्वादिः, मनिन् प्रत्यय।
४. जीरा गतिः। जु गतौ, 'जोरी च' उ० २.४४ से रक् प्रत्यय धातु के उ को ई। गवां जीरा गोजीरा तया गोजीरया।
५. रहि गतौ, भ्वादिः, शानच्।

१६१. अपनी-अपनी रुचि के व्यवसाय

नानानं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम्।
तक्षा रिष्टं रुतं भिषग् ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥

—ऋ० ९.११२.१

ऋषिः—शिशुः आङ्गिरसः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥

(**नानानम्**[1]) नाना प्रकार के [हैं] (**वै उ**) निश्चय ही (**नः**) हम लोगों के (**धियः**) प्रज्ञान, और (**वि**[2]) नाना प्रकार के हैं (**व्रतानि**) कर्म, व्यवसाय (**जनानाम्**) हम लोगों के। (**तक्षा**) बढ़ई (**रिष्टम्**[3]) टूटे-फूटे सामान को, (**भिषग्**) चिकित्सक (**रुतम्**[4]) रोग-पीड़ित को और (**ब्रह्मा**) ब्रह्मा (**सुन्वन्तम्**) यज्ञार्थ सोमादि ओषधियों का रस निकालनेवाले यजमान को (**इच्छति**) चाहता है। (**इन्दो**) हे सोम! (**इन्द्राय**) मुझ आत्मा के लिए (**परिस्रव**) झरो, प्रवाहित होवो।

विभिन्न मनुष्य अपनी रुचि और अपने ग्रहण-सामर्थ्य के अनुसार विभिन्न विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं और जो विद्या सीखी होती है उसी का व्यवसाय वे करने लगते हैं। इसप्रकार भिन्न-भिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न ज्ञान और कर्म देखने में आते हैं। जिसने बढ़ई की विद्या सीखी है, वह चाहता है कि लोग टूटा-फूटा सामान सुधार के लिए उसके पास लायें और वह उसे ठीक कर दे। जिसने चिकित्सा का विज्ञान प्राप्त किया है, वह चाहता है कि रोगार्त लोग उसके पास आयें और वह उनकी चिकित्सा करके उन्हें स्वस्थ कर दे। जिसने यज्ञ का ब्रह्मा बनने की शिक्षा ली है, वह चाहता है कि यज्ञार्थ सोमादि ओषधियों का रस निकालनेवाले यजमान लोग उसे अपने यज्ञ का ब्रह्मा बनायें। वेदमन्त्र में पढ़ी गयी इस सूची को और अधिक लम्बा किया जा सकता है। जिसने आचार्यकुल में विद्याध्ययन के समय अपने अन्दर शिक्षणकला का विकास किया होता है, वह चाहता है कि लोग अपने बच्चों को उसके पास पढ़ने भेजें। जिसे आचार्य ने गुणकर्मानुसार क्षत्रिय वर्ण प्रदान किया होता है, वह चाहता है कि राष्ट्र की रक्षा का भार उसे सौंपा जाए। जिसे आचार्य ने वैश्य का वर्ण दिया होता है, वह चाहता है कि उसे कृषि, पशुरक्षा और व्यापार का अवसर मिले। जो कुछ भी पढ़ने में असमर्थ होने के कारण शूद्र वर्ण को प्राप्त हुआ होता है, वह चाहता है कि द्विज लोग उसे सेवा का अवसर दें। जिसने विधिपूर्वक संन्यास की दीक्षा ली होती है, वह चाहता है कि उसे लोग उपदेशप्रदानार्थ निमन्त्रित करें। इसप्रकार जिसने जिस-जिस विद्या या कला में प्रवीणता प्राप्त की होती है, वह उस-उस विद्या या कला का व्यवसाय करने का प्रयास करता है।

हे इन्दु! हे रसागार सोम प्रभु! मेरी रुचि तुम्हारा रस पाने में है, इसलिए मेरे लिए तुम अपने ज्ञान-रस, कर्म-रस, वीरता-रस, आनन्द-रस आदि को परिस्रुत करो, अपने अन्दर से प्रपात के समान झराओ। मैं इन रसों को तुमसे प्राप्त करके दूसरे सत्पात्र लोगों को बाँटूँगा। मैं तुम्हारे रसों का प्यासा हूँ, मुझे रसपान कराओ।

---

१. नानानम् अव्यय, नानाविध अर्थ में।
२. वि=विविधानि।
३. रिष हिंसायाम्, भ्वादि, क्त प्रत्यय।
४. रु शब्दे, क्त प्रत्यय। रुतं रोगार्तम्। अथवा रु शब्दे, क्विप् प्रत्यय, तुक् का आगम, रुत्, तं रुतम्। रौति शब्दायते रोगार्तः सन् यः स रुत्, तम्।

१६२. ज्योति और आनन्द का अमृत लोक

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव॥

—ऋ० ९.११३.७

ऋषिः—कश्यपः मारीचः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥

(यत्र) जहाँ **(अजस्रम्)** अजस्र **(ज्योतिः)** ज्योति है, **(यस्मिन् लोके)** जिस लोक में **(स्वः)** आनन्द **(हितम्)** निहित है, **(तस्मिन्)** उस **(अक्षिते)** अक्षय **(अमृते लोके)** अमृत लोक में **(माम्)** मुझे **(धेहि)** रखो, **(पवमान)** हे पवित्रतादायक सोम प्रभु!। **(इन्द्राय)** आत्मा के लिए **(इन्दो)** हे रस से आर्द्र करनेवाले सोम प्रभु! **(परिस्रव)** परिस्रुत होवो, बहो।

मैंने बड़े-बड़े दार्शनिकों से तथा सन्त-महात्माओं से मुक्तिलोक की महिमा सुनी है। वेद भी कह रहा है—वहाँ ज्योति ही ज्योति है और आनन्द ही आनन्द है। उस अजस्र ज्योति में तमस् की रेखा भी नहीं मिलती, उस आनन्द के सागर में दुःख की एक बूँद भी दृष्टिगोचर नहीं होती। शास्त्रकारों ने उस मुक्ति के चार साधन बताये हैं—विवेक, वैराग्य, षट्क सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व। पृथिवी से लेकर परमेश्वरपर्यन्त पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभाव जानकर परमेश्वर के आज्ञापालन में और उसकी उपासना में तत्पर होना तथा सृष्टि से यथायोग्य उपकार लेना विवेक कहाता है। विषयों में दोषदर्शन होकर उनमें राग का हट जाना वैराग्य है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान ये छह मिलकर षट्क-सम्पत्ति कहाती है। अपने आत्मा और अन्तःकरण को अधर्माचरण से हटाकर धर्माचरण में सदा प्रवृत्त रखना शम है। श्रोत्रादि इन्द्रियों और शरीर को बुरे कर्मों से हटाकर जितेन्द्रियत्वादि शुभ कर्मों में प्रवृत्त रखना दम है। दुष्ट कर्म करनेवालों से सदा दूर रहना उपरति है। चाहे निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ कितना ही क्यों न हो, परन्तु हर्ष-शोक को छोड़ मुक्तिसाधनों में सदा लगे रहना तितिक्षा है। वेदादि सत्य-शास्त्रों और इनके बोध से पूर्ण विद्वान्, सत्योपदेष्टा महाशयों के वचनों पर विश्वास करना श्रद्धा है। चित्त की एकाग्रता समाधान है। चौथे साधन मुमुक्षुत्व का आशय यह है कि जैसे क्षुधातृषातुर को सिवाय अन्न, जल के दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता, वैसे बिना मुक्ति के साधनों और मुक्ति के दूसरे में प्रीति न होना। श्रवण, मनन, निदिध्यासन साक्षात्कार ये श्रवणचतुष्टय तथा मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा वृत्तियाँ भी मुक्ति में सहायक होती हैं। अन्य भी सब प्रकार के शुभ कर्म मुक्ति में कारण होते हैं। कर्मफल में आसक्ति न रखकर लोकहितार्थ जो सत्कर्म किये जाते हैं, उनका सत्फल न मिलने पर भी कर्त्ता दुःख से लिप्त नहीं होता। जब मनसहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ परमेश्वर में स्थिर होकर उसी में सदा रमण करती रहती हैं और जब बुद्धि भी ज्ञान से विरुद्ध चेष्टा नहीं करती, उसी को परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं। जीवन्मुक्त मनुष्य देहत्याग के अनन्तर विदेह मुक्ति को पाता है। मोक्षपद कहीं स्थान विशेष में नहीं है। ब्रह्म जो सर्वत्र व्याप रहा है, वही मोक्षपद कहाता है। मुक्त मनुष्य का आना-जाना सब लोक-लोकान्तरों में हो सकता है। वह पूर्णकाम होता हुआ, ब्रह्म में विचरता हुआ ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है और मुक्ति की सुदीर्घ अवधि परान्तकाल के पश्चात् पुनः संचित कर्मों के अनुसार संसार में जन्म लेता है।

हे पवमान सोम प्रभु! तुम उसी अमृत, अक्षय (चिरस्थायी) मुक्ति-लोक का अधिकारी मुझे बनाओ। हे इन्द्र! तुम मुझ आत्मा के लिए परिस्रुत होवो, अपनी आनन्द-सरिता बहाओ।

१६३. अभयतम मार्ग से ले जानेवाला

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन्॥

—ऋ० १०.१७.५

ऋषिः—देवश्रवाः यामायनः। देवता—पूषा। छन्दः—त्रिष्टुप्।

(**पूषा**) पोषक परमेश्वर (**इमाः सर्वाः आशाः**[१]) इन सब मेरी आशाओं को तथा दिशाओं को (**अनु वेद**) अनुक्रम से जानता है। (**सः**) वह (**अस्मान्**) हमें (**अभयतमेन**) सर्वाधिक निर्भय मार्ग से (**नेषन्**[२]) ले चले। (**स्वस्तिदाः**) स्वस्ति देनेवाला, (**आघृणिः**[३]) अति तेजस्वी, (**सर्ववीरः**) सब वीरोंवाला वह (**अप्रयुच्छन्**[४]) प्रमाद न करता हुआ (**पुरः एतु**) आगे-आगे चले (**प्रजानन्**) जानता हुआ।

पुष्टि भौतिक भी होती है और नैतिक भी। शिशु उत्पन्न होता है, तब माँ अपना दूध पिलाकर उसके शरीर की पुष्टि करती है। फिर उसे खेल-खिलौने तथा उसके योग्य अन्य सामान देकर सामान से उसकी पुष्टि करती है। फिर जब कुछ बड़ा होता है, तब नैतिक शिक्षाएँ देकर उसकी पुष्टि करती है। इसीप्रकार पोषक परमेश्वर भी हमारी शरीर से, धन से तथा नैतिक शिक्षाओं से पुष्टि कर रहा है, इसकारण वह 'पूषा' कहलाता है। हमारे मन में जो भी महत्त्वाकांक्षाएँ, आशाएँ या सदिच्छाएँ होती हैं उन्हें, तथा किन दिशाओं में हम आगे बढ़ना चाहते हैं इस बात को वह तुरन्त जान लेता है। उसे आत्मसमर्पण करके उसका मार्गदर्शन यदि हम प्राप्त करें, तो वह ऐसे सुगम तथा छोटे मार्ग से हमें ले जा सकता है, जो न कण्टकाकीर्ण है और न ही जिसमें किसी प्रकार का भय है।

पूषा प्रभु 'स्वस्तिदा' हैं, शरणागत का सदा कल्याण ही करते हैं। वे 'आघृणि' हैं, आगत दीप्तिवाले हैं, परम तेजस्वी हैं। पूषा प्रभु की झाँकी लेनी हो, तो 'पूषा' सूर्य की ओर देखो। सूर्य के तेज से आँखें चौंधिया जाती हैं, परन्तु कैसा उपकारक है सूर्य का तेज! जैसे पूषा सूर्य का तेज ग्रह-उपग्रहों को प्रकाशित करता है, ऐसे ही पूषा प्रभु का तेज भक्तों के आत्मा को प्रकाश देता है। पूषा सूर्य 'सर्ववीर' है, क्योंकि उसकी सब रश्मियाँ वीर होती है। 'वीर' (वि-ईर) का योगार्थ है 'विशेष रूप से कंपित करनेवाला'।[५] सूर्यरश्मियाँ अन्धकार को प्रकम्पित करने के कारण वीर होती हैं। पूषा प्रभु के सब शरणागत भक्त वीर अर्थात् तामसिकता को प्रकम्पित करनेवाले होते हैं, इस कारण वे सर्ववीर कहलाते हैं।

हे पूषा प्रभु, तुम हमें हमारी महत्त्वाकांक्षाओं और आशाओं के अनुरूप हमारा पथप्रदर्शन करो, हमें अभयतम मार्ग से ले जाकर लक्ष्य पर पहुँचा दो। हे कल्याणमय, हमें कल्याण प्रदान करो। हे तेजःपुंज, हमें तेज दो। हे सर्वात्मना वीर, हमें वीरता दो। हे हमारे सब गुण-दोषों को जाननेहारे, जैसे सूर्य बिना प्रमाद किये नित्य समय पर उदित होकर हमारा मार्गदर्शक बनता है, वैसे ही तुम भी सदा हमारे मार्गदर्शक बनकर हमारा नेतृत्व करते रहो। हम तुम्हें प्रणाम करते हैं।

---

१. आशा=दिशा, निघं० १.६। आशा दिशो भवन्ति, आसदनात्, निरु० ६.१।
२. णीञ् प्रापणे, लेट् लकार।
३. आघृणिः आगतहृणिः—निरु० ४.९। आ-घृ क्षरणदीप्त्योः, नि प्रत्यय, उणादि ४,५३।
४. युछ प्रमादे, भ्वादि।
५. वि-ईर गतौ कम्पने च, अदादि। वीरो वीरयत्यमित्रान्, वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः, वीरयतेर्वा—निरु० १.६।

१६४. इन्द्र और विमद ऋषि की मित्रताएँ

मार्किर्न एना सख्या वि यौषुस्तव चेन्द्र विमदस्य च ऋषेः।
विद्मा हि ते प्रमतिं देव जामिवदस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि॥

—ऋ० १०.२३.७

ऋषिः–ऐन्द्रः विमदः प्राजापत्यो वा, वासुक्रः वसुकृद् वा। **देवता**–इन्द्रः। छन्दः–त्रिष्टुप्।

(माकिः न) कोई भी नहीं **(एना सख्या**[१]**)** इन मित्रताओं को **(वियौषुः**[२]**)** अलग कर सकें, **(तव च)** तेरी, और **(इन्द्र)** है इन्द्र परमेश्वर, **(विमदस्य च ऋषेः)** विमद ऋषि की। **(विद्म हि)** जानते हैं [हम] **(ते प्रमतिम्)** तेरी प्रकृष्ट मति को **(देव)** हे देव, **(जामिवत्)** बहिन के समान। **(अस्मे)** हमारे लिए **(ते सख्या**[४]**)** तेरी मित्रताएँ **(सन्तु)** होवें **(शिवानि)** शिव।

प्रत्येक मानव के अन्दर एक विमद ऋषि बैठा हुआ है। आत्मा ही विमद ऋषि है। ऋषि कहते हैं द्रष्टा को। आत्मा ज्ञान का द्रष्टा होने से ऋषि और विविध मदों या आनन्दों का ग्रहीता होने से विमद कहाता है। परन्तु ज्ञानों तथा आनन्दों का स्तर प्रत्येक आत्मा का भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक आत्मा को ज्ञान के साधन के रूप में मन और ज्ञानेन्द्रियाँ मिली हुई हैं। इनसे कोई निम्न स्तर का ज्ञान संगृहीत करता है, कोई मध्यम स्तर का और कोई उच्च स्तर का। उसी ज्ञान की अनुभूति से वह आनन्दित होता है। आनन्द भी निम्न, मध्यम या उच्च स्तर के होते हैं। चोरी मदिरापान, हत्या आदि से जो आनन्द मिलता है, वह निम्न कोटि का है, क्योंकि इनसे स्वयं को भी तथा समाज को भी हानि पहुँचती है। दूसरे की निन्दा करने, अदृश्य दर्शन करने आदि के व्यसन से जो आनन्द मिलता है, वह मध्य कोटि का है, क्योंकि उससे मुख्यतः स्वयं को हानि पहुँचती है। दीन-दुःखियों की सेवा, राष्ट्रभक्ति, प्रभुभक्ति आदि में जो आनन्द आता है, वह उत्कृष्ट कोटि का है, क्योंकि उससे स्वयं को भी तथा समाज को भी लाभ पहुँचता है। हम कैसे ज्ञान और आनन्द में रुचि लेते हैं यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हमारी मित्रता किन लोगों के साथ है। निम्न वर्ग, मध्यवर्ग या उच्चवर्ग के लोगों से सङ्गति होने पर हम क्रमशः निम्न, मध्यम या उच्च ज्ञान तथा आनन्द में रस लेते हैं। गुरुजन, सन्त-महात्मा, विरक्त साधु-संन्यासी, धार्मिक राज्याधिकारी आदि श्रेष्ठ जनों से मैत्री होने से मनुष्य श्रेष्ठ ज्ञान एवं आनन्द में रुचि लेता है। श्रेष्ठों में भी श्रेष्ठ तो इन्द्र जगदीश्वर हैं। श्रेष्ठजनों से मैत्री के साथ-साथ यदि जगदीश्वर से भी हम मैत्री जोड़ें, तो हम उत्कृष्ट 'विमद ऋषि' बन सकते हैं। तब हमारे ज्ञानों और आनन्दों का स्तर अत्यधिक उन्नत हो सकता है।

हे इन्द्र जगदीश्वर! ऐसी कृपा करो कि तुम्हारी और हम विमद ऋषियों की मित्रता को कोई भी तोड़ने न पावे। तुम्हारी मित्रता से हमें तुम्हारी प्रमति प्राप्त होगी, जिससे हमारा उद्धार ही हो जाएगा। हम कुमार्ग पर इसी कारण चलते हैं कि हमारे पास प्रमति (प्रकृष्ट मति) नहीं होती। हे देव! तुमसे प्राप्त प्रमति को हम बहिन के समान उपकारक समझते हैं। हे करुणेश! तुम्हारी मित्रताएँ हमारे लिए सदा 'शिव' बनी रहें। मैत्रियाँ शिव तभी हो सकती हैं, जब दोनों ओर से मित्रता का हाथ बढ़े। हे प्रभु! तुम हमारे हो जाओ, हम तुम्हारे हो जाएँ, दोनों मिलकर 'सत्यं शिवं, सुन्दरम्' की आराधना करें।

---

१. एना सख्या=एनानि सख्यानि।
२. वि-यु मिश्रणेऽमिश्रणे च, लुङ्।
३. जामये भगिन्यै। जामिः अन्येऽस्यां जनयन्ति जाम् अपत्यम्—निरु० ३.६।
४. सख्या=सख्यानि।

१६५. प्राणायाम से इन्द्रिय-दोषों की चिकित्सा

विश्वे॑ दे॒वा अ॑कृपन्त समी॒च्योर्नि॒ष्पत॑न्त्योः। नास॑त्यावब्रुवन्दे॒वाः पुन॒रा व॑हता॒दिति॑॥

—ऋ० १०.२४.५

ऋषिः–विमदः ऐन्द्रः, प्राजापत्यो वा, वसुकृद् वासुक्रो वा। **देवता**–अश्विनौ। **छन्दः**–अनुष्टुप्।

(विश्वे देवाः) सब इन्द्रियाँ **(अकृपन्त[१])** समर्थ हो जाती हैं **(समीच्योः[२])** परस्पर मिली हुई प्राण-अपान की क्रियाओं के **(निष्पतन्त्योः[३])** प्रवृत्त होने पर। **(नासत्यौ)** नासिका-मार्ग से जाने-आनेवाले प्राणापानों को **(देवाः)** इन्द्रियाँ **(अब्रुवन्)** कहती हैं **(इति)** यह कि **(पुनः)** फिर **(आवहतात्[४])** यह क्रम चले।

वैदिक एवं वैदिकोत्तर संस्कृत साहित्य में 'अश्विनौ' देववैद्य कहलाते हैं। देवों का एक अर्थ इन्द्रियाँ भी होता है, क्योंकि इन्द्रियाँ विषयों में क्रीडा करती हैं।[५] देवों का अर्थ इन्द्रियाँ लें, तो ये देववैद्य 'अश्विनौ' प्राणापान हैं, क्योंकि प्राणायाम से इन्द्रिय-दोषों की चिकित्सा होती है। 'अश्विनौ' को वेद में 'नासत्यौ' भी कहा गया है, जिसका एक अभिप्राय यास्कीय निरुक्त में यह लिया गया है कि ये नासिका में उत्पन्न होते हैं,[६] अर्थात् नासिका-मार्ग से शरीर में आते-जाते हैं। जो देहस्थ वायु श्वास द्वारा नासिका से बाहर जाता है वह प्राण कहाता है, और जो बाहर के वायुमण्डल से नासिका द्वारा फेफड़ों में आता है उसे अपान कहते हैं।[७] इन प्राण-अपान को साधकर प्राणायाम किया जाता है, जिससे इन्द्रियों के दोष दूर होते हैं। मनु ने कहा है—''जैसे धौंकनी द्वारा अग्नि में तपायी जाती हुई धातुओं के मल जल जाते हैं, वैसे ही प्राण का निग्रह करने से इन्द्रियों के दोष दग्ध हो जाते हैं।''[८]

सिद्धासन या पद्मासन लगा कर बैठ जाइए। धीरे-धीरे श्वास को अन्दर भरिए। इसका नाम 'पूरक' है। श्वास को अन्दर जितना आसानी से रोक सकें उतना रोकिए। यह 'कुम्भक' कहाता है। फिर श्वास को शनैःशनैः बाहर छोड़िए। इसे 'रेचक' कहते हैं। जब श्वास बाहर छोड़ना आरम्भ करें, तब गुदा-मूल ऊपर की ओर खींचिए और पेट पिचकाते चलिए। साधारणतः पूरक-कुम्भक-रेचक में काल का अनुपात १:४:२ होता है। पूरक-कुम्भक-रेचक की इस क्रिया को तीन बार से आरम्भ करके शनैःशनैः पचास की संख्या तक बढ़ाया जा सकता है। प्राणायाम करते हुए शरीर और मन पर किसी प्रकार का तनाव या बोझ न पड़े, स्वाभाविक स्थिति रहनी चाहिए।

मन्त्र में कहा है कि जब प्राणायाम की क्रिया समस्वरता या समन्वय के साथ की जाती है, तब सब इन्द्रिय-रूप देव समर्थ एवं बलवान् हो जाते हैं। वे मानो नासिका-मार्ग से जाने-आनेवाले प्राण-अपान को कहते हैं कि इस क्रम को पुनः पुनः चलाओ, अर्थात् प्राणायाम की संख्या को बढ़ाओ।

आइए, हम भी देव-वैद्य प्राण-अपान-रूप अश्वीयुगल से अपनी चिकित्सा करवाकर ऐन्द्रियिक एवं मानसिक स्वास्थ्य का लाभ करें।

---

१. कृपू सामर्थ्ये, भ्वादि।
२. सङ्गते भूत्वा अञ्चतः ये ते समीच्यौ, तयोः। सम्-अञ्चु गतौ।
३. निस्-पत्लृ गतौ, शतृ, स्त्रीलिंग, सप्तमी द्विवचन। ४. आ-वह प्रापणे, लोट्।
५. दीव्यन्ति क्रीडन्ति स्वस्वविषयेषु इति देवाः इन्द्रियाणि। दिवु क्रीडादिषु।
६. नासत्यौ...नासिकाप्रभवौ बभूवतुरिति वा—निरु० ६.१३।
७. प्राण=भीतर से वायु को निकालना, अपान=बाहर से वायु को भीतर लेना। स० प्र० समु० ३, यु० मी० संस्करण पृ० १००।

१६६. वह चाँद के समान आह्लादवर्षक है

स वेद सुष्टुतीनामिन्दुर्न पूषा वृषा।
अभि प्सुरः प्रुषायति व्रजं न आ प्रुषायति॥

—ऋ० १०.२६.३

ऋषिः—विमदः ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा, वसुकृद् वा वासुक्रः॥ **देवता**—पूषा॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥

(**सः**) वह पूषा प्रभु (**वेद**) जानता है (**सुष्टुतीनाम्**) उत्कृष्ट स्तुतियों को। (**इन्दुः न**) चन्द्रमा के समान (**पूषा**) पोषक परमेश्वर (**वृषा**) वर्षा करनेवाला है। (**प्सुरः**[1]) रूपवाला वह (**अभि प्रुषायति**[2]) अभिमुख होकर सींचता है। (**नः व्रजम्**) हमारे इन्द्रियरूप गौओं के गोष्ठ को (**आ प्रुषायति**) चारों ओर से सींच देता है।

क्या तुम प्रभु की स्तुति करते-करते थक चुके हो और कहते हो कि उसके बहरे कानों में हमारी स्तुति पड़ती ही नहीं है? क्या स्तुति की असफलता देखकर तुम्हें प्रभु के प्रति अनास्था होने लगी है? पर तुम यह क्यों नहीं सोचते कि तुम्हारी स्तुति में ही कोई दोष है। यदि तुम्हारी स्तुति 'सु-स्तुति' होती तो परमेश्वर उसे अवश्य जानता, उसे स्वीकारता, उसका मूल्याङ्कन करता और उसके प्रतिफल-स्वरूप तुम्हें वह निहाल कर देता। 'सु-स्तुति' वह कहलाती है, जिसे करते हुए स्तोता प्रभु के वास्तविक गुण-कर्म-स्वभाव का चिन्तन यह समझकर करता है कि इन गुण-कर्म-स्वभावों में से जो मेरे ग्रहण करने योग्य हैं, उन्हें मैं ग्रहण करूँ। जैसे, प्रभु न्यायकारी है, तो मैं भी आज से न्याय का व्रत लेता हूँ। प्रभु दीनों का सहायक है, तो मैं भी आज से दीनों की सहायता करना आरम्भ करता हूँ। प्रभु धर्मात्माओं का प्रेमी है, तो मैं भी धर्मात्माओं से प्रेम करना सीखता हूँ। तुम्हारी स्तुति कोरी खुशामद रही होगी, तभी प्रभु ने उस ओर ध्यान नहीं दिया।

प्रभु की तुम सच्ची स्तुति करोगे तो वह ऐसे ही तुम्हारे ऊपर आनन्द की वृष्टि करेगा, जैसे चाँद आह्लाददायक चाँदनी की वृष्टि करता है। प्रभु रूपवान् है। यद्यपि अशरीरी होने से शरीरधारी के समान उसका काला, गोरा आदि रूप नहीं है, तो भी भक्त के सम्मुख वह माता, पिता, बन्धु, सहायक, मित्र आदि अनेक रूपों में प्रकट होता है, अतः वह रूपवान् कहलाता है। हमारे माता, पिता, स्वामी आदि सांसारिक सहायक हमें धन-दौलत से सींचते हैं, खाद्य-पेय पदार्थों से सींचते हैं, आशीर्वादों से सींचते हैं, ऐसे ही वह प्रभु अपने स्तोता भक्त को परम आनन्द-रस की धार से सींच देता है। वह स्तोता के इन्द्रिय-रूप गौओं के व्रज को शक्ति से सींच देता है। सुस्तुति करनेवाले प्रभुभक्त की आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि सब गौएँ शक्ति से संसिक्त, पुलकित, परिपुष्ट हो जाती हैं।

अतः आओ, हम भी प्रभु की सुस्तुति करके प्रभु की आह्लादक चाँदनी में, प्रभु की अमृतवर्षा में, प्रभु की शक्तिवर्षा में स्नान करने का सौभाग्य प्राप्त करें।

---

१. प्सु=रूप, निघ० ३.७, मतुप् अर्थ में र प्रत्यय। प्सुरः=रूपवान्।
२. प्रुष स्नेहसेचनपूरणेषु, क्र्यादि, प्रुष्णाति। वेद में श्ना को शायच् आदेश होने पर प्रुषायति।

१६७. अजों से जुतनेवाला रथ

आ ते रथस्य पूषन्नजा धुरं ववृत्युः।
विश्वस्यार्थिनः सखा सनोजा अनपच्युतः॥

—ऋ० १०.२६.८

ऋषिः—ऐन्द्रः विमदः प्राजापत्यो वा, वासुक्रो वसुकृद् वा॥ **देवता**—पूषा॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥

(पूषन्) हे पूषा, **(ते रथस्य)** तेरे रथ के **(धुरम्)** धुरे को **(अजाः[1])** अज और अजा **(आ ववृत्युः[2])** आवहन करते हैं। तू **(विश्वस्य)** सब **(अर्थिनः)** याचकों का **(सखा)** सखा है। **(सनोजाः[3])** सदा से प्रसिद्ध है, **(अनपच्युतः)** अधिकार से च्युत न होनेवाला है।

पूषा देव के रथ के धुरे पर अज जुते हुए हैं। पर अज का अर्थ बकरे न समझ लेना। 'अ-ज' उन्हें कहते हैं, जिनका कभी जन्म नहीं होता, जो सदा से ही चले आ रहे हैं। 'अज' तीन प्रकार के हैं। एक परमात्मा अज है, जो रथ को चलाता है। दूसरे असंख्यों जीवात्मा अज हैं, जो शरीर-धारण की दृष्टि से तो जन्म लेते हैं, पर स्वरूप से अजन्मा हैं। तीसरी प्रकृति अजा है, जो जगत् की उपादान कारण है, जिसे सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था कहते हैं। पूषा सब जगत् को पुष्टि देनेवाला परमेश्वर है। यह समस्त ब्रह्माण्ड ही उसका रथ है। यह ब्रह्माण्ड कैसे चल रहा है? अज और अजा इसे चला रहे हैं। अजा प्रकृति से महत् तत्त्व उत्पन्न होता है, महत् से अहंकार, अहंकार से पंच तन्मात्राएँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तथा मन सहित दस इन्द्रियाँ, पंच तन्मात्राओं से पंचभूत उत्पन्न होते हैं। पंचभूत हैं आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी। इन पंचभूतों से समस्त जड़ जगत् बना है। पांचभौतिक पिण्डों में सूक्ष्म शरीर सहित आत्मा के प्रवेश से चेतनत्व आता है। जीवात्माएँ कर्मफलों के भोग के लिए तथा नवीन कर्म करने के लिए शरीर धारण करती हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्ड का यह सारा खेल अजा प्रकृति तथा अज जीवात्माओं से चल रहा है।

हे पूषा प्रभु, आपने हमें शरीर धारण कराया है तथा जगत् की रचना करके उपभोग्य सब वस्तुएँ प्रदान की हैं, इसके लिएं तो हम आपके ऋणी हैं ही, पर इसके अतिरिक्त एक विशेष बात यह है कि जब-जब हम भिक्षुक बनकर आपके पास आते हैं, तब-तब आप सखा बनकर हमारी कामनाओं को पूर्ण-करते हो। एक तो संसारी लोग हैं जो दाता होने का अभिमान मन में रखते हुए पैसा, दो-पैसा भिक्षुकों की झोली में डाला करते हैं, और दूसरे आप हो जो भिक्षुकों के सखा बनकर उन्हें सब कुछ दे डालते हो। हे मेरे प्रभु, आप अपने ऐसे अनोखे गुणों के कारण चिरन्तन काल से प्रसिद्धि प्राप्त किये हुए हो। आप 'अनपच्युत' हो, आपको विश्व ब्रह्माण्ड का स्वामी होने का जो अधिकार प्राप्त है, उससे आप कभी वञ्चित नहीं होते हो। हे सखा, हमारे साथ मैत्री का निर्वाह सदा करते रहो।

---

१. न जायन्ते इति अजाः। अजाः पुमांसः अजा स्त्री च, एकशेष। अजन्मानः जीवात्मानः अजन्मा प्रकृतिश्च।
२. आ-वृतु वर्तने, भ्वादि, णिच्। आ ववृत्युः=आवर्तयन्ति।
३. सनः सदा जायते प्रसिद्धो भवतीति सनोजाः।

१६८. कर्मयोग एवं अध्यात्म-योग की साधना

सं यद् वयं यवसादो जनानामहं यवाद उर्वज्रे अन्तः।
अत्रा युक्तोऽवसातारमिच्छादथो अयुक्तं युनजद् ववन्वान्॥ —ऋ० १०.२७.९

ऋषिः—वसुक्रः ऐन्द्रः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥

(**जनानाम्**) लोगों में (**यद् वयम्**) जो हम सब हैं, वे प्रायः (**यवसादः**[१]) घासभाक्षी पशु हैं। क्या कहते हो? (**अहम्**) मैं तो (**उरु-अज्रे**[२] **अन्तः**) विशाल गतिमय जगत् के अन्दर (**यवादः**[३]) यवभक्षी मनुष्य हूँ। पर तुम-जैसे भला कितने हैं (**अत्र**) यहाँ इस जगत् में? (**युक्तः**) कर्म-योग एवं अध्यात्म-योग में युक्त मनुष्य (**अवसातारम्**[४]) कष्टों के अन्तकर्त्ता परमेश्वर को (**इच्छात्**[५]) चाहे, (**अथो**) और (**अयुक्तम्**) जो योग-युक्त नहीं है, उसे (**युनजद्**[६]) योग-युक्त करे (**ववन्वान्**[७]) योग का फल सेवन करनेवाला मनुष्य।

कवि भर्तृहरि ने कहा है कि "जिनके पास न विद्या, न तप, न दान, न ज्ञान, न शील, न गुण, न धर्म है, वे मर्त्यलोक में भूमि पर भारभूत होकर मनुष्य के रूप में वस्तुतः पशु ही हैं"[८]। यह भी कहा है कि "साहित्य एवं सङ्गीत आदि कलाओं से विहीन मनुष्य साक्षात् पशु है, अन्तर इतना ही है कि उसके पूँछ और सींग नहीं है।"[९] प्रस्तुत वेदमन्त्र भी कह रहा है कि मनुष्यों में अधिकांश लोग घासभक्षी पशु ही हैं। यह सुनकर इस स्थापना को चुनौती देता हुआ सहसा कोई बोल उठता है—'मैं तो पशु नहीं हूँ, मैं तो यवाद अर्थात् यव खानेवाला मनुष्य हूँ'। पर भाई, तुम जैसे कितने लोग हैं, जो ताल ठोक कर कह सकें कि हम पशु नहीं, किन्तु मनन-चिन्तन करनेवाले मनुष्य हैं? बिरले ही लोग मनुष्य की श्रेणी में आते हैं। मनुष्य उन्हें कहते हैं जो सोच-विचार कर करणीय धर्म-कर्मों को ही करते हैं—**मनुष्याः कस्मात्? मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति (निरु० ३.७)**। कवि के शब्दों में पशुओं की अपेक्षा मनुष्यों में धर्म ही विशेष है, अतः जो धर्म से हीन मनुष्य हैं वे पशुओं के तुल्य हैं—**धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः**।

मनुष्य को चाहिए कि वह योगयुक्त हो। योग से कर्मयोग और अध्यात्मयोग दोनों गृहीत होते हैं। कर्मयोग से तात्पर्य है अपने-अपने वर्ण-आश्रम के अनुसार वेदविहित धर्म-कर्मों का अनुष्ठान करना। ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन आदि कर्मयोग को करे। क्षत्रिय राष्ट्र के रक्षण रूप कर्मयोग में प्रवृत्त हो। वैश्य कृषि, पशुपालन एवं व्यापार रूप कर्मयोग का पालन करे। शूद्र द्विजों की सेवा रूप कर्मयोग में तत्पर हो। अध्यात्म-योग से आशय है अष्टाङ्गयोग के अनुष्ठान द्वारा परमेश्वर की प्राप्ति। जो भी योगयुक्त अर्थात् कर्मयोग एवं अध्यात्म-योग में प्रवृत्त मनुष्य है, उसे चाहिए कि वह त्रिविध कष्टों का अन्त करा कर मोक्ष प्राप्त करानेवाले परमेश्वर का साक्षात्कार करने की इच्छा करे। इससे वह 'ववन्वान्' हो जाता है, अर्थात् उसे योग द्वारा ईश्वरसाक्षात्कार का दुःखमुक्ति-रूप फल प्राप्त हो जाता है। योगयुक्त का यह भी कर्त्तव्य है कि वह केवल अपना ही हित न देखे, अपितु जो योगयुक्त नहीं हैं, उन्हें योगयुक्त कराके उनका भी हितसाधन करे। इसप्रकार अधिक से अधिक लोग कर्मयोग एवं अध्यात्मयोग के पथिक बनकर जीवन्मुक्त होकर जगत् में अध्यात्म का वातावरण तैयार करें। यह कर्मयोग एवं अध्यात्मयोग मनुष्य को पशुता से हटाकर देव बनानेवाला है।

---

१. यवसं घासम् अत्ति भक्षयति इति यवसात्। प्रथमा-बहुवचन में यवसादः।
२. उरुः अज्रः उर्वज्रः। अज गतिक्षेपणयोः, भ्वादिः। ३. यवम् अत्तीति यवादः।
४. अव-षो अन्तकर्मणि, दिवादिः, तृच्। ५. इषु इच्छायाम् तुदादिः, लेट् लकार।
६. युजिर योगे, रुधादिः, लेट्।
७. वन संभक्तौ, लिट् को क्वसु=वस्, ववन्वस्। प्रथमा-एकवचन, ववन्वान्।
८. येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति। नीतिशतक
९. साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः। तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद् भागधेयं परमं पशूनाम्॥ वही

१६९. युद्ध से संसार संत्रस्त हो चुका है

वृक्षेवृक्षे नियता मीमयद् गौस्ततो वयः प्र पतान् पूरुषादः।
अथेदं विश्वं भुवनं भयात इन्द्राय सुन्वदृषये च शिक्षत्॥ —ऋ० १०.२७.२२

ऋषिः—वसुक्रः ऐन्द्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**वृक्षे-वृक्षे**[१]) प्रत्येक धनुष पर (**नियता**) चढ़ी हुई (**मीमयद्**[२]) टंकार कर रही है (**गौः**[३]) प्रत्यंचा। (**ततः**) उससे (**वयः**) बाण (**प्रपतान्**[५]) दूर जा रहे हैं (**पूरुषादः**[६]) पुरुषों को खा जानेवाले। (**अथ**) तदनन्तर (**इदं विश्वं भुवनम्**) यह सारा जगत् (**भयाते**) भयभीत हो रहा है, (**इन्द्राय**) इन्द्र के लिए (**सुन्वत्**) सोमरस अर्पित करता हुआ, (**ऋषये च**) और ऋषिजन के लिए (**शिक्षत्**[७]) दान करता हुआ।

भीषण रण का दृश्य उपस्थित है। असंख्यों धनुर्धर अपने-अपने धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाये खड़े हैं। शरसंधान होता है। टंकार शब्द के साथ प्रत्यंचा गूँज उठती है। विषैला बाण धनुष से छूटकर शत्रु योद्धा के देह में घुस जाता है। योद्धा धराशायी हो जाता है। दोनों ओर के दलों में न जाने कितने योद्धा इसप्रकार भूमि का आलिंगन कर चुके हैं। पर प्राणों की प्यास अब भी शान्त नहीं हुई है। धनुष ही क्या, बन्दूकों, तोपों, हथगोलों, टैंकों सभी का खुलकर प्रयोग हो रहा है। एक ही अणुबम में इतनी विध्वंसक शक्ति है कि सारे शत्रुराष्ट्र में विनाशलीला मचा सकता है। पर सारा राष्ट्र ही यदि कभी न टूटनेवाली गहरी नींद में सो जायेगा, तो शासन किस पर करोगे? क्या ईंट-पत्थरों और खण्डहरों पर?

अरे, इस भयङ्कर युद्ध ने तो संहार ही मचा दिया है। नरभक्षी शस्त्रास्त्र जमीन और आसमान में तैर रहे हैं। खून की होली हो रही है। अग्नि-काण्ड हो रहे हैं। गगनचुम्बी इमारतें अग्नि-ज्वालाओं में धू-धूकर जल रही हैं। घायल नर-नारी भूमि पर पड़े-पड़े कराह रहे हैं। अनगिनत शवों से भूमि पटी पड़ी है। यह देखकर सारा भुवन ही संत्रस्त हो उठा है। क्या आज धराधाम प्राणविहीन हो जायेगा?

जिसे देखो, वही इन्द्र भगवान् से मिन्नतें कर रहा है—बचाओ प्रभु, इस विध्वंस से हमारा त्राण करो। सुनते है, तुम विपदा हरनेवाले हो, हमारी विपदा क्यों नहीं हरते हो? क्यों नहीं रणेच्छुओं के मन में रण के प्रति विराग उपजाते हो? क्यों नहीं आपस में भाई-भाई जैसा प्रेम उत्पन्न करते हो? धरती मनुष्यों से रहित हो जायेगी, तो तुम्हारा नाम भी कौन लेगा? हे ऋषियो, तुम्हीं इस विनाशलीला को रोको। सुनते हैं, तुम दूरदर्शी हो, भविष्यद्रष्टा हो। तुम्हीं बन्दूकों के सामने छाती तानकर खड़े क्यों नहीं हो जाते? क्यों नहीं कहते—'पहले हमें मारो, फिर निर्दोष जनों को गोली से भूनना'?

यह लो, तोपों की गड़गड़ाहट रुक गयी है, युद्धविराम हो गया है। सन्धि के प्रस्ताव पर हस्ताक्षर हो रहे हैं। हे प्रभु! हे ऋषिजनो! तुमने सुन ली हमारी प्रार्थना। तुम्हें धन्यवाद है।

---

१. वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि। वृक्षो व्रश्चनात्। निरु० २.६ ओव्रश्चू=व्रश्च् छेदने।
२. मीमयतिः शब्दकर्मा। निरु० वही।
३. ज्यापि गौरुच्यते। निरु० वही।
४. विः इति शकुनिनाम, वेतेः गतिकर्मणः। अथापि इषु-नाम इह भवति एतस्मादेव। निरु० वही। विः-वी-वयः। वि शब्द का बहुवचन।
५. प्र-पत्लृ गतौ, भ्वादि, लेट्।
६. पूरुषान् पुरुषान् अदन्तीति पूरुषादः। 'पुरुषाः पूरुषा नरः' अमरकोष २.६.१।
७. शिक्षति=ददाति। निघं० ३.२०

१७०. हमें तो बस धिषणा दे दो

श्रेष्ठं नो अद्य सवितर्वरेण्यं भागमा सुव स हि रत्नधा असि।
रायो जनित्रीं धिषणामुप ब्रुवे स्वस्त्य१ग्निं समिधानमीमहे॥

—ऋ० १०.३५.७

ऋषिः—लुशः धानाकः॥ **देवता**—सविता अग्निश्च॥ **छन्दः**—जगती॥

(नः) हमें **(अद्य)** आज **(सवितः)** हे सविता प्रभु! **(श्रेष्ठम्)** श्रेष्ठ **(वरेण्यम्[१])** वरणीय **(भागम्)** भाग **(आ सुव)** प्रदान कर, **(सः)** वह तू **(हि)** क्योंकि **(रत्नधाः)** रत्नों का दाता **(असि)** है। **(रायः)** धन की **(जनित्रीम्)** उत्पादक **(धिषणाम्[२])** बुद्धि, वाणी एवं विद्या **(उप ब्रुवे)** माँगता हूँ। **(समिधानम् अग्निम्)** प्रदीप्त होते हुए अग्नि से **(स्वस्ति ईमहे[३])** [हम] कल्याण की याचना करते हैं।

हे सविता प्रभु! तुम सबको जन्म देनेवाले पिता हो, सबको शुभ प्रेरणा करनेवाले हो, सबके ईश्वर हो, तामसिकता की रात्रि में पड़े हुओं के सूर्य हो। हम तुम्हारे पुत्र-पुत्रियाँ हैं। पुत्र-पुत्रियों को पिता पैतृक सम्पत्ति में से उनका भाग देता ही है। क्या तुम हमें हमारा हिस्सा न दोगे? तुम यह भी नहीं कह सकते कि मेरे पास है ही क्या, जो मैं तुम्हें कुछ दूँ? तुम तो 'रत्नधाः' हो, रत्नों के भण्डार तुम्हारे पास भरे हुए हैं। पर हिस्सा दो तो ऐसा देना जो 'वरेण्य' हो, वरण करने योग्य हो, आतुरता से चाहने योग्य हो। क्या कहते हो? तुम स्वयं ही माँग लो,जो माँगोगे वही दे दूँगा। अच्छा, तुम सोचते होगे कि सस्ते में छूट जाऊँगा। ये सोना-चाँदी माँग लेंगे, हीरे-मोती माँग लेंगे, घी-दूध माँग लेंगे, अन्न-रस माँग लेंगे। पर नहीं, हमें यह कुछ नहीं चाहिए। धन कितना ही दे दोगे, एक दिन चुक जाएगा। हमारी तो 'धिषणा' की माँग है। धिषणा का एक अर्थ है बुद्धि। बुद्धि के बल से हम धन-दौलत भी पा लेंगे, प्रतिष्ठा भी पा लेंगे। उच्च पद भी पा लेंगे, विजय भी पा लेंगे। मुद्राराक्षस नाटक में चाणक्य ने कहा है, भले ही मेरे सब सहायक मुझे छोड़कर चले जाएँ, केवल बुद्धि न जाए—**'बुद्धिस्तु मा गान्मम'**। दूसरी धिषणा है वाणी। वेद की वाणी, शास्त्रों की वाणी, श्रेष्ठ गुरुजनों की वाणी, और हमारी वाक्शक्ति हमें मिली रहे, तो हम संसार पर प्रभुत्व पा सकते हैं। तीसरी धिषणा है विद्या। विद्वानों का ही संसार में आदर होता है, विद्वान् जन ही जीवन में सफल होते हैं। विभिन्न विद्याओं में यदि हम पारंगत हो जाते हैं, उन विद्याओं पर यदि हमारे उच्च कोटि के ग्रन्थ निकल जाते हैं, उन विद्याओं में यदि हम प्रामाणिक माने जाने लगते हैं, तो हम जगद्गुरु के नाम से विख्यात हो सकते हैं।

हम यज्ञवेदि में प्रदीप्त अग्नि से भी स्वस्ति की याचना करते हैं। अग्नि के समान प्रज्वलित हमारा जीवन हो। अग्नि की ज्वालाओं के समान हम ऊर्ध्वगामी हों। हे सविता! हे अग्नि! तुम हमें तेजस्वी और यशस्वी बना दो।

---

१. वृञ् वरणे, स्वादि। वृञ एण्यः उ० ३.९८ से एण्य प्रत्यय।
२. धिषणा=वाणी, निघ० १.११। धिषणा वाक् धिषेर्दधात्यर्थे। धीसादिनीति वा धीसानिनीति वा—निरु० ८.३। धिषणा=बुद्धि, 'बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः', अमरकोष १.५.१। धिषणा विद्या, सुशिक्षिता वाक् प्रज्ञा वा-द० भाष्य ऋ० १.१०२.७
३. ईमहे-याचामहे, निघं० ३.१९।

१७१. परमात्मा और जीवात्मा के युगल से दो बातें

**चोदयतं सूनृताः पिन्वतं धिय उत्पुरंधीरीरयतं तदुश्मसि।
यशसं भागं कृणुतं नो अश्विना सोमं न चारुं मघवत्सु नस्कृतम्॥**

—ऋ० १०.३९.२

ऋषिका—घोषा काक्षीवती॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—जगती॥

(चोदयतम्[१]) प्रेरित करो **(सूनृताः)** प्यारी सच्ची वाणियाँ। **(पिन्वतम्[२])** बरसाओ **(धियः)** बुद्धियाँ। **(उत् ईरयतम्)** ऊपर उठाओ **(पुरंधीः[३])** प्रचुर कर्मण्यताएँ। **(तद्)** यह **(उश्मसि[४])** हम चाहते हैं। **(यशसं-भागम्)** यशयुक्त धन **(कृणुतम्)** प्रदान करो **(नः)** हमारे लिए, **(अश्विना)** हे परस्पर मिले हुए परमात्मा और हमारे जीवात्मा। **(सोमं न)** चन्द्रमा के समान **(चारुम्)** सुन्दर जीवन **(कृतम्)** करो **(नः)** हमारे **(मघवत्सु)** धनवानों में।

यदि मनुष्यों को गुणवान्, धनवान् आदि बनाना अकेले परमेश्वर के हाथ में होता, तो वह सभी को वैसा बना देता। जीवात्मा के आगे परमेश्वर का वश नहीं चलता है, क्योंकि वह अपनी पसन्द बनाने में और कर्म करने में स्वतन्त्र है। फल भोगने में वह अवश्य परमात्मा के अधीन है। 'अश्विनौ' युगल देव हैं। इनके विभिन्न क्षेत्रों में बिभिन्न अर्थ वैदिक अनुसंधाताओं ने निश्चित किये हैं, यथा सूर्य-चन्द्रमा, द्यावा-पृथिवी, प्राण-अपान, स्त्री-पुरुष, राजा-सेनापति आदि। उनमें एक अर्थ परमेश्वर और जीवात्मा भी है। जीवात्मा परमेश्वर की सहायता प्राप्त करके अपने पुरुषार्थ द्वारा अभीष्ट वस्तुओं को उपलब्ध करता है। मन्त्र में इस युगल के सम्मुख मनुष्य अपनी कामनाएँ बता रहे हैं। हे परस्पर सखा बने हुए परमेश्वर एवं जीवात्मा! तुम हमारे जीवन में 'सूनृता' प्रेरित करो, हमारे व्यवहार में सत्य और ओजस्विनी मधुर वाणी की मिश्री घोलो। दूसरी बात हम तुमसे यह चाहते हैं कि हमारे ऊपर सद्बुद्धियाँ बरसाओ, क्योंकि बुद्धि के बिना मनुष्य अपङ्ग है। पैर न होने पर तो फिर भी मनुष्य दूसरों के कन्धों पर बैठ कर या रथ द्वारा चल-फिर सकता है। पर सद्बुद्धि के बिना चलेगा, तो उल्टा ही चलेगा। चलना चाहिए पूर्व को, तो चलेगा पश्चिम को। करनी चाहिए दीनदुःखियों की सहायता, करेगा उन पर अत्याचार। करना चाहिए धर्म-कर्म, करेगा अधर्म। करनी चाहिए माता-पिता एवं गुरुजनों की सेवा, करेगा उनका अपमान। करना चाहिए प्रभुकीर्तन, करेगा पापकीर्तन। तीसरी वस्तु हम तुमसे माँगते हैं प्रचुर कर्मण्यता, क्योंकि मनुष्य कर्मविहीन होगा तो सूनृता और धी से भी वह क्या प्रयोजन सिद्ध कर पायेगा? कर्मयोग ही मनुष्य का विस्तार करनेवाला है। संसार में जिन्होंने भी सफलता प्राप्त की है, कर्मयोग के बल से ही की है। चौथी वस्तु हम पाना चाहते हैं यशोमय धन। जिस धन से हमारी अपकीर्ति होती हो, ऐसा भ्रष्टाचार और चोरबाजारी से कमाया धन हमें नहीं चाहिए, अपितु उस उज्ज्वल धन के स्वामी हम बनना चाहते हैं, जो हमारे यश में चार चाँद लगानेवाला हो। पाँचवीं वस्तु हमें यह दो कि हमारे समाज के धनी लोगों का जीवन चन्द्रमा के समान सुन्दर हो। धन पाकर लोग भ्रष्ट मार्ग पर चल पड़ते हैं, ऐसा उन्हें देखकर कोई न कहे।

हे परमात्मन् और जीवात्मन्! तुमसे ही हम उक्त याचनाएँ करते हैं। तुम दोनों मिल जाओ, तो क्या नहीं कर सकते हो?

---

१. चुद संचोदने (प्रेरणे), चुरादि।
२. पिवि सेचने, भ्वादि।
३. पुरम्=पुरु=बहु। धीः=कर्म, निघं० २.१।
४. वश कान्तौ, कान्तिः इच्छा। उश्मसि=उश्मः। इदन्तो मसि पा० ७.१.४६

१७२. हम इन्द्र की डाल के पंछी हैं

वयो न वृक्षं सुपलाशमासदन्त्सोमास इन्द्रं मन्दिनश्चमूषदः।
प्रैषामनीकं शवसा दविद्युतद् विदत् स्वर्मनवे ज्योतिरार्यम्॥

—ऋ० १०.४३.४

ऋषिः—कृष्णः आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—जगती॥

(**वयः न**) पक्षी जैसे (**सुपलाशं वृक्षम्**) सुन्दर पत्तोंवाले वृक्ष पर [बैठे हों, ऐसे ही] (**आ असदन्**) आकर बैठे हुए हैं (**इन्द्रम्**) इन्द्र परमेश्वर के सहारे (**मन्दिनः**) आनन्दी (चमूषदः) समुदाय रूप में स्थित (**सोमासः**) भक्तजन। (**एषाम्**) इनका (**अनीकम्**) समुदाय (**शवसा**) बल से (**प्र दविद्युतत्**[1]) प्रद्योतित हो उठता है। इन्द्र प्रभु (**विदत्**[2]) प्राप्त कराता है (**मनवे**) मननशील मनुष्य के लिए (**स्वः**) दिव्य सुख और (**आर्यं ज्योतिः**) आर्य ज्योति।

एक ऊँचा वृक्ष हरे-भरे पत्तों से लहलहा रहा है। उसके ऊपर रंगबिरंगे समूहबद्ध पक्षी बैठे हुए विश्राम ले रहे हैं। कुछ पक्षी नीडों में अपने नन्हें-मुन्नों के ऊपर बैठे हुए छाया कर रहे हैं, कुछ डाल पर बैठे चहचहा रहे हैं, कुछ फुदक-फुदक कर एक शाख से दूसरी पर जा रहे हैं। वृक्ष सबका आश्रयदाता बना हुआ है। इसी प्रकार भक्तजन इन्द्र प्रभु को आधार बनाकर चहकते हैं, प्रमुदित होते हैं; श्रेणीबद्ध होकर; उसके गीत गाते हैं; उसे पूजाभावों के पुष्प अर्पित करते हैं; उसके आश्रय में बैठकर क्रीडा करते हैं; उसे दुलारते हैं; उसका प्यार पाते हैं; उस पर श्रद्धा का नैवेद्य चढ़ाते हैं; उससे प्रेरणाएँ पाते हैं; उससे साधुवाद, प्रोत्साहन और आशीष पाते हैं।

भक्तों का समुदाय इन्द्र प्रभु का आश्रय पाकर बल से विद्योतित हो उठता है। वह ऐसा अनुभव करता है, मानो साक्षात् बल का पुंज हो गया हूँ। उसका रोम-रोम बल से पुलकित हो जाता है। उसके देह का अणु-अणु बल से अनुप्राणित हो उठता है। उसके मन और आत्मा इन्द्रप्रदत्त बल के फब्बारे बन जाते हैं। इन्द्र प्रभु के बल से बली हुए उसके लिए कोई कार्य असाध्य नहीं रहता। वह यह जानता ही नहीं कि असाध्य किसे कहते हैं। कठिन से कठिन कार्य को भी वह सत्वर कर दिखाता है। इन्द्र प्रभु मनुष्य को 'स्वः' प्रदान करता है, दिव्य आनन्द की सरिता में स्नान कराता है। वह उसे 'आर्य ज्योति' प्राप्त करा देता है। 'आर्य-ज्योति' उस प्रकाश का नाम है, जहाँ उत्कर्ष ही उत्कर्ष है, जहाँ असीम ऊर्ध्वारोहण है, जिसे पाकर सब विघ्न-बाधाओं की चट्टानें समाप्त हो जाती हैं, जिसकी चकाचौंध से सब शत्रु निस्तेज हो जाते हैं, जहाँ अनवरत गतिशीलता है, जहाँ दिव्य अग्नि की ज्वाला लपलपा रही है, जहाँ सब पाप-ताप दग्ध हो जाते हैं।

हे इन्द्र प्रभु, हमने, पक्षियों के समान तुम्हें आवासवृक्ष बना लिया है। अपनी अभयदायिनी शरण प्रदान करते हुए हमें आनन्दित, संतृप्त, विकसित, बली, सम्पन्न और ज्योतिष्मान् बना दो।

---

१. द्युत दीप्तौ, यङ्लुगन्त, द्वित्व, अभ्यास को विक्=वि का आगम। शतृ। प्रदविद्युतत्, 'आस्ते' इति शेषः।
२. विद्लृ लाभे, णिज्गर्भ, लेट् लकार।

१७३. ऊपर उठे परशु ज्योति के साथ

उज्जायतां परशुर्ज्योतिषा सह भूया ऋतस्य सुदुघा पुराणवत्।
वि रोचतामरुषो भानुना शुचिः स्व१र्ण शुक्रं शुशुचीत सत्पतिः॥

—ऋ० १०.४३.९

ऋषिः—कृष्णः आङ्गिरसः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—जगती।

(**उत् जायताम्**) ऊपर उठे (**परशुः**) फरसा (**ज्योतिषा सह**) ज्योति के साथ। हे मेरी वाणी या सेना! तू (**भूयाः**) होवे (**ऋतस्य**) सत्य की (**सुदुघा**) भली भाँति दोहन करनेवाली, (**पुराणवत्**) पूर्वजों के समान। (**वि रोचताम्**) विविधरूप से चमके (**अरुषः**[1]) अहिंसक (**शुचिः**) पवित्र धर्म (**भानुना**) तेज के साथ। (**स्वः न**) सूर्य के समान (**शुक्रम्**[2]) तेजस्विता एवं पवित्रता को (**शुशुचीत**[3]) चमकाये (**सत्पतिः**) सज्जनों का पालक हमारा नेता।

कभी-कभी सत्य के प्रचारार्थ परशु भी उठाना पड़ता है। संसार में सत्य का ही साम्राज्य अभीष्ट है, असत्य का नहीं। सब व्यक्ति सत्य के पुजारी हों, समाज सत्य का पुजारी हो, सब राष्ट्र सत्य के पुजारी हों, तभी सम्पूर्ण विश्व भी सत्य का पुजारी हो सकता। सत्य बात को मनवाने के चार साधन हैं—साम, दान, भेद और दण्ड। जो असत्य विचार और असत्य कर्मोंवाले लोग हैं, उन्हें यदि ऐसे ही पनपने, बढ़ने और जग को सताने के लिए छोड़ दिया जाए तो संसार में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होती रहेगी। अतः आवश्यकता इस बात की है कि साम, दान और भेद की नीति जिनके सम्मुख कारगर नहीं होती, उन्हें परशु से मनवाया जाए, शस्त्रास्त्रों से उनकी मति को ठिकाने लगाया जाए। यह सहन नहीं किया जा सकता कि यों ही सज्जनों पर अत्याचार होते रहें; निर्दोष लोग पिटते रहें; शान्ति, शुचिता, सज्जनता, न्यायप्रियता बिलबिलाती रहे; हठधर्मिता पनपती रहे; दुराग्रह सिर उठाता रहे; प्रेम और सहिष्णुता धक्के खाते रहें; दिव्यता छटपटाती रहे; और कुछ सिरफिरे लोगों का ही जादू चलता रहे। अतः उठा लो, हाथ में परशु। परशु का जवाब परशु से दो और सत्य का साम्राज्य लाने के हेतु बलिदान करने से मत चूको।

हे मेरी वाणी! तू संसार में सत्य का ही दोहन करनेवाली बन। हे मेरी सेना, तू भी सत्य की दोग्ध्री बन। जैसे हमारे पूर्वज लोग सत्य के लिए मर मिटने को तैयार रहे हैं, वैसा ही हम भी करें। हमें इस बात का सतत प्रयास करते रहना है कि हमारा अहिंसक, पवित्र धर्म तेज के साथ धरा पर चमके। वह धर्म धर्म नहीं है जो हिंसा, उपद्रव, पारस्परिक वैमनस्य, द्वेष, द्रोह, कलह आदि का पाठ पढ़ाता हो और जिसमें शुचिता न हो। हम तो उस वैदिक धर्म के उपासक हैं जो आपसी सौहार्द, प्रेम, निश्छलता, माधुर्य, सहानुभूति, सद्भाव, विश्वशान्ति आदि की प्रेरणा देता है और जो आत्मिक, मानसिक, वाचिक एवं सामाजिक पवित्रता पर बल देता है। हम चाहते हैं कि हमारे नेता लोग सज्जनों के पालककर्त्ता हों और वे सूर्य के समान जग में तेजस्विता एवं पवित्रता को चमकाते रहें।

---

१. रुष हिंसार्थः, भ्वादिः। न रोषति हिनस्ति इति अरुषः अहिंसकः।
२. शुच ज्वलनार्थक, निघं० १.१६। शुचिर पूतीभावे।
३. शोचति ज्वलतिकर्मा, निघं० १.१६। शुशुचीत=शोचयेत्। लिङ्, छान्दस रूप।

१७४. हमें अभीष्ट पुरोहित मिल गया है

यमैच्छाम मनसा सो३ऽयमागाद् यज्ञस्य विद्वान् परुषश्चिकित्वान्।
स नो यक्षद् देवताता यजीयान् नि हि षत्सदन्तरः पूर्वो अस्मत्॥

—ऋ० १०.५३.१

ऋषयः—देवाः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**यम्**) जिसे, (**मनसा**) मन से (**ऐच्छाम**) हम चाहते थे, (**सः अयम्**) वह यह (**आगात्**) आ गया है, जो (**यज्ञस्य विद्वान्**) यज्ञ का विद्वान् है, (**परुषः**) अङ्ग-अङ्ग का (**चिकित्वान्**) ज्ञाता है। (**सः नः यक्षत्**[1]) वह हमें यज्ञ कराये अर्थात् हमारा पुरोहित बने (**देवताता**[2]) यज्ञ में। वह (**यजीयान्**[3]) अन्यों की अपेक्षा यज्ञ कराने में अधिक निपुण है। वह (**निषत्सत्**[4] **हि**) पुरोहित के आसन पर बैठे, वह (**अन्तरः**) हमारा अन्तरंग है, और (**पूर्वः अस्मत्**) श्रेष्ठ है हमसे।

सामान्यतः पुरोहित को यजमान की अपेक्षा अधिक विद्वान् गुणवान् और आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक उन्नत होना चाहिए। पुरोहित केवल यज्ञ या संस्कार की विधियों को ही नहीं कराता है, अपितु यजमान के अन्दर अपनी योग्यता से कुछ प्रभाव भी छोड़ता है। जैसे, बालक का नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म या कर्णवेध संस्कार करानेवाले पुरोहित अपनी शुभकामना, अपने आशीर्वाद तथा अपने मनोबल या आत्मबल से बालक में तथा उसके अभिभावकों में कुछ न कुछ उच्च प्रभाव भी निहित करते हैं। बालक का उपनयन संस्कार करता हुआ आचार्य स्पष्ट ही बालक की अंजलि में अपनी अंजलि का जल छोड़कर तथा उसके हृदय का स्पर्श करके उसमें शक्तिसञ्चार करता है तथा अपने अन्दर भी उस बालक के प्रति कर्त्तव्यबुद्धि को जगाता है। पुरोहित यथासम्भव यजमान का अन्तरङ्ग भी होना चाहिए। प्राचीनकाल में वसिष्ठ आदि ऋषि क्षत्रिय राजाओं के या अन्य सद्गृहस्थ परिवारों के कुल-पुरोहित हुआ करते थे। उनका यजमान के परिवार के साथ घनिष्ठ संबन्ध रहता था तथा वे यजमान के सुख-दुःख में साझीदार होते थे, और यजमान भी भरपूर दक्षिणा देकर उन्हें सम्मानित करते रहते थे।

प्रस्तुत मन्त्र में कोई यजमान उच्च कोटि का पुरोहित मिल जाने पर हर्ष प्रकट कर रहा है। कैसी प्रसन्नता का विषय है कि हम जिस प्रकार के पुरोहित चाहते थे वैसे मिल गये हैं। वे साङ्गोपाङ्ग यज्ञविद्या के पण्डित हैं। यज्ञ में पढ़े जानेवाले प्रत्येक मन्त्र का अर्थ इन्हें विदित है और ये यज्ञ में की जानेवाली विधि के रहस्य की जानकारी रखते हैं। इनकी वाणी में ओज हैं, इनके सङ्कल्प में बल है, इनकी आत्मा में अद्भुत शक्ति है, जब ये मन्त्रों की और यज्ञविधियों की व्याख्या करते हैं, तब वह श्रोता के हृदय में बैठती चलती हैं और यजमान भी उससे चमत्कृत होता चलता है। इनकी करायी हुई विधियाँ शुष्क विधिमात्र न रहकर सजीव क्रियाएँ हो जाती हैं, जो कुछ बोध प्रदान करती हैं।

हे विद्वन्! तुम्हें हम पुरोहित रूप में वरण करते हैं। तुम हमारा यज्ञ सम्पादित कर अपनी हार्दिक शुभकामनाओं से हमें कृतार्थ करो तथा प्रभु के आशीर्वाद का अधिकारी बनाओ। हम तुम्हें पूर्ण सम्मान के साथ निमन्त्रित कर रहे हैं।

---

१. यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु, लेट्।
२. देवताति=यज्ञ, निघं० ३.१७। देवताता=देवतातौ।
३. अतिशयेन यष्टा यजीयान्। यज्-ईयसुन् प्रत्यय
४. नि-षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु, लेट्।

१७५. यज्ञ का प्रसाधक सूत्र

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः। तमाहुतं नशीमहि॥

—ऋ० १०.५७.२

ऋषयः—बन्धुः श्रुतबन्धुः विप्रबन्धुः गौपायनाः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—गायत्री॥

(यः) जो **(यज्ञस्य)** यज्ञ का **(प्रसाधनः)** प्रसाधक **(तन्तुः)** सूत्र **(देवेषु)** देवों में **(आततः[१])** फैला हुआ है, **(तम्)** उस **(आहुतम्[२])** व्याप्त सूत्र को **(नशीमहि[३])** [हम] प्राप्त कर लें।

संसार में अनेक भव्य यज्ञ देवों द्वारा सम्पन्न किये जा रहे हैं। देव उन यज्ञों को सफलतापूर्वक इसलिए कर पाते हैं कि यज्ञ के प्रसाधक सूत्र को उन्होंने पकड़ा हुआ है। वह सूत्र है पारस्परिक समन्वय या ऐकमत्य का सूत्र। वह यज्ञ अनेक क्षेत्रों में हो रहा है।

अग्नि में आहुति देकर किये जानेवाले यज्ञ के देव होता, अध्वर्यु, उद्‍गाता, ब्रह्मा और यजमान पति-पत्नी हैं। होता आहुति देने का कार्य करता है, अध्वर्यु यज्ञ का विधि-विधान करता है, उद्‍गाता सामगान गाता है, ब्रह्मा संभावित त्रुटि का निवारण करता हुआ यज्ञ का संचालन करता है। पति-पत्नी यजमान के कर्त्तव्य का पालन करते हैं। पूर्णाहुति के साथ यज्ञ की पूर्णता होती है। यदि यज्ञ के यजमान सहित होता, अध्वर्यु आदि देव पारस्परिक समन्वयरूप सूत्र से न जुड़े होते तो यह यज्ञ सिद्ध नहीं हो सकता था।

राष्ट्र भी एक यज्ञ है। उसके संचालक देव हैं राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, विविध विभागों के मन्त्री, विभिन्न प्रदेशों के मुख्यमन्त्री एवं विभागीय मन्त्री आदि। ये सब देव भी ऐक्य के सूत्र में बँधकर ही राष्ट्रयज्ञ का सफल संचालन करने में समर्थ होते हैं। मानवदेह भी एक यज्ञ है। इसके संचालक देव हैं आत्मा, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राणपंचक, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ। ये सब भी ऐक्य के सूत्र में आबद्ध होकर ही शरीर-यज्ञ का संचालन करते हैं। यदि मन आत्मा से स्वयं को स्वतन्त्र मानने लगे, इन्द्रियाँ मन को अधिकारच्युत कर दें, प्राण अहंकार में आकर बाहर निकल जाएँ, तो यह यज्ञ क्षणभर में ही त्रुटित हो जाए।

हमारा सौरमण्डल भी एक यज्ञ चला रहा है, जिसके संचालक देव हैं सूर्य, पृथिवी, मङ्गल, बुध आदि ग्रह और इन सब ग्रहों के चन्द्रमा। ये किस प्रकार सामंजस्य के सूत्र में पिरोये हुए, अपनी-अपनी धुरी पर घूमते हुए केन्द्रभूत सूर्य की परिक्रमा कर रहे हैं, यह सब आश्चर्य में डाल देनेवाला है। ऐसे-ऐसे अनेकों सौर-मण्डल इस जगत् में हैं। इन सबको मिलाकर ब्रह्माण्ड-रूप यज्ञ परमेश्वर द्वारा चलाया जा रहा है।

आओ, हम भी पारस्परिक सामंजस्य के इस सूत्र को पकड़कर विविध यज्ञों का संचालन करें।

---

१. आङ्-तनु विस्तारे क्त प्रत्यय।
२. आ-हु दानादनयोः। आहुतं समन्ताद् दत्तं व्याप्तम्।
३. नश धातु व्याप्ति या प्राप्ति अर्थ में, निघं० २.१८। विधिलिङ्।

१७६. बिना रक्तपात के युद्ध जीतनेवाले क्षत्रिय

धृतव्रताः क्षत्रिया यज्ञनिष्कृतो बृहद्दिवा अध्वराणामभिश्रियः।
अग्निहोतार ऋतसापो अद्रुहोऽपो असृजन्ननु वृत्रतूर्ये॥

—ऋ० १०.६६.८

ऋषिः—वसुकर्णः वासुक्रः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—जगती॥

(**धृतव्रताः**) व्रतधारी, (**यज्ञनिष्कृतः**) यज्ञार्थ निकलनेवाले, (**बृहद्दिवाः**) महान् तेजवाले, (**अध्वराणाम् अभिश्रियः**) अहिंसक संग्रामों से शोभा पानेवाले, (**अग्निहोतारः**[1]) अग्रणी सेनापति जिनका आह्वाता है ऐसे, (**ऋतसापः**[2]) सत्यपूजक, (**अद्रुहः**) राष्ट्र से द्रोह न करनेवाले, (**क्षत्रियाः**) क्षत्रिय (**अपः**) [कैद की हुई] प्रजाओं को (**अनु-असृजन्**) छुड़ा लाते हैं (**वृत्रतूर्ये**) युद्ध में।

क्या तुमने हमारे राष्ट्र के वीरों की प्रशस्ति सुनी है? यदि नहीं, तो सुनो। सेना में सैनिकरूप में नाम लिखाते समय इन्होंने प्रतिज्ञापूर्वक राष्ट्र-रक्षा का पवित्र व्रत ग्रहण किया था। अपने उस व्रत पर ये आज भी अडिग हैं। अनेकों बार इन्हें भीषण युद्ध का सामना करना पड़ा है, पर उसे इन्होंने अपना सौभाग्य माना है। जब कभी ये युद्ध के लिए निकलते हैं, तब इस भावना को लेकर जाते हैं कि हम यज्ञार्थ जा रहे हैं। युद्ध भी यज्ञ ही कहलाता है, यदि वह लोकहित के लिए होता है। ये 'बृहद्दिवः' हैं, इनके शरीर में, इनके मन में और इनके आत्मा में महान् तेज का निवास है। द्युलोक में सूर्य की किरणों के समान ये वीर सैनिक अपने प्रभाव से चमकते हैं। ये अहिंसक युद्ध (अध्वर) करने में विख्यात हैं। युद्ध में रक्त की नदियाँ बहाने का सामर्थ्य भी यद्यपि इनमें है, पर ये उससे बचते हैं। इनका आदर्श है बिना रक्तपात के शत्रु को जीत लेना। अब तक जितनी विजयें इन्होंने की हैं, उनमें इनकी यही नीति रही है कि शत्रु पर ऐसे जा टूटना कि वह हतप्रभ होकर अपने हथियार डाल दे, तथा सन्धि के लिए विवश हो जाए।

ये 'अग्निहोता' हैं, सेनापति-रूप अग्नि के आह्वान पर समर में कूदने के लिए तैयार रहते हैं, इसमें अपनी जान जाने की भी परवाह नहीं करते। ये 'ऋतसापः' अर्थात् सत्य के पूजक या सदा सत्य का ही पक्ष लेनेवाले हैं। ये 'अद्रुहः' है राष्ट्र के साथ द्रोह या विश्वासघात करने का विचार कभी स्वप्न में भी इनके मन में नहीं आ सकता। इनकी सत्यनिष्ठा के कारण राष्ट्र को कभी यह शङ्का भी नहीं हो सकती कि ये स्वपक्ष से विद्रोह करके कभी शत्रु के साथ भी मिल सकते हैं। अपनी शूरवीरता से शत्रु को सन्धि प्रस्ताव लाने के लिए बाध्य करके ये शत्रु द्वारा कारागार में डाले हुए अपने राष्ट्र के प्रजाजनों को या युद्धबन्दियों को शीघ्र ही छुड़ा लाते हैं। हमें गर्व है अपने इन वीर क्षत्रियों पर। विजयोल्लास के उत्सव में हम इनका शतशः अभिनन्दन करते हैं, इन्हें बधाई देते हैं; इनके जयगीत गगन में गुँजाते हैं।

---

१. अग्निः अग्रणीः सेनापतिः होता आह्वाता येषां ते।
२. ऋतं सपन्ति ये ते। सपति=अर्चति, निघं० ३.१४।

१७७. चट्टान से रुका हुआ मधु

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य॥

—ऋ० १०.६८.८

ऋषिः—अयास्यः आङ्गिरसः॥ देवता—बृहस्पतिः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**अश्ना**[1]) चट्टान से (**अपिनद्धम्**) बन्द पड़े हुए (**मधु**) मधु को (**पर्यपश्यत्**) देख लिया, (**मत्स्यं न**) जैसे मछली को (**दीने उदनि**) अल्प जल में (**क्षियन्तम्**[2]) रहती हुई को [देख लेते हैं]। (**तत्**) उस मधु को (**निर्-जभार**) निकाल लाया (**चमस**[3] **न वृक्षात्**) जैसे वृक्ष में से रस को, (**बृहस्पतिः**) बृहस्पति (**वि-रवेण**) तीव्र शब्द के साथ (**विकृत्य**) [चट्टान को] काटकर।

चारों ओर रेगिस्तान है, पानी की एक बूँद नहीं मिल रही है, प्रजा प्यासी मर रही है। तभी जल-निरीक्षक बृहस्पति आते हैं। जल की खोज में निकल पड़ते हैं। एक स्थान पर पहुँचकर उन्हें कुछ आशा बँधती है कि यहाँ नीचे पृथ्वी में जल है। अपने जलान्वेषक यन्त्र लगा देते हैं। यन्त्र भी बता रहे हैं कि यहाँ पानी है। खुदाई करनेपर एक विशाल चट्टान दिखाई देती है। इसीके नीचे जल होना चाहिए। चट्टान को तोड़ते ही जल का फव्वारा छूट पड़ता है। प्रजा की जान में जान आ जाती है, उसे मधु मिल जाता है।

'अश्मा' चट्टान के अतिरिक्त बादल का भी नाम है, क्योंकि बादल आकाश में फैला हुआ होता है (अशूङ् व्याप्तौ)। बृहस्पति वृष्टियज्ञ के ब्रह्मा हैं। वे अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देख लेते हैं कि इन बादलों में बरसने योग्य जल है। वे वृष्टियज्ञ रचाते हैं। विद्युद्गर्जन के तीव्र शब्द के साथ जल नीचे वरस जाता है। प्यासी प्रजा को मधु मिल जाता है।

विद्यार्थी के मानस में अविकसित ज्ञान का मधु भरा होता है। अविद्या की चट्टान उस मधु को रोके होती है। बृहस्पति आचार्य है। प्रत्येक विद्यार्थी के अन्दर किस विद्या का मधु सूक्ष्मरूप में निहित है, जिसे योग्य प्रशिक्षण से विकसित करके बाहर निकाला जा सकता है, इस बात को आचार्य ऐसे ही देख लेता है, जैसे स्वच्छ अल्प जल में क्रीडा करती मछली स्पष्ट दीख जाती है। गुरुकुल में प्रविष्ट बालक के अन्दर जो अविद्या की चट्टान होती है, उसे आचार्य यम-नियमों एवं सतत विद्याभ्यास के कुदालों से तोड़कर चिरकाल तक ज्ञान-साधना कराने के पश्चात् इस योग्य कर देता है कि वह मधु उससे बाहर निकलने लगता है, जैसे वृक्ष में से रस निकलता है। विद्यार्थी अपनी रुचि की उन विद्याओं का पण्डित हो जाता है तथा अन्यों को उनका उपदेश करने लगता है, यही मधु का बाहर निकलना है।

हम सबके अन्दर भी मधु निहित है, जो चट्टान से दबा पड़ा है। आओ, हम उस बृहस्पति की खोज करें जो चट्टान को तोड़कर मधु को बाहर निकाले।

---

१. अश्ना=अश्मना। म का लोप छान्दस।
२. क्षि निवासगत्योः, तुदादिः।
३. चमस=जल, रस। चम्यते आचम्यते इति चमसः। चमु अदने।

१७८. वेदोक्त प्रेय और श्रेय का मार्ग

इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः॥

—ऋ० १०.७१.९

ऋषिः—बृहस्पतिः आङ्गिरसः॥ **देवता**—ज्ञानम्॥ **छन्दः**—जगती॥

(इमे ये) ये जो **(न अर्वाङ्)** न अपरा विद्या या प्रेय मार्ग का, **(न परः)** नही पराविद्या या श्रेयमार्ग का **(चरन्ति)** अवलम्बन करते हैं, **(न ब्राह्मणासः[१])** न ज्ञानी [होते हैं] **(न सुतेकरासः[२])** न कर्मकाण्डी, **(ते एते)** वे ये **(पापया)** पापरीति से **(वाचम्)** वेदवाणी को **(अभिपद्य[३])** प्राप्त करके **(सिरीः[४])** मकड़ी के समान **(तन्त्रं तन्वते)** जाला फैलाते रहते हैं, **(अप्रजज्ञयः[५])** अज्ञानी लोग।

मुण्डक उपनिषद् में शौनक महाशाल को अंगिरस ऋषि ने अपरा और परा दो विद्याओं का उपदेश दिया है। सब वेद-वेदाङ्गों का तथा अन्य विद्याओं का स्थूल शब्दार्थ ज्ञान तथा उसमें वर्णित शिल्पादि का क्रियात्मक ज्ञान अपरा विद्या कहाती है। इस विद्या को जो सीख लेते हैं वे धार्मिक जीवन व्यतीत करते हुए अन्यों को यह विद्या सिखाने के लिये शिक्षक हो जाते हैं, अथवा इस विद्या के आधार से कोई व्यवसाय करने लगते हैं। दूसरी परा विद्या है, जिससे अक्षर-ब्रह्म की प्राप्ति या अनुभूति होती है। इन्हीं को कठोपनिषद् में यम ने क्रमशः प्रेयमार्ग और श्रेयमार्ग नाम दिया है। दोनों मार्गों में से कोई भी मार्ग बुरा नहीं हैं, पर तारतम्य की दृष्टि से श्रेय मार्ग उत्कृष्ट है, जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार करके मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है, तथा शरीरपात के अनन्तर मोक्ष-लोक को पा लेता है। इन दोनों मार्गों में से मनुष्य को अपनी रुचि के अनुसार किसी एक मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए।

मन्त्र में दो और मार्ग बताये गये हैं, एक ज्ञान का मार्ग, और दूसरा कर्मकाण्ड का मार्ग, जो क्रमशः 'ब्राह्मणासः' तथा 'सुतेकरासः' शब्दों से सूचित होते हैं। ज्ञान को अपनानेवाले ब्राह्मण कहे गये हैं, और यज्ञिय सोम-सवन आदि कर्मकाण्ड के व्रती 'सुतेकर'। अपनी रुचि के अनुसार मनुष्य इन दोनों मार्गों में से भी किसी एक को ग्रहण कर सकता है।

परन्तु जो उक्त चारों मार्गों में से किसी एक को भी नहीं अपनाते, केवल वेदपाठ करने बैठ जाते हैं, वह भी पापरीति से करते हैं अर्थात् मन्त्रों का अशुद्ध उच्चारण करते हैं; न वेदार्थज्ञान ही करते हैं, न ही यह जानने का यत्न करते हैं कि वेदोक्त कर्म कौन से हैं, वे अज्ञानी अपने जीवन को निरुद्देश्य ही व्यतीत करते हैं। जैसे मकड़ी जाले को पूरकर कोई धर्म अर्जित नहीं करती, प्रत्युत जाले में छल से अपने खाने के लिये कीड़े-मकोड़ों को ही फँसाती है, ऐसे ही वे अज्ञानी कोई धर्म न कमाकर धूर्तता से जीविका चलाने के लिए अपने कार्यों का जाल फैलाते रहते हैं।

हमें चाहिए कि उन अज्ञानियों की श्रेणी में न रहकर अपनी रुचि को देखकर वेदोक्त प्रेयमार्ग या श्रेयमार्ग का अवलम्बन करें।

---

१. ब्राह्मणासः ब्राह्मणाः। जस् को असुक् का आगम।
२. सुते यज्ञे विधीन् कुर्वन्तीति सुतेकरासः कर्मकाण्डिनः। ३. अभि-पद गतौ, क्त्वा को ल्यप्।
४. सिरीः, लुप्तोपमम् एतत् पदम्। सिरीः ऊर्णनाभिः कौलकः अतिदुर्बलम् असारम् उत्पन्नप्रध्वंसि च तन्त्रं यथा तनोति एवम्—उद्गीथ।
५. ज्ञा अवबोधने, क्र्यादि। कि=इ प्रत्यय। लिड्वत् होने से द्वित्व। न प्रजज्ञिः अप्रजज्ञिः=अज्ञानी।

१७९. भूमि उत्तानपाद् से पैदा हुई

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि॥

—ऋ० १०.७२.४

ऋषिः—बृहस्पतिः लौक्यः, बृहस्पतिः आङ्गिरसो वा, दाक्षायणी अदितिर्वा॥ **देवता**—देवाः (भूः, उत्तानपाद्, आशाः, अदितिः, दक्षः)॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥

(भूः) भूमि **(जज्ञे)** उत्पन्न हुई **(उत्तानपदः[१])** उत्तानपाद् से। **(भुवः)** भूमि से **(आशाः)** दिशाएँ **(अजायन्त)** उत्पन्न हुईं। **(अदितेः)** अदिति से **(दक्षः)** दक्ष **(अजायत)** उत्पन्न हुआ। **(दक्षात् उ)** और दक्ष से **(अदितिः)** अदिति **(परि अजायत)** उत्पन हुई।

क्या तुम पूछते हो कि यह भूमि किससे पैदा हुई है? वेद का उत्तर है कि भूमि राजा उत्तानपाद् से पैदा हुई है। पर राजा उत्तानपाद् को ऐतिहासिक ईश्वरभक्त बालक ध्रुव का पिता मत समझ लेना। उत्तानपाद् सूर्य का नाम है, क्योंकि सूर्यमण्डल अपने किरण व ज्वालारूप पैरों को अपने ऊपर की ओर चारों तरफ फेंकता रहता है। इसीलिए सूर्य की प्रत्येक सतह से किरणों एवं ज्वालाओं की बौछार होती रहती है, भले ही हमें प्रतीत ऐसा होता है कि सूर्य अपनी किरणों को पृथिवी पर ही नीचे की ओर फेंक रहा है। तो, हमारी भूमि उत्तानपाद् सूर्य में से निकली है। पहले सूर्य बहुत बड़ा था, हमारी भूमि तथा मङ्गल, बुध, बृहस्पति आदि ग्रह एवं इनके उपग्रह सब सूर्य के अन्दर समाविष्ट थे। उस बड़े सूर्य में से ही टूट कर हमारी भूमि तथा मङ्गल, बुध, बृहस्पति आदि बने हैं। इन सबको अपने अन्दर से पैदा करने के बाद जो अवशिष्ट रह गया है, उसे आजकल हम 'सूर्य' कहते हैं।

जब भूमि सूर्य से अलग हुई तब वह भी सूर्य के समान जलती हुई गैसों का पिण्ड थी। चारों ओर लपटें निकल रही थीं, चारों ओर दूर-दूर तक प्रकाश ही प्रकाश भरा हुआ था। दिशाएँ दृष्टिगोचर नहीं होती थीं। शनैःशनैः भूमि ठण्डी होनी आरम्भ हुई। जब जलती हुई गैसें ठण्डी होती हैं, तब वे द्रव बन जाती हैं। गैसरूप भूमि भी ठण्ड पाकर ऊपर से कठोर हो गयी, उसके भीतर अब भी पिघला हुआ 'लावा' भरा है। भूमि ऊपर से ठोस हो जानेपर चारों ओर दिशाएँ दिखायी देने लगीं। इसीलिए वेद कहता है—**भुवः आशाः अजायन्त।**

आगे वेदमन्त्र पहेली सी बुझाता हुआ कहता है—"अदिति से दक्ष पैदा हुआ, दक्ष से अदिति पैदा हुई।" यह कैसे सम्भव है? माता से तो पुत्र पैदा होता है, पर पुत्र से भी क्या कभी माता पैदा होती है? मन्त्र के आरम्भ में कहा गया है कि भूमि 'उत्तानपाद्' से उत्पन्न हुई है। यहाँ प्रश्न उठता है कि उत्तानपाद् को किसने जन्म दिया? इसीका उत्तर मन्त्र के तृतीय चरण में दिया गया है। 'उत्तानपाद्' और 'दक्ष' दोनों सूर्य के ही नाम हैं। अदिति वह नीहारिका है, जिसके खण्डों में विभक्त होने से कई सूर्यों ने जन्म लिया। उन्हीं सूर्यों में से एक हमारे सौरमण्डल का सूर्य है। परन्तु 'दक्ष से अदिति पैदा हुई' इसकी सङ्गति कैसे लगेगी? अदिति का एक अर्थ भूमि होता है। दक्ष (सूर्य) से अदिति अर्थात् भूमि उत्पन्न हुई। इसप्रकार पलेही का समाधान हो जाता है।

---

१. उत्तानाः ऊर्ध्वगामिनः पादाः ज्वालाः किरणा वा यस्य स उत्तानपात्, तस्मात् उत्तानपदः सूर्यात्।

१८०. ये सब किसे पुकार रहे हैं?

अग्निमुक्थैर्ऋषयो वि ह्वयन्तेऽग्निं नरो यामनि बाधितासः।
अग्निं वयो अन्तरिक्षे पतन्तोऽग्निः सहस्रा परि याति गोनाम्॥

—ऋ० १०.८०.५

ऋषिः–सौचीकः अग्निः, वैश्वानरो वा, सप्तिः वाजंभरो वा॥ **देवता**–अग्निः॥ **छन्दः**–त्रिष्टुप्॥

(अग्निम्) अग्रनेता जगदीश्वर को **(उक्थैः)** स्तोत्रों से **(ऋषयः)** ऋषि लोग **(विह्वयन्ते)** पुकारते हैं। **(अग्निम्)** अग्रनेता जगदीश्वर को **(नरः)** वे लोग [पुकारते हैं] जो **(यामनि[1])** संग्राम में **(बाधितासः)** बाधित होते हैं। **(अग्निम्)** अग्रनेता जगदीश्वर को **(अन्तरिक्षे पतन्तः)** अन्तरिक्ष में उड़ते हुए **(वयः)** पक्षी [पुकारते हैं]। **(अग्निः)** अग्रनेता जगदीश्वर **(गोनां[2] सहस्रा)** सहस्रों लोकों में **(परि याति)** पहुँचा हुआ है।

ये वन-कुटीरों में निवास करते हुए सिद्ध योगीजन किसे पुकार रहे हैं? ये वन-निकुञ्जों में समाधिस्थ तपस्वी, मनस्वीजन किसे आवाज लगा रहे हैं? ये वेदमन्त्रों का सस्वर गान करते हुए उपाध्याय लोग किसकी महिमा गा रहे हैं? ये वेदों के अर्थद्रष्टा ऋषिगण वेदार्थों में किसका दर्शन कर रहे हैं? ये तपःपूत महर्षि लोग नवीन-नवीन स्तोत्रों की रचना करके किसे रिझा रहे हैं? ये ऋषि-आश्रमों में तपस्या-निरत साधक लोग किसके गीत गुनगुना रहे हैं? ये सभी उस परमेश जगदीश्वर का आह्वान कर रहे हैं। ये युद्धों में विजय पा रहे रणबाँकुरे योद्धा किसका जयजयकार कर रहे हैं? ये संग्रामों में शत्रु से पीड़ित किये जा रहे योद्धा लोग किससे बल माँग रहे हैं? ये एक बार हारकर भी पुनः विजय के लिये कूच करनेवाले वीर सैनिक लोग किससे उत्साह पाकर रण-भेरी बजा रहे हैं? ये युद्धभूमि में राष्ट्र के लिए बलिदान होकर जख्मी पड़े हुए, अन्तिम साँस लेते हुए बहादुर सिपाही किसके पास जाने की प्रतीक्षा कर रहे हैं? वही जगत्पति राजराजेश्वर प्रभु सबका लक्ष्य है।

आकाश में कहीं सफेद बलाकाएँ पङ्क्ति बाँधकर उड़ रही हैं, कहीं हरियल तोते श्रेणीबद्ध होकर उड़ते हुए बन्दरबार बना रहे हैं, कहीं हंस उड़ान भर रहे हैं, कहीं कबूतर सुदूर की यात्रा कर रहे हैं, कहीं कोयल, मैना, गौरैया उड़ान ले रहे हैं। ये सब किसे लक्ष्य बनाकर उड़ रहे हैं? मानो उसी परम प्रभु जगदीश्वर को पाने की अभिलाषा से इनकी उड़ान है।

और जो ये चाँद, सूर्य, सितारे, ग्रह, उपग्रह आदि असंख्य लोक-लोकान्तर आकाश में टँगे हुए हैं, यह सब किसकी व्यवस्था से हो रहा है? ये सब भी अपनी उत्पत्ति और स्थिति के लिये उस जगदीश्वर के ही ऋणी हैं।

आओ, सब जिसकी गरिमा का गान कर रहे हैं, हम भी उसी के गीत गाएँ। सब जिसे पुकार रहे हैं, हम भी उसे ही पुकारें।

---

१. यामनि संग्रामे। यातिर्वधकर्मसु पठितः —सायण।

२. गोनां सहस्रा=गवां सहस्राणि। 'गोनाम्' में 'गोः पादान्ते' पा० ७.१.५७ से नुट्। पाद के मध्य में आने पर 'गवां' रूप बनता है।

१८१. अन्धकार से ज्योति की ओर

गीर्णं भुवनं तमसापगूळहमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ।
तस्य देवाः पृथिवी द्यौरुतापोऽरणयन्नोषधीः सख्ये अस्य॥

—ऋ० १०.८८.२

ऋषिः—आङ्गिरसः मूर्धन्वान्, वामदेव्यः वा॥ देवता—वैश्वानरः अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**भुवनम्**) भू-भाग (**तमसा**) अन्धकार से (**गीर्णम्**[1]) निगला हुआ (**अपगूढम्**[2]) छिपा हुआ था। (**स्वः**) प्रकाश (**आविः अभवत्**) प्रकट हो गया (**जाते अग्नौ**) उत्पन्न होने पर सूर्य-रूप अग्नि के। (**तस्य अस्य**) उस इस सूर्याग्नि के (**सख्ये**) सखित्व में (**देवाः**) मनुष्यादि प्राणी, (**पृथिवी**) भूमि, (**द्यौः**) आकाश (**उत**) और (**आपः**) नदियाँ, (**ओषधीः**) ओषधियाँ (**अरणयन्**[3]) रमणीय हो गए, लहलहा उठे।

सृष्टिविज्ञानवेत्ता वैज्ञानिक लोग बताते हैं कि हमारा सौर-मण्डल एक बड़ी नीहारिका में से निकला है। जलती गैसों की पिण्डरूप नीहारिका आकाश में व्याप्त थी। उससे कुछ छोटे पिण्ड अलग होकर पृथिवी, मंगल, बुध आदि ग्रह बने, बचा हुआ भाग सूर्य कहलाया। जब हमारी पृथिवी नीहारिका से टूटकर अलग हुई, तब वह भी प्रज्वलित गैसों का पिण्ड थी। शनैः-शनैः ठण्डी होकर द्रवरूप में आई तथा अधिक ठण्डी होने से ढीले गारे की-सी अवस्था में हो गई। उससे एक पिण्ड अलग होकर चन्द्रमा बन गया। सूर्य के ताप से पृथिवी का बहुत-सा पानी वाष्प होकर आकाश में छा गया। बहुत काल तक यही अवस्था रही कि बादलों से सूर्य ढका रहने के कारण पृथिवी पर अन्धकार छाया रहा। धीरे-धीरे वर्षों के उपरान्त जब पृथिवी पर्याप्त ठण्डी होकर ठोसरूप में आई, तब ठण्ड पाकर बादल बरसे और आवरण हट जाने से सूर्य का प्रकाश पृथिवी को मिला। पृथिवी पर जल-धाराएँ बहीं, ओषधि-वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं और मनुष्य एवं अन्य प्राणियों की सृष्टि भी हुई। प्रस्तुत मन्त्र इसी स्थिति का वर्णन कर रहा है।

घनघोर काली रात्रि चारों ओर छाई हुई है। समस्त भुवन अन्धकार से निगला ढका पड़ा है। इतने में ही सूर्याग्नि के प्रकट हो जाने से प्रकाश ही प्रकाश जगमगा उठता है। पृथिवी सूर्य-प्रकाश को पाकर लहलहा उठती है। मनुष्य, अन्य प्राणी, भूमि, आकाश, नदियाँ, ओषधियाँ सब सूर्य-ज्योति का सख्य पाकर संतृप्त हो जाते हैं।

अध्यात्म में हमारा आत्मा तामसिकता के अन्धकार से आच्छन्न है। चिरकालिक तमस् से आच्छन्न रहने के पश्चात् एक दिन प्रभुकृपा होती है। जगमग करती हुई ईश्वरीय ज्योति आत्मा के गगन में अवतीर्ण होती है। प्रकाश पाकर शरीरस्थ मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियाँ आदि सब देव पुलकित हो जाते हैं। आनन्द की धाराएँ बह पड़ती हैं। प्रभु-प्रसाद की हरियाली छा जाती है।

हे परमेश! जब-जब हम अन्धकाराच्छन्न हों, तब-तब अपनी दिव्य ज्योति के साथ तुम हमारे अन्दर झाँकते रहो।

---

१. गृ निगरणे, क्त प्रत्यय।
२. अप-गुह संवरणे।
३. रण=रमणीय। निरु० ६.१२८, ९.२१

१८२. रस-वर्षा

अग्ने॒ बाध॑स्व॒ वि मृधो॒ वि दु॒र्गहाऽपामी॑वा॒मप॒ रक्षां॑सि सेध।
अ॒स्मात्स॑मु॒द्राद् बृ॑ह॒तो दि॒वो नो॒ऽपां भू॒मान॒मुप॑ नः सृजे॒ह॥

—ऋ० १०.९८.१२

ऋषिः—आर्ष्टिषेणः देवापिः (वृष्टिकामः)॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥

(अग्ने) हे अग्नि! **(वि बाधस्व)** दूर कर **(मृधः[1])** हिंसक रोगकृमियों को, **(वि)** दूर कर **(दुर्गहा[2])** कठिनाई से दीखनेवाले सूक्ष्म कृमियों को, **(अप)** दूर कर **(अमीवाम्)** रोग को, **(अप सेध)** दूर कर **(रक्षांसि)** पापरूप राक्षसों को। **(नः)** हमारे **(दिवः)** अन्तरिक्ष के **(अस्मात्)** इस **(बृहतः समुद्रात्)** विशाल बादल-रूप समुद्र से **(नः)** हमारे लिए **(अपां भूमानम्)** वर्षाजलों की प्रचुरता को **(उपसृज)** उत्पन्न कर।

यह वृष्टिसूक्त का मन्त्र है। यज्ञाग्नि से प्राप्त होनेवाले पाँच लाभों का इसमें संकेत किया गया है। यज्ञाग्नि के धूम से रोगोत्पादक कृमि नष्ट हो सकते हैं। उन हानिकारक कृमियों का भी विनाश हो सकता है, जो नंगी आँखों से नहीं दीखते, प्रत्युत सूक्ष्म-वीक्षणयन्त्र से दिखाई देते हैं। व्यक्तिगत तथा सामूहिकरूप में फैली हुई महामारियाँ भी दूर की जा सकती हैं। अग्नि-ज्वालाएँ मनुष्य को पापों के संहार की भी प्रेरणा करती हैं। वृष्टियज्ञों का आयोजन करके बादलों से वर्षा भी कराई जा सकती है। रोगकृमियों के विनाश के लिए अग्नि में ऐसी ओषधियों की या ऐसे खनिज आदि पदार्थों की आहुति देनी होती है, जो कृमिहर होने के साथ-साथ मनुष्यादि प्राणियों के लिए हानिकर न हों। रोगविनाशार्थ उन-उन रोगों को दूर करनेवाली ओषधियों से होम करना होता है। बादलों से वर्षा कराने के लिए वैज्ञानिक विधि से वृष्टियज्ञ किये जाते हैं। उनमें खैर, करीर आदि की समिधाएँ उपयोगी होती हैं। हे अग्नि! तुम्हें हम यज्ञवेदि में प्रज्वलित करके घृत एवं हवन-सामग्री की आहुतियों से प्रवृद्ध करते हैं। तुम उपर्युक्त सब लाभ हमें प्रदान करते रहो।

इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक दृष्टि से तेजस्वी प्रभु अग्निदेव कहलाते हैं। हे ज्योतिर्मय मेरे परम प्रभु! तुम मेरे अन्दर से **(मृधः)** हिंसावृत्तियों को दूर कर दो। मार्ग में आनेवाली **(दुर्गहा)** दुर्गम विपत्तियों को दूर कर दो। योगमार्ग में विघ्न बनकर आनेवाली आधि-व्याधियों को विनष्ट कर दो। अध्यात्म की दिशा में बाधक काम-क्रोध आदि राक्षसों का संहार कर दो। इस प्रकार मेरे अन्तरात्मा को पूर्णतः स्वच्छ करके हे सच्चिदानन्दस्वरूप! तुम अपने विशाल आनन्द के बादल में से ब्रह्मानन्द की धारासार वृष्टि मेरे ऊपर कर दो। आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक कष्टों से सन्तप्त हुए मुझे अपनी आनन्द-वर्षा से नहलाकर शीतलता और शान्ति प्रदान करो। मैं तुम्हारी रसधार का प्यासा हूँ, मेरी प्यास बुझाओ।

---

१. मृध हिंसार्थः।
२. दुःखेन गाह्यन्ते बाह्येन्द्रियैः दृश्यन्ते इति दुर्गाहा दुर्गहा वा।

१८३. छह आँखों और तीन सिरोंवाला दैत्य

स इद् दासं तुवीरवं पतिर्दन् षळक्षं त्रिशीर्षाणं दमन्यत्।
अस्य त्रितो न्वोजसा वृधानो विपा वराहमयोअग्रया हन्॥

—ऋ० १०.९९.६

ऋषिः—वम्रो वैखानसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**सः इत्**) वही (**पतिः**) शरीर का अधिपति इन्द्र जीवात्मा (**तुवीरवम्**[1]) बहुत गर्जन-तर्जन करनेवाले, (**षडक्षं**) छह आँखोंवाले, (**त्रिशीर्षाणम्**) तीन सिरोंवाले (**दासम्**) दस्यु को (**दन्**[2]) छिन्न-भिन्न करता हुआ (**दमन्यत्**) दमन करता है। (**अस्य नु**) इस इन्द्र जीवात्मा के (**ओजसा**) बल से (**वृधानः**) बढ़ता हुआ (**त्रितः**) मन, वचन, कर्म तीनों से समृद्ध मनुष्य (**अयो अग्रया**) लोह-फलक के अग्रभागवाली, अर्थात् पैनी (**विपा**[3]) सात्त्विक चित्तवृत्तिरूप बेधनी से (**वराहम्**) वराहासुर को (**हन्**) मार देता है।

यदि तुम छह आँखों और तीन सिरोंवाले दैत्य को मारना चाहते हो तो भगवान् तुम्हारे सहायक हो सकते हैं, किन्तु उद्यम तुम्हें स्वयं ही करना पड़ेगा। दुर्विचार ही वह दैत्य है, जिसकी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सररूप छह आँखें हैं और जिसके ब्रह्महत्या, असत्याचार, व्यभिचार रूप तीन सिर हैं। यह दैत्य जब आक्रमण करता है, तब किसी को 'काम' की आँख से देखकर कामासक्त कर देता है, किसी को क्रोध की आँख से देखकर क्रोधाविष्ट कर देता है, किसी को लोभ की आँख से देखकर लोभाकृष्ट कर देता है। इसी प्रकार मोह, मद और मत्सर की आँखों से देखकर इन-इनके दोषों से दूषित कर देता है। इसकी आँखों में कुछ ऐसा ही विषैला जादू है। इसके अतिरिक्त हत्यावाले सिर की भृकुटि तानकर हत्या के प्रति, असत्याचारवाले सिर की भृकुटि तानकर असत्याचार के प्रति और व्यभिचारवाले सिर की भृकुटि तानकर व्यभिचार के प्रति यह मनुष्य को बलात् प्रेरित कर देता है। अपने गर्जन-तर्जन के साथ आकर यह सबको ऐसा भयाक्रान्त कर देता है कि कोई इसकी मार से बच नहीं पाता। इसका वध करने के लिए अपने आत्मारूप इन्द्र को ही सजग करना होगा। आत्मा के अन्दर बहुत बड़ी शक्ति निहित है। जब वह प्रबल संकल्प, उत्साह और निश्चयात्मक बुद्धि के साथ लोहा लेने को कटिबद्ध हो जाता है, तब बड़े-से-बड़े भी शत्रु का संहार करके ही रहता है।

इस दुर्विचाररूप दैत्य के अतिरिक्त एक वराहासुर भी है। 'वराह' शब्द सामान्यतः शूकर पशु का वाचक होता है। शूकर का अभक्ष्य-भक्षणरूप दुर्व्यसन तमोगुण को सूचित करता है और इसकी तेजी रजोगुण को। जब तमोगुण और रजोगुण मिल जाते हैं तथा तमोगुण की मात्रा अधिक होती है, तब यह मेल अनर्थकारी हो जाता है। मनुष्य का मनरूप महायोद्धा आत्मारूप सेनापति से शक्ति पाकर और संकल्प, वचन तथा कर्म के त्रैत से प्रबल होकर जब 'त्रित' बन जाता है, तब वह अपनी सात्त्विक चित्तवृत्ति की बेधनी से तामसिकता के वराहासुर का संहार कर देता है।

आइये, हम भी अपने आत्मारूप इन्द्र देव को तथा मनरूप त्रित ऋषि को जागरूक एवं बलवान् बनाकर उक्त दैत्यों पर विजय पाएँ।

---

१. तुवि=बहु निघं० ३.१, रव=शब्द।
२. दाप् लवने, अदादिः, शतृ प्रत्यय।
३. विप्=अङ्गुलि, निघं० २.५। सादृश्य, लक्षणा से बेधनी।

१८४. विजय-रथ को क्षत-विक्षत मत होने दो

प्र ते रथं मिथूकृतमिन्द्रोऽवतु धृष्णुया।
अस्मिन्नाजौ पुरुहूत श्रवाय्ये धनभक्षेषु नोऽव॥ —ऋ० १०.१०२.१

ऋषिः—मुद्गलो भार्म्यश्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥

हे मानव! (**ते**) तेरे (**मिथूकृतं**[१] **रथम्**) मिथ्या किये हुए रथ को (**इन्द्रः**) इन्द्र (**प्र अवतु**) प्रकृष्ट रूप से रक्षित करे (**धृष्णुया**) दृढ़ता के साथ। (**पुरुहूत**) हे बहुतों से आहूत इन्द्र, (**अस्मिन्**) इस (**श्रवाय्ये**[२]) यश के हेतुभूत (**आजौ**[३]) युद्ध में (**धनभक्षेषु**) धन खानेवालों के बीच (**नः अव**) हमारी रक्षा कर।

हे मानव! तुझे दोनों तरफ संग्राम करना पड़ रहा है, अन्दर भी और बाहर भी। एक ओर तेरे पास शरीररूप रथ है, दूसरी ओर बाहरी दृढ़ युद्ध-यान हैं, जिनमें भू-यान, जलपोत और आकाशीय विमान भी हैं। शत्रु तेरे रथ को भग्न करके तुझे विफल कर देने के लिए कमर कसे खड़े हैं। बुद्धिरूप सारथि, मनरूप लगाम एवं इन्द्रियरूप घोड़ों से सजे हुए देह-रथ को लेकर अध्यात्म-मार्ग में आगे बढ़ते हुए तुझ रणबाँकुरे के रथ को आसुरी शक्तियों ने आधि-व्याधियों से दूषित करके मिथ्या कर दिया है। देह-रथ ही व्यर्थ हो गया तो तू अपनी यात्रा प्रवृत्त कैसे रख सकेगा? किन्तु, भयभीत मत हो, इन्द्र को स्मरण कर, विजय के देवता प्रभु को पुकार। वह अपनी धृष्णुता या धर्षणशीलता से, अपनी दृढ़ता या आक्रामक शक्ति द्वारा बाधक शत्रुओं से लोहा लेकर तेरे रथ को आधि-व्याधियों से विमुक्त करके पुनरुज्जीवित, पुनः सप्राण एवं शक्तिमान् कर देगा। यह युद्ध साधारण नहीं है, इसमें तेरा यश दाँव पर लगा हुआ है। शत्रु तुझे पूर्णतः प्रभावहीन एवं मृततुल्य कर देने पर उतारू है। पर तुझे विजयी होकर अपने यश को सुरक्षित रखना है। तेरे पास जो भी आध्यात्मिकता की सम्पत्ति है, उसे हड़पने के लिए असुरदल तैयार खड़ा है। विजय-प्रदाता इन्द्र प्रभु से शक्ति पाकर तू इस समर में विजयी हो।

बाहर मायावी मानव-शत्रुओं से तेरा युद्ध ठना है। वे तेरे युद्ध-यानों को विध्वस्त करके तुझे पराजित कर देना चाहते हैं। किन्तु, यदि शत्रु तेरे युद्ध-यान को क्षत-विक्षत भी कर देते हैं, तो राष्ट्र-रक्षा की बागडोर सम्भालनेवाला इन्द्र या सेनापति तेरे पास दूसरा रथ पहुँचा देगा; और रथ यदि नहीं भी मिलेगा तो प्राणों की बाजी लगाकर भी तुझे रण-विमुख नहीं होना है। देख, तेरे राष्ट्र का धन, तेरे राष्ट्र का सम्मान शत्रु के हाथों लुट न जाए! तेरे राष्ट्र की विजय-पताका शत्रु के हाथों अपमानित न हो जाए!

हे राष्ट्र के वीर इन्द्र! हे राष्ट्राध्यक्ष! तुम हमारे अन्दर प्राण और उत्साह का संचार करते रहो, जिससे धनभक्षी शत्रुओं को हम निस्तेज कर सकें।

---

१. मिथुरिति मिथ्यानाम। —सायण
२. श्रु श्रवणे, औणादिक आय्य प्रत्यय। श्रवः श्रवणीयं यशः, निरु० ११.५।
३. आजि=संग्राम। निघं० २.१७

१८५. तरस रहा हूँ तुम्हारी रस-धार के लिए

कुदा वंसो स्तोत्रं हर्यंत आवं श्मशा रुंधद् वाः।
दीर्घं सुतं वाताप्यांय॥

—ऋ० १०.१०५.१

ऋषिः—कौत्सः दुर्मित्रः सुमित्रः वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥

(कदा) कब **(वसो)** हे निवासक इन्द्र परमेश्वर! **(हर्यतः**[1]**)** तुम्हारी कामना करनेवाले मुझ भक्त के **(स्तोत्रम्)** स्तोत्र के पास **(आ)** आओगे? कब **(श्मशा**[2]**)** रस की नहर **(वाः)** रस को **(अवरुधत्)** तुम्हारे पास से नीचे मेरी ओर लाएगी? **(दीर्घम्)** दीर्घकाल से **(सुतम्)** भक्ति की है [मैंने] **(वाताप्याय**[3]**)** रस के लिए।

हे मेरे इन्द्र प्रभु! न जाने कब से मैं तुम्हारे नाम को जप रहा हूँ! न जाने कब से अपने भक्ति-रस की लहर तुम्हारी ओर प्रवाहित कर रहा हूँ! न जाने कब से तुम्हारे आगमन की आशा में अपने पलक-पाँवड़े बिछा रहा हूँ! न जाने कब से तुम्हें रिझाने के लिए संगीत के तार छेड़ रहा हूँ! न जाने कब से एक तुम्हारी ही धुन लगी हुई है! घण्टों आँख मीचकर बैठा रहता हूँ, घण्टों तुम्हारी आराधना में लीन रहता हूँ। साधु-महात्माओं ने कहा—तप करने से ही प्रभु प्रसन्न होंगे। सो तप भी तप रहा हूँ। सूर्य की ओर दृष्टि करके पानी में एक पैर से घण्टों खड़ा रहता हूँ। शीत की रातों में नग्नशरीर घण्टों चकोर की तरह चाँद की ओर एकटक निहारता रहता हूँ। कई-कई दिनों का निर्जल उपवास करता हूँ। वर्षों से तुम्हारी बाट जोह रहा हूँ। सन्तों से सुना है कि तुम्हारा आनन्द-रस अमृत से भी बढ़कर है। तुम्हारे उस रस की एक बूँद पाने के लिए तरस रहा हूँ। मुझे तुम्हारी ही रट लगी हुई है, एक तुम्हारी ही कामना है। अपने इस प्रेमी का तँबूरे पर तान के साथ गाया स्तोत्र सुनने के लिए तुम कब आओगे?

सूखे खेत को सरस करने के लिए बड़ी नदी से नहर निकालकर लाई जाती है। मेरे कुम्हलाते हृदय को अपनी आनन्द-रस की नहर से सींचकर कब सरसाओगे? अब भी नहीं रीझ रहे हो! हे प्रभु! इतने कठोर क्यों होते हो? मेरी पूजा में कोई त्रुटि है तो बताओ, मैं उसे सुधार लूँगा, परन्तु अब दर्शन में विलम्ब असह्य होता जा रहा है।

क्या कहते हो—'तू जैसी पूजा कर रहा है, वह पूजा नहीं है, छल-प्रपञ्च है, दिखावा है। तेरा निराश्रय पड़ोसी रोग से कराह रहा है और तू जप में लगा है? गरीबों की सेवा के लिए तेरे दरवाजे पर कोई दस्तक दे रहा है और तू मेरे ध्यान में आँख मूँदे बैठा है? हजारों भूकम्प-पीड़ितों के आर्तनाद आकाश में गूँज रहे हैं और तू भक्ति के गीत गुनगुना रहा है? असहायों की सेवा कर! जिस आनन्द की रस-धार के लिए तू तरस रहा है, वह तुझे स्वतः मिल जाएगी।'

ऐसा ही करूँगा, हे मेरे प्रभु! तुमने मेरी आँखें खोल दी हैं।

---

१. हर्य गतिकान्त्योः, भ्वादिः। कान्तिः कामना।
२. श्मशा नदी। 'श्मशा शु अश्नुते', निरु० ५.४६।
३. वाताप्यम् उदकं भवति, वात एतद् आप्याययति। निरु० ६.११३

१८६. ऋचा से ऋचा-रहितों को जीत लें

अव नो वृजिना शिशीह्यृचा वनेमानृचः।

नाब्रह्मा यज्ञ ऋधग् जोषति त्वे॥ —ऋ० १०.१०५.८

ऋषिः—दुर्मित्रः सुमित्रो वा कौत्सः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥

हे इन्द्र! (**नः**) हमारे (**वृजिना**[1]) वर्जनीय आचरणों को, पापों को (**अव शिशीहि**[2]) अवध्वस्त कर दो, तोड़ गिराओ। (**ऋचा**) ऋचा के द्वारा (**वनेम**[3]) जीत लें (**अनृचः**) ऋचा-रहितों को। (**अब्रह्मा यज्ञः**) ब्रह्मारहित यज्ञ (**ऋधक्**[4]) अलग-थलग पड़ा हुआ (**त्वे**) तुझे (**न जोषति**[5]) सन्तुष्ट नहीं करता है, प्रिय नहीं होता है।

हे जगत्पति! हे करुणेश! तुम्हें वेदशास्त्रों ने 'इन्द्र' कहकर पुकारा है। व्याख्याकारों ने कहा है कि तुम्हारा नाम 'इन्द्र' इस कारण है कि तुम 'इन्द-द्र'[6] हो, अर्थात् वीरता के ऐश्वर्य से युक्त होकर शत्रुभूत दोषों को विदीर्ण कर देनेवाले हो। आज मैं भी तुम्हारे द्वार पर यह माँगने के लिए आया हूँ कि मेरे जो वर्जनीय या निन्दित आचरण हैं, मेरे अन्दर जो पाप पनप रहे हैं, उन्हें तोड़ गिराओ, पूर्णतः चकनाचूर कर दो, जिससे वे फिर उभरकर मुझे न आ घेरें। यह प्रार्थना मैं अकेले अपने लिए नहीं, किन्तु सारे सामाजिक साथियों के लिए कर रहा हूँ। हम सभी के पाप-विचारों को तथा पाप-कर्मों को विनष्ट करके तुम हमें निष्पाप एवं पवित्रात्मा बना दो।

दूसरी प्रार्थना मैं तुमसे यह करता हूँ कि हमारे अन्दर ऐसी शक्ति भर दो कि हम ऋचा द्वारा ऋचा-रहितों को जीत लें, अपने मधुर व्यवहार द्वारा कटुता से भरे हुओं को भी अपना बना लें, स्तुति द्वारा निन्दकों को अपने चरणों में झुका लें, प्रेम द्वारा द्वेषियों को अपने प्रशंसक बना लें। जो हम पर पत्थर बरसाएँ, उन पर हम फूल न्यौछावर करें। जो हम पर कीचड़ फेंकें, उन्हें हम गले लगाएँ। जो हमें शत्रु समझें, उन्हें हम मित्र मानें। बुरे से बुरा मनुष्य भी बुराई छोड़कर भला बन सकता है, यदि हम बुरे को नहीं, किन्तु उसकी बुराई को नष्ट करने का यत्न करें।

हे देवाधिदेव परमेश! ब्रह्मारहित यज्ञ तुम्हें प्रिय नहीं है। यज्ञ में ब्रह्मा मन्त्रोच्चारण या याज्ञिक विधि-विधान में होनेवाली त्रुटियों को निवारण करता हुआ यजमान के यज्ञ को पूर्णता तक पहुँचाता है। जो यज्ञ ब्रह्मा न होने के कारण त्रुटिपूर्ण रहता है, वह विशेष फलदायक नहीं होता। इसी प्रकार जनसेवा के जो भी महान् कार्य हैं, वे सब यज्ञ हैं। उन सबमें भी किसी ब्रह्मा या नायक का होना आवश्यक होता है। कुशल नेता से विहीन यज्ञ अलग-थलग पड़कर तथा दिग्भ्रष्ट होकर उल्टा हानिकर सिद्ध होता है। अतः हम कुशल ब्रह्मा या नायक चुनकर ही किसी महा-यज्ञ में प्रवृत्त होते हैं।

---

१. वृजिनानि वर्जनीयानि। निरु० १०.२६, वृजी वर्जने, अदादिः।
   वृजिन=पाप, अमरकोष १.४.२३।
२. शिशीते निश्यति, निरु० ४.३४, शो तनूकरणे।
३. वन शब्दे संभक्तौ च, भ्वादिः।
४. ऋधगिति पृथग्भावस्य प्रवचनं भवति। निरु० ४.६०
५. जुषी प्रीतिसेवनयोः, तुदादिः।
६. इन्दन् शत्रूणां दारयिता द्रावयिता वा। निरु० १०.४
   इदि परमैश्वर्ये, दॄ विदारणे, द्रु गतौ।

१८७. दान-दक्षिणा का सुख

न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः।
इदं यद् विश्वं भुवनं स्वश्चैतत् सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति॥

—ऋ० १०.१०७.८

ऋषिः—दिव्यः आङ्गिरसः दक्षिणा वा प्राजापत्या॥ देवता—दक्षिणा दक्षिणादातारो वा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**न**) न (**भोजाः**[1]) दानी लोग [दान देने से] (**मम्रुः**) मरते हैं, (**न**) न ही (**न्यर्थम् ईयुः**) निर्धनता को प्राप्त करते हैं। (**न**) न (**रिष्यन्ति**[2]) क्षीण होते हैं, (**न व्यथन्ते ह**) न ही व्यथित होते हैं (**भोजाः**) दानी लोग। (**इदं यत्**) यह जो (**विश्वं भुवनम्**) सारा भुवन है, अर्थात् सारे भुवन की बहुमूल्य वस्तुएँ हैं (**स्वः च**) और सुख है, (**एतत् सर्वम्**) यह सब (**दक्षिणा**) दक्षिणा (**एभ्यः**) इन्हें (**ददाति**) दे देती है।

किसी सत्कार्य के लिए जब हमसे कोई दान माँगने आता है, तब हमारी विभिन्न प्रतिक्रियाएँ होती हैं। सेठजी, ये भूकम्प-पीड़ितों के लिए दान लेने आए हैं; कहते हैं हमारा वहाँ अपना शिविर लगा हुआ है। अभी कोई बाढ़-पीड़ितों की सहायतार्थ भी तो चन्दा लेने आए थे, उन्हें क्या दिया था? उन्हें इक्यावन रुपये दिये थे। ठीक है, इक्कीस रुपयों की रसीद कटा लो। पहले मालूम होता कि ये लोग भी आएँगे, तो इक्यावन का आधा-आधा दोनों को दे देते। कह दो, सेठजी व्यस्त हैं, वे नहीं मिल पाएँगे। भाई-साहब, मन्त्रीजी ने वेदप्रचार के लिए आपके नाम पाँच सौ रुपये लिखे हैं, सो आपको देने हैं। वेदप्रचार कैसा होता है, सो हमें सब मालूम है। उपदेशकों को वेतन तो सभा दे ही रही है, अब इस रुपये का क्या होगा? मन्त्रीजी से मेरी ओर से क्षमायाचना कर लेना। वेतन ही कितना है, न जाने किस-किस को देना पड़ता है! चन्दा माँगनेवाले आते ही रहते हैं, मना तो किसी को कर नहीं सकते। माताजी, इस बार अपने आर्यसमाज की शताब्दी है, धूमधाम से मनेगी, आपके नाम कितना चन्दा लिख लें? भाईजी, पूछना क्या है, आपकी बात क्या कभी टाली है? ठीक है, दो हजार रुपया आपके नाम लिख रहे हैं; चाहे अपने पास से दो, चाहे इकट्ठा करके दो। अजी, ये दो हजार तो अपने पास से ही दे दूँगी, इकट्ठा जो होगा सो अलग से हो जाएगा। काम क्या किसी दूसरे का है? धन्यवाद, माताजी!

किसी शुभ अवसर पर हम महोत्सव रचाते हैं, आनन्दोत्सव मनाते हैं, यज्ञ का भी आयोजन करते हैं, खुले हाथ खर्च करते हैं; किन्तु पुरोहितजी को दक्षिणा देते समय यदि हमारे मन में कृपणता रहती है, तो हम वेद के आदेश का उल्लङ्घन कर रहे हैं।

कवि भर्तृहरि ने कहा है—"धन की तीन ही गतियाँ होती हैं—दान, भोग और विनाश। जो धन का न दान करता है, न भोग, उसके धन की तीसरी गति होनी निश्चित है।" वेद का परामर्श है—"दान देने से कोई मर नहीं जाता, दान देने से कोई निर्धन नहीं हो जाता। दान देने से कोई क्षीण नहीं होता। दान देने से किसी को व्यथित नहीं होना पड़ता। दान देने से कोई घाटे में नहीं रहता, प्रत्युत संसार में जो अनेक बहुमूल्य पदार्थ हैं, वे सब दान देनेवाले को मिल जाते हैं। दान देने से जो सुख अनुभव होता है, वह सब सुखों से बढ़कर है।"

---

१. भोजयन्ति निर्धनान् ये ते भोजाः दानदातारः।
२. रिष हिंसायाम्, दिवादिः।

१८८. रूप-रंग और आकृतियाँ देनेवाला अनोखा शिल्पी

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्॥

—ऋ० १०.११०.९

ऋषिः—जमदग्निः भार्गवः, जामदग्न्यः रामो वा॥ **देवता**—त्वष्टा॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥

(यः) जिसने **(इमे)** इन **(जनित्री)** जन्म देनेवाले **(द्यावापृथिवी)** सूर्यलोक और भूलोक को, तथा **(विश्वा भुवनानि)** अन्य सब भुवनों को **(रूपैः)** रूप-रंगों एव आकृतियों से **(अपिंशत्[१])** अभिव्यक्त किया है, **(तं देवं त्वष्टारम्)** उस त्वष्टा देव को **(अद्य)** आज **(होतः)** हे पूजक! **(यजीयान्[२])** पूजन में कुशलतर **(विद्वान्)** विद्वान् तू **(इषितः[३])** हमसे प्रेरित होकर **(इह)** यहाँ **(यक्षि[४])** पूज।

त्वष्टा जगत् का शिल्पी परमेश्वर है, जिसने पदार्थों की रचना भी की है और उनमें रूप-रंग भी भरा है। तरुओं की हरित पत्रावलि में और मैदान की हरी मखमली घास में हरा रंग किसने भरा है? श्वेत, लाल, पीले, गुलाबी, बैंजनी बहुरंगी फूलों में किसका रूप झाँक रहा है? तोतों के हरे पंखों में, और उनकी लाल चोंच में, उड़ती हुई रंग-बिरंगी तितलियों में, डालों पर चहकते हुए बहुरंगे पक्षियों में चित्रकारी किसने की है? बर्फीले पर्वतों को श्वेत आभा और हरियाले पर्वतों को हरी आभा किसने दी है? चाँदी को चाँदनी रंगत और सोने को सुनहरी रंगत किसकी देन है? कौए, कोयल और कोयले में स्याही रंग लानेवाला कौन है? हीरे, मोती, पन्ने को उज्ज्वलता देनेवाला कौन है? अन्तरिक्ष-पट पर बादलों के रंग किसने उभारे हैं? चट्टानों में कठोरता और परिपक्व फलों में तथा रुई में मृदुता किसने पैदा की है? सूरज, चाँद, आग, बिजली, जुगनू को चमक देनेवाला कौन है? सूर्य और भूमि से अतिरिक्त सुदूर गगन में जो असंख्य नक्षत्रलोक दिखाई दे रहे हैं, इनमें चमक-दमक निखारनेवाला कौन है? उस परम शिल्पी त्वष्टा प्रभु ने ही सब पदार्थों में यह रूप-रंग की रंगोली की है।

रूप का एक और अर्थ भी होता है, जिसे आकृति कहते हैं। संसार के जड़-चेतन विभिन्न पदार्थों की आकृतियों पर दृष्टिपात करें तो हम और भी अधिक विस्मय में पड़ जाते हैं। अणु से लेकर महान् से महान् वस्तुओं को उस 'त्वष्टा' शिल्पी ने आकृतियाँ दी हैं। जो आकार जिसके अनुरूप है, वही आकार उसे दिया है। नन्ही-सी चींटी को कैसी आकृति दी है कि वह अपने से अधिक भारी वस्तुओं को खींच ले जाती है। गाय, भैंस, बकरी, भेड़, ऊँट, खरगोश, नेवला सबको अनुकूल आकृतियाँ दी हैं। इस सृष्टि के सर्वोच्च प्राणी मानव को भी उसकी सुविधा के योग्य कैसी अद्भुत आकृति प्रदान की है! इस पर विचित्रता यह है कि प्रत्येक मनुष्य की आकृति भिन्न है, जिससे वह पहचाना जाता है।

आओ, समस्त पदार्थों को रूप-रंग और आकृतियाँ बाँटनेवाले उस 'त्वष्टा' प्रभु के हम सब मिलकर गीत गाएँ।

---

१. पिश अवयवे, तुदादिः।
२. अतिशयेन यष्टा। यष्टृ—ईयसुन् प्रत्यय।
३. इष गतौ दिवादिः, क्त प्रत्यय।
४. यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु, भ्वादिः। लोट्, मध्यम पुरुष, एकवचन, छान्दस रूप॥

१८९. हम सखाओं की सुध लो

अभिख्या नो मघवन् नाधमानान्त्सखे बोधि वसुपते सखीनाम्।
रणं कृधि रणकृत् सत्यशुष्माऽ भक्ते चिदा भजा राये अस्मान्॥

—ऋ० १०.११२.१०

ऋषिः—नभःप्रभेदनः वैरूपः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**अभिख्य**[1]) कृपादृष्टि से देखो (**मघवन्**) हे ऐश्वर्यशाली इन्द्र प्रभु! (**नाधमानान्**[2] **नः**) हम याचना करते हुओं को। (**सखे**) हे सखा! (**वसुपते**) हे निवासक गुणों के अधिपति! (**बोधि**) सुध-बुध लो (**सखीनाम्**) हम सखाओं की। (**रणं कृधि**) रण करो (**रणकृत्**) हे रणकर्त्ता! (**सत्यशुष्म**) हे सत्य बलवाले प्रभु! (**अभक्ते चित्**) भक्त जैसा आचरण न होने पर भी (**आ भज**[3]) भागी बनाओ (**राये**) ऐश्वर्य के लिए (**अस्मान्**) हमें।

हे परमेश! तुम ऐश्वर्यों के स्वामी हो, हम अकिञ्चन हैं। तुम राजराजेश्वर हो, हम निर्धन हैं। जिसके पास वैभव नहीं है, वही वैभवशाली के आगे हाथ पसारता है। हे प्रभु! हम याचना करनेवालों की उपेक्षा मत करो, हमें कृपादृष्टि से देखो। क्या कहते हो?—'तुम्हें हाथ दिये हैं, पौरुष करो, स्वयं कमाओ।' हे भगवन्! हम पौरुष के साथ ही तुमसे वैभव की याचना कर रहे हैं, क्योंकि पौरुष भी तुम्हारी कृपा होने पर ही फलदायक होता है। यह हम नहीं चाहते कि औरों का भी धन समेटकर अपने पास भर लें। पर हमें समृद्ध जीवनयापन के लिए जितना चाहिए, उतना तो दो ही।

कहते हैं कि सुदामा और कृष्ण सहाध्यायी सखा थे। गुरुकुल से पढ़कर निकलने के बाद सुदामा गरीबी का जीवन बिताने लगा और कृष्ण के ठाठ ही निराले थे, धन-वैभव की कमी नहीं थी। पर कृष्ण ने सुदामा की कभी सुध नहीं ली। फिर भी जब सुदामा अपने सखा कृष्ण के पास स्वयं गया, तब तो कृष्ण निहाल हो गए, गरीब सखा की कुटिया को प्रासाद बनवा दिया। ऐसे ही हे प्रभुवर! हम तुम्हारे सखा स्वयं तुम्हारे पास आए हैं, अब तो हमारी सुध लो। तुम वसुपति हो, निवासक सद्गुणों के अधिपति हो। तुम हमें न्याय, दया, उदारता, सच्चारित्र्य, सेवाभाव, सहिष्णुता, परोपकार आदि सद्गुणों का वसु प्रदान कर दो, हम-सुदामाओं का हृदय-मन्दिर सद्गुणों के वैभव से भर दो।

क्या कहते हो? हमारे अन्दर बैठे हुए असुर सद्गुण-प्रदान में बाधक बन रहे हैं। यदि ऐसा है तो हे रणकर्त्ता! उनके साथ तुम रण छेड़ दो। तुम्हारा बल सच्चा बल है, अतः उसके सम्मुख वे असुर नहीं टिक सकेंगे। उन्हें पराजित करके निर्विघ्न होकर तुम हमारे ऊपर सद्गुणों का धन बरसाओ। सम्भव है अपनी न्यूनताओं के कारण हम कभी-कभी पूर्ण भक्तों जैसा आचरण न भी कर पाएँ। फिर भी तुम हमारी त्रुटियों की ओर ध्यान न देकर अपने दिव्य ऐश्वर्यों का भागी बनाते रहो। हे प्रभु! हम तुम्हें कृतज्ञता एवं धन्यवाद की कुसुमाञ्जलि अर्पित करते हैं।

---

१. चक्ष (चष्टे) दर्शनार्थक, चक्ष को ख्या आदेश।
२. नाथृ नाधृ याञ्चोपतापैश्वर्यादिषु।
३. आ भज=आ भाजय।

१९०. चारों सोम तुझे आनन्दित करें

ममत्तु त्वा दिव्यः सोम इन्द्र ममत्तु यः सूयते पार्थिवेषु।
ममत्तु येन वरिवश्चकर्थ ममत्तु येन निरिणासि शत्रून्॥ —ऋ० १०.११६.३

ऋषिः—अग्नियुतः अग्नियूपो वा स्थौरः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(ममत्तु[1]) आनन्दित करे **(त्वा)** तुझे **(दिव्यः सोमः)** अलौकिक सोम **(इन्द्र)** हे जीवात्मन्! **(ममत्तु)** आनन्दित करे [वह सोम] **(यः)** जो **(सूयते)** अभिषुत किया जाता है **(पार्थिवेषु)** पृथिवी के शासक राजाओं में। **(ममत्तु)** आनन्दित करे [वह सोम] **(येन)** जिससे तू **(वरिवः[2])** धन **(चकर्थ)** उत्पन्न करता है। **(ममत्तु)** आनन्दित करे [वह सोम] **(येन)** जिससे [तू] **(निरिणासि[3])** पीड़ित करता है **(शत्रून्)** वैरियों को।

हे मानव! हे आत्मन्! जीवन में उन्नति के सोपानों पर चढ़ने के लिए तथा उज्ज्वल सफलताएँ प्राप्त करने के लिए तुझे कई प्रकार के सोमरसों का पान करना होगा। देख, एक दिव्य सोम है, जो खाये-पिये जानेवाले लौकिक सोमरसों से विलक्षण है। यह चामत्कारिक अलौकिक सोमरस ब्रह्मानन्द है। तू इसकी प्राप्ति कर सकता है प्रभु के समीप बैठकर, प्रभु की उपासना करके, प्रभु में रमकर। गंगा में गोता लगाने से गंगाजल की प्राप्ति हो जाती है, गंगाजल की निर्मलता से तन निर्मल हो जाता है, गंगाजल की शीतलता से मन शीतल हो जाता है। ऐसे ही प्रभु में रमने से, प्रभु की आनन्दधारा में स्नान करने से आत्मिक शान्ति अधिगत हो जाती है, सांसारिक आघात-प्रतिघातों से उत्पन्न समस्त मानसिक व्यथाओं के कालुष्य उस आनन्द की धार से धुल जाते हैं। वह दिव्य सोम तुझे आनन्दित करे, हर्षित करे, तरंगित करे।

दूसरा सोमरस वह है, जिसे राष्ट्रभूमि के शासक राजा लोग अपने अन्दर अभिषुत करते हैं। राजाओं में शासकों के गुण होते हैं, राजकीय प्रभाव और तेज होता है, प्रजापालन की कर्मठता होती है, न्यायकारिता का उत्साह होता है, अभयदान की उमंग होती है, शान्ति का प्रसाद होता है, क्रान्ति की तरंग होती है, विद्या और धर्म का प्रताप होता है, क्षमा की शुचिता होती है, रामराज्य का वरदान होता है। ये गुण ही राजकीय सोमरस हैं। हे मानव! यह राजाओं का सोमरस भी तुझे आनन्दित करे, आन्दोलित करे, उद्वेल्लित करे।

तीसरा सोम वह है, जिससे तू धनार्जन करता है। धन कमाने की भी एक कला है। उस कला में तुझे निष्णात होना होगा। पर यह याद रखना कि वेद पुण्य की लक्ष्मी का ही अभिनन्दन करता है। लक्ष्मीवान् होने की जो वैदिक विद्या तू सीखेगा, उसमें श्रमिकों के शोषण का कोई स्थान नहीं है, उसमें दुनियाभर की दौलत अपने पास समेट लेने का कोई उपदेश नहीं है, उसमें दूसरों को गरीब करके स्वयं अमीर होने का कोई सूत्र नहीं है। धनार्जन का सोम वह सात्त्विक सोम है, जिसमें दानशीलता है, त्याग है, सहानुभूति है। हे आत्मन्! वह धनिकों का सोम भी जीवन में तुझे आनन्दित करे, उल्लसित करे, आप्यायित करे।

चौथा सोम वह वीर रस है, जिससे विक्रमी मनुष्य शत्रुओं को पीड़ित करता है, पराजित करता है, हिंसित करता है। समग्र संकटों, विपदाओं और रिपुओं पर विजय पाने का यह वैदिक सूत्र सफलता की कुञ्जी है। वीरता का यह सोमरस भी तुझे जीवन में आनन्दित करे, उद्बुद्ध करे, विजयी करे।

---

१. मदी हर्षे, दिवादिः, माद्यति। 'ममत्तु' जुहोत्यादिगणी वैदिक रूप है।
२. वरिवः=धन, निघं० २.१०।
३. नि-री गतिरेषणयोः, क्र्यादिः।

१९१. किसान का ट्रैक्टर

कृषन्नित् फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः।
वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात्॥

—ऋ० १०.११७.७

ऋषिः—भिक्षुः आङ्गिरसः॥ देवता—धनान्नदानम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**कृषन् इत्**) भूमि को खोदता हुआ ही (**फालः**) ट्रैक्टर, किसान को (**आशितं**[1] **कृणोति**) भोक्ता बनाता है। वह (**यन्**[2]) चलता हुआ, अर्थात् पूर्व-पूर्व स्थान का त्याग करता हुआ (**चरित्रैः**) पैरों से, अर्थात् आगे लगे हुए कुदालों से (**अध्वानम्**) रास्ते को (**अप वृङ्क्ते**[3]) काटता है। इसी प्रकार (**वदन्**) बोलता हुआ, उपदेश देता हुआ (**ब्रह्मा**) ज्ञानी (**अवदतः**) न बोलनेवाले से (**वनीयान्**[4]) अधिक सेवनीय है और (**पृणन्**) दान करता हुआ (**आपिः**) बन्धु (**अपृणन्तम्**) दान न करनेवाले को (**अभिष्यात्**) पराजित कर देता है।

खेतों में फसल खड़ी लहलहा रही है। किसान आनन्दित हो रहा है। किन्तु इस सफलता का आदिम श्रेय किसान के ट्रैक्टर को है, जिसने अपने पैरों से घास, काँटे, कंकड़वाली भूमि को खोदकर बीज बोने योग्य बनाया। प्रारम्भिक कार्य ही कठिन होता है; पृष्ठभूमि तैयार हो जाने पर आगे कार्यसिद्धि कर लेना आसान हो जाता है। ट्रैक्टर का त्याग तो देखो! प्रथम तो वह खेत को खोदता हुआ, अपने फलकों को घिसाता हुआ भी इस क्षति की कुछ पर्वाह नहीं करता। उसकी मानो यही धारणा रहती है कि मेरे पैर भले ही घिस जाएँ, पर मैं खेत को बीज बोने योग्य बना दूँ। दूसरे, वह त्याग का सन्देश इस प्रकार भी देता है कि पूर्व-पूर्व स्थान का त्याग करके नये-नये स्थान को प्राप्त करता चलता है। यदि वह अपने पैरों को भूमि में एक ही स्थान पर गड़ाए रखे तो न भूमि की खुदाई हो सकती है, न आगे के बीजवपन, अंकुरोत्पत्ति, सिंचाई आदि के कार्य हो सकते हैं। इस प्रकार किसान का ट्रैक्टर स्वयं कठिन साधना करके किसान का मार्ग प्रशस्त करता है और किसान को भोक्ता बनाता है। किसान के ट्रैक्टर से हम भी त्याग का पाठ सीखें। हम भी स्वयं कठिन कार्यों को करके दूसरों का मार्ग सुगम करें, स्वयं विपत्ति में पड़कर दूसरों की सम्पदा में हेतु बनें।

किसान के ट्रैक्टर का दृष्टान्त देकर वेद कहता है कि इसी प्रकार बोलनेवाला ज्ञानी न बोलनेवाले से बढ़कर है। ज्ञानी बनकर मनुष्य अध्यापन, उपदेश, ग्रन्थलेखन आदि के द्वारा अन्यों को भी ज्ञान का दान करे, तभी उसकी अपनी ज्ञानसाधना सफल होती है। ज्ञानी बनने के पश्चात् जो लोग मौनी होकर जंगलों में जाकर तपस्या में रत हो जाते हैं, वे आत्मलाभ भले ही पा लें, पर आचार्य-ऋण से उऋण नहीं हो पाते। जिसने स्वयं ज्ञानदान लिया है, उसका कर्त्तव्य है कि वह भी दूसरों को ज्ञानदान दे।

जो बात ज्ञानदान के सम्बन्ध में है, वही धन और अन्न के दान पर भी लागू होती है। सत्पात्र भिक्षु की झोली में जो धन और अन्न डालता है, वह पुण्य का कार्य करता है। वह दान न करनेवाले की अपेक्षा सदाशयता, परोपकारिता और कीर्ति में आगे बढ़ जाता है।

---

१. कृषन् कृषिं कुर्वन् फालः आशितं कर्षकं भोक्तारं कृणोति। —सायण।
२. इण् गतौ, अदादिः। शतृ प्रत्यय।
३. अप-वृजी वर्जने, अदादिः।
४. वन संभक्तौ। अतिशयेन वनिता वनीयान्। ईयसुन् प्रत्यय।

१९२. आओ, वृत्र को जीतें

इदं स्वरिदमिदास वाममयं प्रकाश उर्वन्तरिक्षम्।
हनाव वृत्रं निरेहि सोम हविष्ट्वा सन्तं हविषा यजाम॥

—ऋ० १०.१२४.६

ऋषयः–अग्निवरुणसोमाः॥ **देवता**–सोमः॥ **छन्दः**–त्रिष्टुप्॥

(इदं स्वः) यह सुख है, **(इदम् इत् आस)** यह है **(वामम्[1])** प्रशस्त सौन्दर्य। **(अयं प्रकाशः)** यह प्रकाश है, और यह **(उरु अन्तरिक्षम्)** विशाल अन्तरिक्ष है। आ, हम दोनों मिलकर **(हनाव)** मारें **(वृत्रम्)** वृत्र को, पाप को। **(निरेहि[2])** निकलकर आ **(सोम)** हे सोम! **(हविः त्वा सन्तम्)** हवि होते हुए तुझे **(हविषा)** हवि से **(यजाम)** पूजित करें।

पाप-विचाररूप 'वृत्र' का उपद्रव असह्य हो गया है। वह जब चाहे आक्रमण कर बैठता है, बड़े यत्न से बनाई गई हमारी सद्विचारों की बस्ती को उजाड़ देता है। हमें पाप में प्रवृत्त करने के लिए घसीट ले जाता है। पिण्ड छुड़ाकर बच भी निकलते हैं, तो फिर आकर दबोच लेता है। कभी हमारी दयावृत्ति पर प्रहार करता है, कभी त्यागवृत्ति पर बाणवर्षा करता है, कभी अहिंसा, सत्य और अस्तेय की वृत्ति को पद्दलित करता है, कभी क्षमा और जितेन्द्रियता की वृत्ति पर क्रूरता दिखाता है। इसे हम कब तक सहते रहेंगे?

मन्त्र में 'सोम' जीवात्मा है। मनुष्य का मन जीवात्मा को उद्बोधन दे रहा है। हे आत्मन्! घर में से निकलकर रणभूमि में आओ। मैं और तुम दोनों मिलकर वृत्रासुर का वध कर डालेंगे। मुझमें कुछ कम हिम्मत नहीं है। मेरे दृढ़ संकल्प के आगे बड़े-बड़े रिपुदलों के भी छक्के छूट जाते हैं। फिर तुम तो शक्ति के भण्डार ही हो। तुम्हारा आत्मबल जग-प्रसिद्ध है। आत्मबल से ही प्राचीन ऋषि लोग जितेन्द्रियों में अग्रगण्य तथा सर्वजयी कहलाते रहे हैं। आत्मबल के आगे बड़े-से-बड़े मारक शस्त्रास्त्र कुण्ठित हो जाते हैं। आत्मबल तो बिना शस्त्र-प्रयोग के शत्रु को चरणों में झुका लेता है। हे आत्मन्! अपनी शक्ति पहचानो। देखो, विजय का उल्लास खड़ा हुआ तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। सामने देखो, सफलता का सुख, सौन्दर्य, प्रकाश, विजयोपरान्त के कार्यक्षेत्र का विशाल अन्तरिक्ष क्या मुस्कराता हुआ तुम्हें दिखाई नहीं दे रहा है? बस, रणक्षेत्र में तुम्हारे उतरने-भर की देर है, पापासुर के वृत्र को मरा ही समझो। तुम हवि बनकर आन्तरिक समर में कूद पड़ो। विजय के पश्चात् शरीरस्थ सब देव बुद्धि, प्राण, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ पुलकित होकर तुम्हारा अभिनन्दन करेंगे, हवि से तुम्हारा सत्कार करेंगे, सद्विचारों की अक्षत-रोली से तुम्हारे भाल पर तिलक लगाएँगे, तुम्हारा पूजन करेंगे, पाप-वृत्र द्वारा अधिकार-च्युत किये गए तुम्हें पुनः राजसिंहासन पर बिठाएँगे।

आओ, हे आत्मन्! मैं और तुम मिलकर वृत्र को जीतें।

---

१. वाम=प्रशस्य, निघं० ३.८। वाम=वननीय, सेवनीय। निरु० ४.६२

२. निर्-आ-इण् गतौ।

१९३. प्राणों में विचरनेवाला हंस

बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।
अनुष्टुभमनु चर्चूर्यमाणमिन्द्रं नि चिक्युः कवयो मनीषा॥ —ऋ० १०.१२४.९

ऋषयः—अग्निवरुणसोमाः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**बीभत्सूनां**[१]) शरीरावयवों को एक सूत्र में बाँधनेवाले प्राणों के (**सयुजम्**) साथ नियुक्त [तथा उन] (**दिव्यानाम् अपाम्**[२]) दिव्य प्राणों के (**सख्ये**) सखित्व में (**चरन्तम्**) विचरण करते हुए जीवात्मा को (**हंसम् आहुः**) हंस कहते हैं।[३] (**कवयः**) मेधावी जन (**अनुष्टुभम्**[४]) अनुकूलतया देह को थामनेवाले, (**अनु चर्चूर्यमाणम्**[५]) अनुकूलतया पुनः-पुनः क्रिया करनेवाले (**इन्द्रम्**) उस जीवात्मा को (**मनीषा**) मन एवं बुद्धि द्वारा (**नि चिक्युः**[६]) निश्चयपूर्वक देखते हैं।

ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ आदि शरीर के सब अवयव प्राणरूप बन्धन से बँधे हुए कार्य कर रहे हैं। शरीरस्थ पञ्च तत्त्व पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश भी प्राण से ही नियन्त्रित हैं। प्रश्नोपनिषत् की कथा है कि एक बार इन पञ्च तत्त्वों तथा वाक्, चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों को अभिमान हो गया कि हम ही शरीर का धारण और प्रकाशन कर रहे हैं। वरिष्ठ प्राण ने उन्हें कहा कि मोह में मत पड़ो, असल में मैं ही हूँ जो प्राण-अपान आदि पाँच रूपों में स्वयं को प्रविभक्त करके विभिन्न संस्थानों में स्थित होकर देह का धारण कर रहा हूँ। प्राण की बात पर उन्हें विश्वास नहीं हुआ। तब प्राण देह से बाहर निकलने लगा। उसके निकलने लगते ही उसके साथ-साथ सब बाहर घिसटने लगे, उसके प्रतिष्ठित होते ही पुनः सब प्रतिष्ठित हो गए। तब सबने मिलकर प्राण की स्तुति की। परन्तु प्राण भी स्वतन्त्र नहीं है, वह जीवात्मा के आश्रित है। प्राणों का एक नाम 'आपः' है, जिसका अर्थ जल भी होता है। जीवात्मारूप हंस प्राणरूप जलों में तैरता है, उनके सख्य में विचरता है। जीवात्मा जब माता के गर्भ में आता है, तब भी प्राण के साथ आता है और जब मरणकाल में शरीर से बाहर जाता है, तब भी प्राण के साथ निकलता है। बहिःस्थ आत्मा के साथ जो सूक्ष्म शरीर रहता है, उसमें भी एक तत्त्व प्राण होता है।

जीवात्मा 'अनुष्टुभ्' है, अनुकूल रूप से देह को धारण करनेवाला है। हंस नाम के अतिरिक्त जीवात्मा का एक नाम 'इन्द्र' भी है, यतः वह परमैश्वर्य-सम्पन्न है। मेधावी जन उस आत्मा के दर्शन में यत्नशील होते हैं। जीवात्मा का दर्शन या ग्रहण चक्षु, श्रोत्र आदि बाह्य इन्द्रियों से नहीं होता। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञानरूप लिंगों से उसका अनुमान होता है।[७] जिस जाति के पदार्थ के उपयोग से मनुष्य पहले कभी सुख पा चुका होता है, उस जाति के पदार्थ को देखकर उसे ग्रहण करने की इच्छा करता है। जिस जाति के पदार्थ से पहले कभी दुःख पा चुका होता है, उस जाति के पदार्थ से द्वेष करता है। फिर ग्राह्य पदार्थ को पाने का और त्याज्य पदार्थ को छोड़ने का प्रयत्न करता है। इस इच्छा, द्वेष एवं प्रयत्न से अनुमान होता है कि आत्मा नाम की कोई नित्य वस्तु है, जो पहले भी थी और अब भी है।

---

१. बीभत्सु। बध बन्धने, सन्नन्त उ प्रत्ययान्त रूप।
२. आपो वै प्राणाः। शत० ३.८.२.४, प्राणा वा आपः। तां० ब्रा० ९.९.४
३. सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे। श्वेता० उप० १.६
४. अनु-स्तुभु स्तम्भे। अनुष्टुब् अनुस्तोभनात्, दैवत ब्रा० ३.७
५. चर्चूर्यमाणम्=चञ्चूर्यमाणम्। चर गतिभक्षणयोः। यङ् शानच्।
६. 'चिक्यत्' दर्शनार्थक, निघं० ३.११।
७. इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख-ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्। न्याय० १.१.१०

१९४. मैं ही सबको अन्न खिलाती हूँ

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥

—ऋ० १०.१२५.४

ऋषिः—वागाम्भृणी॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(मया) मुझसे ही **(सः)** वह **(अन्नम्)** अन्न **(अत्ति)** खाता है, **(यः)** जो **(विपश्यति)** देखता-भालता है, **(यः)** जो **(प्राणिति)** साँस लेता है और **(यः)** जो **(ईम् उक्तम्)** इस कहे हुए को **(शृणोति)** सुनता है। **(माम् अमन्तवः[1])** जो मुझे नहीं मानते हैं **(ते)** वे भी [एक-न-एक दिन] **(उप क्षियन्ति[2])** मेरे पास आकर निवास करते हैं, मेरी शरण में आते हैं। **(श्रुत)** हे सुननेवाले, **(श्रुधि)** सुन, **(श्रद्धिवं)** श्रद्धा-योग्य वचन **(ते वदामि)** तुझे कह रही हूँ।

राजदरबार में एक दिन राजमन्त्री, एक व्यापारी और एक किसान बैठे हुए थे। राजा ने तीनों से पूछा—'तुम किसका दिया खाते हो?' राजमन्त्री ने कहा—'महाराज, मैं तो आपका दिया खाता हूँ।' व्यापारी ने कहा—'मेरे पूर्वज अपनी कमाई छोड़ गए थे, उसी से मैं व्यापार चलाता हूँ। इसलिए मैं तो पूर्वजों का दिया खा रहा हूँ।' किसान ने कहा—'राजन्, मैं तो जगदम्बा माँ का दिया खाता हूँ।' राजा बोले—'तू भी कितना मूर्ख है! सारा दिन पसीना बहाकर खेती करता है और कहता है माँ का दिया खाता हूँ। यह क्यों नहीं कहता कि अपनी कमाई का खाता हूँ?' किसान ने उत्तर दिया—'राजन्, धरती भगवान् की है, सूरज भगवान् का है, बरसात भगवान् करता है, गेहूँ के बीज भगवान् के हैं। मेरा इसमें क्या है, जो मैं कहूँ कि मैं अपनी कमाई का खाता हूँ?'

वेदमन्त्र में भी यही कहा गया है। जगदीश्वरी माँ कह रही है कि जो कोई भी आँखों से देखता है, नासिका से साँस लेता है और कानों से सुनता है, वह मेरा ही दिया अन्न खाता है। ध्वनि यह भी निकल रही है कि वह जो देखता, साँस लेता और सुनता है, वह भी मेरे ही दिये हुए साधनों से करता है।

दूसरी बात माँ यह कह रही है कि जो घोर से घोर नास्तिक हैं, किसी भी हालत में मेरी सत्ता और संसार में मेरा हस्तक्षेप स्वीकारने को तैयार नहीं हैं, वे भी किसी न किसी दिन मुझ पर भरोसा ले आते हैं और मेरी शरण में आकर बैठते हैं, मुझसे उत्साह पाते हैं, मेरे आशीर्वाद को बहुमूल्य अनुभव करते हैं। यह पूर्ण सत्य है। जगद्विख्यात नास्तिकों के भी जीवन में कोई न कोई ऐसी घटना घटित होती है, जिससे वे पक्के आस्तिक बन जाते हैं।

हे सुननेवालो, सुनो! जगदीश्वरी माँ पर, जगत् के संचालक भगवान् पर श्रद्धा लाओ। भगवान् एक ही है। वही हमारी माँ भी है, वही हमारा पिता भी है।

---

१. मन ज्ञाने, दिवादिः। औणादिक 'तु' प्रत्यय।
२. उप-क्षि निवासगत्योः, तुदादिः।

१९५. देव-निर्मित राजमहल

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते।
इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः॥ —ऋ० १०.१३५.७

ऋषिः—कुमारः यामायनः॥ देवता—यमः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

(**इदम्**) यह शरीर (**यमस्य**) जीवात्मा का (**सादनम्**) सदन है, राजमहल है, (**यत्**) जो (**देवमानम्**) देवनिर्मित (**उच्यते**) कहा जाता है। (**इयम्**) यह (**अस्य**) इसकी (**धम्यते**[1]) चल रही है (**नाडीः**) नाड़ी। (**अयम्**) यह (**गीर्भिः**) वाणियों से (**परिष्कृतः**) परिष्कृत है।

ऐतरेय उपनिषद् में एक कथानक है। परमात्मा ने जब अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा, ओषधि, वनस्पति, चन्द्रमा आदि को बनाया, तब वे बोले—'हमारे रहने के लिए घर दो, जिसमें रहकर हम भोग भोगें।' परमात्मा उनके सम्मुख गाय का शरीर लाया। वे बोले—यह हमें पसन्द नहीं है। फिर घोड़े का शरीर लाया। उसे भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया। फिर मनुष्य का शरीर लाया। उसे देखकर वे उछल पड़े—यह तो बहुत अच्छा है! सब उस शरीर में अपने-अपने योग्य स्थान चुनकर प्रविष्ट हो गए। अग्नि वाणी बनकर मुख में, वायु प्राण बनकर नासिका में, आदित्य चक्षु होकर अक्षि-गोलकों में, दिशाएँ कान बनकर श्रोत्र-गोलकों में, ओषधि-वनस्पतियाँ रोम बनकर त्वचा में, चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हुए।[2]

इस कथा से मनुष्य-शरीर की उत्कृष्टता सूचित होती है। सचमुच मानव-शरीर बड़ा ही अद्भुत है। यह 'यम' नामक जीवात्मारूप राजा का राजमहल है। जीवात्मा 'यम' इस कारण कहलाता है, क्योंकि वह शरीर के सब अङ्गोपाङ्गों को नियन्त्रित करनेवाला है।[3] यह राजप्रसाद देव-निर्मित है, परमेश्वर-रूप शिल्पी के द्वारा रचा गया है। अथर्ववेद के केन-सूक्त[4] में शरीर के एक-एक अवयव को गिनाकर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा गया है कि इसे किस अनोखे कारीगर ने बनाया है? किसने शरीर में मांस भरा, किसने अङ्गुलियाँ बनाईं, किसने पैरों की एड़ियाँ रचीं, किसने गिट्टे बनाए? किसने गर्दन रची, किसने स्तन बनाए, किसने कन्धे लगाए? किसने कान, नाक, आँख एवं मुख के द्वार बनाए? किसने जीभ लगाई, किसने मस्तिष्क रचा, किसने नाड़ियों में रुधिर बहाया? यह सब इसी विलक्षण कारीगर परमेश्वर की लीला है।

यह देखो, इस शरीर की नाड़ी चल रही है, जो हृदय द्वारा रक्त को धमनियों में फेंके जाने की सूचना देती है। और देखो, यह वाणियों से परिष्कृत है। मनुष्य का व्यक्तवाक् होना इसकी एक निराली विशेषता है। इस व्यक्त वाणी से गुरु शिष्य को ज्ञान देता है। इसी व्यक्त वाणी से मनुष्य अपने हृदय के उद्गार प्रकट करता है। इसी व्यक्त वाणी से कोई व्याख्याता करोड़ों को अपने पीछे लगा लेता है।

हे मेरे आत्मा! तुझे यह अद्भुत महल निवास के लिए मिला है। इसे पाकर तू संसार में आगे बढ़, अपने लक्ष्य को प्राप्त करके सफल हो। तू यश से अमर हो जाएगा।

---

१. धमति गत्यर्थक, निघं० २.१४। 'धम्यते' धम धातु का दिवादिगणी वैदिक रूप है।
२. ऐत० उप० अध्याय १, खण्ड २।
३. यम उपरमे, भ्वादिः। यमो यच्छतीति सतः, निरु० १०.१२।
४. अथर्व० काण्ड १०, सूक्त २।

१९६. ऊपर उठ, नीचे झुक

उत्ते शुष्मा जिहतामुत्ते अर्चिरुत्ते अग्ने शशमानस्य वाजाः।
उच्छ्वञ्चस्व नि नम वर्धमान आ त्वाद्य विश्वे वसवः सदन्तु॥

—ऋ० १०.१४२.६

ऋषिः—सारिसृक्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥

(**उत् जिहताम्**[1]) ऊपर उठें (**ते**) तेरे (**शुष्माः**) बल। (**उत्**) ऊपर उठे (**ते**) तेरी (**अर्चिः**) दीप्ति। (**उत्**) ऊपर उठें (**शशमानस्य**[2] **ते**) तुझ उछलने-कूदनेवाले के (**अग्ने**) हे अग्नि, हे अग्रगन्ता मानव! (**वाजाः**) वेग। (**उच्छ्वञ्चस्व**[3]) ऊर्ध्वगति कर, (**नि नम**) नीचे झुक (**वर्धमानः**) बढ़ता हुआ। (**आ सदन्तु**) आकर बैठें (**त्वा**) तेरे पास (**अद्य**) आज (**विश्वे**) सब (**वसवः**) बसानेवाले सद्गुण।

मन्त्र का देवता अग्नि है। अग्नि की अन्योक्ति से मनुष्य को ही कहा जा रहा है। मनुष्य बुद्धिजीवी होने के कारण आगे बढ़ने की प्रवृत्ति रखता है। उसे उद्बोधन दिया जा रहा है—हे मानव! तू उदासीन होकर मत बैठा रह। संसार में आया है तो कुछ कर दिखा। निर्बल मत बन, उत्साहहीन मत हो। स्वयं को शक्तिहीन प्रकट करेगा तो आसुरी वृत्तियाँ तुझे आ दबोचेंगी, तू दानवों के पञ्जे में पड़ जाएगा। तेरे बल ऊपर उठें। संसार जाने कि तू बलवान् है, तेरे अन्दर कुछ कर सकने की शक्ति है, दैत्यों के साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करके तू देवताओं का साम्राज्य जगत् में ला सकता है। तेरा तेज ऊपर उठे। विश्व जान जाए कि तू तेजस्वी है, आग की ज्वाला है, बुझा हुआ अंगारा नहीं है। तू 'शशमान' है, उछलने-कूदनेवाला है, निर्जीव पत्थर नहीं है। पत्थर को भी कठोर शिला पर मारें तो वह उछलता है, बिजली-सी चिनगारी पैदा करता है। फिर तेरा तो स्वभाव ही उछल-कूदकर आगे पहुँच जाने का है। तुझ 'शशमान' के, तुझ प्रगतिशील के वेग आगे बढ़ें। वायु के वेग को, विद्युत् के वेग को, मन के वेग को अपने वेग से मात करता चल।

हे मानव! ऊर्ध्वगति कर, ऊर्ध्वयात्री बन। अग्निज्वाला को देख! उसे जितने बल से नीचे करते हैं, उससे भी अधिक बल से वह ऊपर उठती है। तू आज जिस स्तर पर खड़ा है, कल तुझे उससे ऊपर उठा होना चाहिए। इस प्रकार निरन्तर उच्च से उच्च भूमिका पर पहुँचता हुआ तू अपना लक्ष्य हासिल कर ले। परन्तु साथ ही नीचे झुकना भी सीख। जो अकड़कर खड़े होते हैं, वे एक दिन गिर जाते हैं। जो वृक्षों की तरह आवश्यकता पड़ने पर झुक जाते हैं, वे अपना माथा ऊँचा रखते हैं। अपने से बड़ों के सम्मुख शीश झुका। गुरु-चरणों में शिर नँवा। संन्यासियों का आशीष पाने के लिए नम्र हो जा। माताओं का वरदान लेने के लिए उनकी चरण-रज को हाथ लगा। इनके आशीर्वाद, इनके सद्भाव, इनके सदुपदेश तुझे गिरने नहीं देंगे, तू निरन्तर बढ़ता चलेगा। प्रभु करे, तेरे अन्दर बसानेवाले बड़े-से-बड़े सद्गुण स्थिर हों!

---

१. उत्-ओहाङ् (हा) गतौ, जुहोत्यादिः।
२. शश प्लुतगतौ, भ्वादिः।
३. उत्-श्वचि गतौ, भ्वादिः।

१९७. राष्ट्र में विद्वान् पैदा करो

त्वामु जातवेदसं विश्ववारं गृणे धिया।
अग्ने देवाँ आ वह नः प्रियव्रतान् मृळीकाय प्रियव्रतान्॥

—ऋ० १०.१५०.३

ऋषिः—मृळीकः वासिष्ठः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—बृहती॥

(त्वाम् उ) तुझ **(जातवेदसम्**[१]**)** उत्पन्न ज्ञानवाले, **(विश्ववारम्**[२]**)** सब प्रजाजनों द्वारा चुने गए राजा को **(धिया)** प्रज्ञा और कर्म के साथ **(गृणे**[३]**)** मैं कहता हूँ कि **(अग्ने)** हे अग्रणी राजन्! आप **(प्रियव्रतान्)** व्रत-प्रिय[४] **(देवान्)** विद्वान् **(नः आ वह)** हमें प्राप्त कराओ। **(मृडीकाय**[५]**)** सुख के लिए **(प्रियव्रतान्)** कर्मप्रिय[६] विद्वान् [हमें प्राप्त कराओ]।

राष्ट्र में राजा का कर्त्तव्य है कि जैसे वह प्रजाहित के लिए अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों का संचालन करता है, वैसे ही शिक्षा का संचालन भी करे। राजा 'जातवेदाः' होता है, अर्थात् उसने स्वयं ब्रह्मचर्याश्रम में गुरुमुख से राजनीतिशास्त्र का तथा अन्य विविध विद्याओं का अध्ययन कर रखा होता है। वह 'विश्ववार' होता है, अर्थात् उसकी योग्यता देखकर प्रजाओं ने अपना मत प्रदान करके उसे सर्वसम्मति या बहुसम्मति से निर्वाचित किया होता है। वह अपने मन्त्री-मण्डल की सहायता से राष्ट्रोन्नति के अनेक कार्य करता है। प्रस्तुत मन्त्र में राजा को कहा गया है कि आप राष्ट्र में विद्वान् उत्पन्न करो। राजा वेदोक्त धर्म के प्रचारार्थ धर्मसभा, विद्या के प्रचारार्थ विद्यासभा तथा अन्य राजकार्यों के अर्थ राजसभा गठित करके राष्ट्र में चतुर्दिक् विकास का प्रयत्न करता है। राष्ट्र में विद्वान् पैदा करने का कार्य यद्यपि आचार्यों का होता है, तथापि वेद राजा को यह कार्य करने के लिए कह रहा है। इसका आशय यह है कि राजा राष्ट्र में शिक्षा का प्रबन्ध अपने हाथ में ले। राजकीय सहायता द्वारा बड़ी संख्या में राष्ट्र में शिक्षणालय या गुरुकुल खोले जाएँ। बड़े-बड़े विश्वविद्यालय राज्य के कोष से चलाए जाएँ, जिनमें साङ्गोपाङ्ग विविध विद्याओं का अध्यापन सुयोग्य आचार्य करते हों, जहाँ सहस्रों विद्यार्थी शिक्षालाभ करते हों। पर्याप्त अंशों में शिक्षा निःशुल्क हो। यह राजनियम हो कि पाँच वर्ष के बालक-बालिकाओं को उनके माता-पिता अनिवार्यरूप से शिक्षणालयों में भेजें।

हमारे राष्ट्र के विद्वान् 'प्रियव्रत' हों। व्रत का अर्थ व्रतग्रहण भी होता है और कर्म भी। वे उच्च-से-उच्च व्रतों में दीक्षित हों, साथ ही वे कर्मनिष्ठ भी हों। जिस देश के विद्वान् व्रतनिष्ठ और कर्मनिष्ठ होते हैं, वह देश निरन्तर ज्ञान-विज्ञान में प्रभूत उन्नति करके सदा आगे-ही-आगे बढ़ता जाता है और सदा सुखी रहता है।

---

१. जातं वेदो ज्ञानं यस्य तम्।
२. विश्वैः प्रजाजनैः वरणीयं वृतं वा।
३. गृ शब्दे, क्रयादिः।
४. प्रियाणि व्रतानि सत्याहिंसातपस्यादीनि येषां ते प्रियव्रताः।
५. मृड सुखने, औणादिक कीकन् प्रत्यय। मृडः कीकन्-कङ्कणौ, उ० ४.२५।
६. प्रियाणि व्रतानि कर्माणि येषां ते प्रियव्रताः कर्मठाः। व्रत=कर्म। निघं० २.१

१९८. इन्द्र को सोमरस का अर्पण

य उ॒श॒ता मन॑सा॒ सोम॑मस्मै सर्व॒हृ॒दा दे॒वका॑मः सु॒नोति॑।
न गा इन्द्र॒स्तस्य॒ परा॑ ददाति प्रश॒स्तमिच्चारु॑मस्मै कृणोति॥

—ऋ० १०.१६०.३

ऋषिः—पूरणः वैश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

(**यः**) जो मनुष्य (**उशता**[१]) प्रीतियुक्त (**मनसा**) मन से (**सोमम्**) सोमरस (**अस्मै**) इस इन्द्र के लिए (**सर्वहृदा**) सम्पूर्ण हृदय से (**देवकामः**) दिव्य गुणों का इच्छुक होकर (**सुनोति**) अभिषुत करता है, समर्पित करता है, (**तस्य**) उसकी (**गाः**[२]) गौओं को, अर्थात् अन्तःप्रकाश की किरणों को (**इन्द्रः**) इन्द्र (**न**) नहीं (**पराददाति**) छीनता है, अपितु (**प्रशस्तम् इत्**) प्रशस्त ही (**चारुम्**) सुन्दर जीवन (**अस्मै**) इसे (**कृणोति**) प्रदान करता है।

क्या तुमने कभी सोचा है कि वेद में इन्द्र को सोमरस प्रदान करने का अत्यधिक महत्त्व क्यों है? इन्द्र यदि निराकार परमेश्वर का नाम है और सोमरस यदि सोमनामक किसी बूटी का रस है, तो परमेश्वर मुख, जीभ, गले, पेट आदि के बिना उस रस को भला कैसे पी लेगा? दूसरे, यदि उस सोम बूटी के रस का ही वह इच्छुक है, तो सर्वशक्तिमान् वह क्या इतना पराश्रित है कि स्वयं उस रस को प्राप्त नहीं कर सकता है? और यदि सोम का अर्थ भक्तिरस है, तो परमेश्वर उस भक्तिरस का भी इतना प्यासा क्यों रहता है? कोई उसे भक्तिरस अर्पित करे या न करे, इसमें उसका क्या बनता या बिगड़ता है? इसका उत्तर यह है कि भक्तिरस का इच्छुक वह भक्त के कल्याण के लिए होता है, जैसे पिता पुत्र से जब यह चाहता है कि वह मुझे नमन करे या मेरे प्रति श्रद्धा एवं आदर के भाव रखे, तो उसकी यह इच्छा पुत्र के कल्याण के लिए होती है। किन्तु भक्तिरस क्या है, यह भी जान लेना आवश्यक है। प्रभु-भजन के साथ ध्यान का प्रभु में केन्द्रीकरण, हृदय में सचाई, श्रद्धा, दृढ़ विश्वास, सत्कर्म के प्रति अनुराग, कर्त्तव्यनिष्ठा, जन-सौहार्द, विनम्रता, प्रीति, सद्भाव, दयालुता, परदुःखकातरता, वीरता, धीरता, जितेन्द्रियता आदि दिव्य गुणों का होना भी आवश्यक है। इन्द्र प्रभु भक्तिरस का पान करते समय भक्त में इन गुणों को देखकर प्रसन्न होते हैं और इनके विकास के लिए उसे उत्साहित करते हैं, उसमें उमङ्ग पैदा करते हैं। इन्द्र प्रभु को सच्चा भक्तिरस पिलानेवाला मानव सम्राट् से भी बड़ा होता है। भगवद्भक्त के चरणों में संसार सिर नँवाता है।

जब हमारा भक्तिरस प्रभु-प्रेम में मग्न सम्पूर्ण हृदय के साथ निकलता है, तब प्रभु भी सम्पूर्ण हृदय से उसका प्रत्युत्तर देते हैं। प्रभु और भक्त को जोड़नेवाली वस्तु हैं गौएँ, अर्थात् प्रकाश की किरणें। प्रभु से मिलनेवाली प्रकाश-रश्मियों की धारा सोमरस प्रवाहित करनेवाले भक्त को सदा मिलती रहती है, कभी विच्छिन्न नहीं होती। प्रभु अपने भक्त के जीवन को प्रशस्त और चारु बना देते हैं।

आओ, हम भी प्रभु को भक्तिरूप सोमरस का पान कराएँ, 'देवकाम' होकर, प्रेमविभोर मन से, सम्पूर्ण हृदय से पान कराएँ।

---

१. वश कान्तौ, कान्तिः इच्छा प्रीतिः। शतृ प्रत्यय।
२. गौ=रश्मि, निघं० १.५, सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते। निरु० २.१०

१९९. ज्योतियों का ज्योति सूर्य

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं विश्वजिद् धनजिदुच्यते बृहत्।
विश्वभ्राड् भ्राजो महि सूर्यो दृश उरु पप्रथे सह ओजो अच्युतम्॥

—ऋ० १०.१७०.३

ऋषिः—विभ्राट् सौर्यः॥ देवता—सूर्यः॥ छन्दः—जगती॥

(**इदम्**) यह (**श्रेष्ठम्**) श्रेष्ठ, (**ज्योतिषाम् उत्तमं ज्योतिः**) ज्योतियों में उत्तम ज्योति, (**विश्वजित्**) सर्वजयी, (**धनजित्**) धनजयी सूर्य (**बृहत् उच्यते**) बहुत अधिक प्रशंसित किया जाता है। (**विश्वभ्राट्**) सबको चमकानेवाले, (**भ्राजः**) चमकीले (**महि**) महान् (**सूर्यः**) सूर्य ने (**दृशे**) देखने के लिए (**उरु**) विस्तीर्ण, (**सहः**) पराभवकारी, (**अच्युतम्**) अडिग (**ओजः**) तेज को (**पप्रथे**) फैला दिया है।

देखो, गगन में सूर्य चमका है। यह तेज का गोला सूर्य कैसी निराली आभा से सर्वश्रेष्ठ ज्योति के रूप में भासित हुआ है! हमारे सौर परिवार के जो बुध, शुक्र, पृथिवी, मंगल, बृहस्पति, शनि, यूरेनस, नेपचून और प्लूटो नामक चमकीले नव ग्रह हैं और इनके लगभग साठ भासमान उपग्रह हैं, वे सब सूर्य की ही चमक से चमकते हैं। अतः यह सूर्य हमारे सौरमण्डल की सब ज्योतियों में उत्तम ज्योति है। यह सूर्य सर्वजयी है, सारे सौर परिवार का विजेता है, सर्वप्रमुख है। यह धनजयी भी है। सूर्य में लगभग सत्तर तत्त्व खोजे गए हैं, जिनमें हाइड्रोजन के बाद हीलियम सर्वाधिक मात्रा में विद्यमान है। ये तत्त्व सूर्य के धन हैं। इसके अतिरिक्त असीम प्रकाश भी सूर्य का विशेष धन है। वस्तुतः पृथिवी आदि के सब धन भी सूर्य के ही धन हैं, क्योंकि सूर्य इनकी उत्पत्ति में कारण होता है। सूर्य परिमाण में महान् भी है। यह हमारी पृथिवी से लगभग तेरह लाख गुणा बड़ा और तीन लाख तीस हजार गुणा भारी है। सबको चमकानेवाले इस चमकीले सूर्य ने हमारे देखने-भालने के लिए अपना विस्तीर्ण और अप्रच्युत तेज चारों ओर फैला दिया है। हम मुग्ध हैं इस अद्भुत ज्योति पर!

भाइयो! यह तो भौतिक सूर्य की चर्चा हुई। इसके अतिरिक्त एक आध्यात्मिक सूर्य भी है, जिसके सम्मुख यह भौतिक सूर्य भी ज्योति का भिखारी बनता है। केनोपनिषद् में शिष्य ने आचार्य से प्रश्न पूछा है कि वह कौन-सा देव है, जिससे मनरूप ज्योति प्रेरित होती है, जिससे प्राण-ज्योति प्रेरित होती है, जिससे वाग्-ज्योति प्रेरित होती है, जिससे चक्षु तथा श्रोत्र ज्योतियाँ प्रेरित होती हैं? आचार्य ने उत्तर दिया है कि ब्रह्मरूप ज्योति ही है, जो इन सबको प्रेरित करती है। ब्रह्म इन ज्योतियों की भी ज्योति है। आत्मारूप ज्योति को भी उसी से प्रकाश मिलता है। चन्द्र, सूर्य आदि बाह्य ज्योतियों को भी वही प्रकाश देता है।

देखो, यह शारीरिक तथा बाह्य सब ज्योतियों की ज्योति परब्रह्म आत्मारूप-गगन में उद्भासित हुआ है। यह विश्वजित् ज्योति है, यह धनजित् ज्योति है। आत्मा में प्रकट होकर इस परम ज्योति परब्रह्म ने अपने दिव्य प्रकाश को चारों ओर फैला दिया है। इसके उदित होने से हमें कर्त्तव्य-पथ दिखाई देने लगा है, हमें विवेक और अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो गए हैं।

हे विश्वभ्राट् परब्रह्म! तुम ही हमारे वास्तविक सूर्य हो! हमें अपनी दिव्य-ज्योति से ज्योतिष्मान् करते रहो, हमें अन्तःप्रकाश प्रदान करते रहो।

२००. पश्चिम में गए सूर्य को फिर पूर्व में कर दो

त्वं त्यमिन्द्र सूर्यं पश्चा सन्तं पुरस्कृधि। देवानां चित् तिरो वशम्॥

—ऋ० १०.१७१.४

ऋषिः–इटः भार्गवः॥ **देवता**–इन्द्रः॥ **छन्दः**–गायत्री॥

(त्वम्) तू **(इन्द्र)** हे इन्द्र! **(त्यं[1] सूर्यम्)** उस सूर्य को **(पश्चा सन्तम्)** पश्चिम में गए हुए को **(पुरः कृधि)** पूर्व में कर दे, **(देवानां चित् तिरः)** जो देवों से भी ओझल हो गया है, किन्तु **(वशम्[2])** जिसका उदित होना हमें अभीष्ट है।

सूर्य पूर्व में उदित होता है, ऊपर चढ़ते-चढ़ते मध्याकाश में पहुँचता है, फिर नीचे उतरता-उतरता पश्चिम के आकाश में पहुँचकर सायंकाल अस्त हो जाता है। अगले दिन पुनः पूर्व दिशा में पहुँच जाता है। यह एक प्राकृतिक घटना है, जो परमेश्वर की व्यवस्थानुसार स्वयं ही होती रहती है। इसके लिए इन्द्र से प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी मन्त्र में प्रार्थना की गई है, अतः इसका कुछ अन्य ही आशय होना चाहिए। यह सूर्य भौतिक सूर्य नहीं, किन्तु ज्ञान-विज्ञान, सदाचार एवं उन्नति का सूर्य है। उस सूर्य के पश्चिम और पूर्व में जाने-आने का अर्थ है अस्त होना और पुनः उदित होना।

अपने ही देश को लें, तो हमारा देश प्राचीनकाल में ज्ञान-विज्ञान में सर्वोन्नत था। दूसरे देशों के लोग हमारे यहाँ ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा लेने आते थे। भौतिक विज्ञान, गणित, खगोल-ज्योतिष, संगीत, राजशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, अध्यात्मविद्या, यज्ञविद्या, धातुविद्या, रत्नविद्या, भूगर्भविद्या, आयुर्वेद, धनुर्वेद आदि सभी विद्याओं में हमारे देश के विद्वान् पारंगत थे। यहाँ के लोगों का चरित्र भी सर्वथा निश्छल था। घरों में ताले नहीं लगते थे। चोरियाँ नहीं होती थीं। लोग वचन के पक्के थे। सबकी धर्म में आस्था थी। सब श्रद्धावान्, आस्तिक और परोपकारी थे। अनजाने में कोई अपराध हो जाने पर उसका प्रायश्चित्त करते थे। अश्वपति कैकेय जैसे राजा यहाँ थे, जो पूर्ण विश्वास के साथ कह सकते थे कि 'मेरे राज्य में कोई चोर नहीं, कोई कञ्जूस नहीं, कोई शराबी नहीं, कोई अग्निहोत्र न करनेवाला नहीं, कोई अविद्वान् नहीं, कोई व्यभिचारी-व्यभिचारिणी नहीं'[3] किन्तु वह ज्ञान-विज्ञान, सदाचार और उन्नति का सूर्य पूर्व से पश्चिम में चला गया, अस्त हो गया, विद्वानों से भी ओझल हो गया। हम पराधीन हो गए। 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' की कहावत चरितार्थ होने लगी। हमारे सच्चे दिल से निकली प्रार्थनाओं से, अनवरत प्रयासों से, बलिदानों से फिर पश्चिम में गया सूर्य पूर्व में उदित हो रहा है। उषा की लाली पूर्वाकाश में दिखाई दे चली है।

हे इन्द्र प्रभु! लुप्त हुए कमनीय सूर्य को पुनः-पुनः उदित करते रहो; अन्धकार को प्रताड़ित करते रहो; हमें सर्वोन्नत करते रहो।

---

१. त्यं=तम्। तद्-वाचक त्यद् शब्द। स्यः-त्यौ-त्ये, त्यं-त्यौ-त्यान्।

२. वशम् इष्टम्। वश कान्तौ, अदादिः। कान्तिः इच्छा।

३. न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नानाहिताग्निर्नाऽविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥ —छा० उप० ५.११.५

मन्त्रानुक्रमणिका

देवतानुक्रमणी

[साथ में दिये अंक पुस्तक की मन्त्रसंख्या हैं]